संत साहित्य

अतीत के गर्भ से

(Sant Sahitya: From the Womb of the Past)

विधान सिंह

संत साहित्य : अतीत के गर्भ से

संत साहित्य : अतीत के गर्भ से

(Sant Sahitya: From the Womb of the Past)

विधान सिंह

भाषा प्रकाशन
नई दिल्ली - 110002

© प्रकाशक

I.S.B.N. : 978-81-323-6304-0

प्रथम संस्करण : 2022

भाषा प्रकाशन

22, प्रकाशदीप बिल्डिंग, अंसारी रोड,
दरियागंज, नई दिल्ली - 110002

द्वारा वर्ल्ड टेक्नोलॉजीज नई दिल्ली के सहयोग से प्रकाशित

प्रस्तावना

संत साहित्य का अर्थ है—वह धार्मिक साहित्य जो निर्गुणीए भक्तों द्वारा रचा जाए। यह आवश्यक नहीं कि सन्त उसे ही कहा जाए जो निर्गुण उपासक हो। इसके अंतर्गत लोकमंगलविधायी सभी सगुण-निर्गुण आ जाते हैं, किंतु आधुनिक ने निर्गुणिए भक्तों को ही 'संत' की अभिधा दे दी और अब यह शब्द उसी वर्ग में चल पड़ा है।

साहित्य मनुष्य की भावनात्मक उपज है। वह समाज में जो भी अच्छा-बुरा, पाप-पुण्य आदि देखता है, महसूस करता है, साहित्य उन्हीं मानसिक संवेदनाओं का लिखित रूप है। मनुष्य जब अपने अनुभवों व अध्ययन को कागज या अन्य किसी माध्यम पर उतार देता है तब वह साहित्य बन जाता है।

एक प्रचलित कहावत है कि कलम की ताकत तलवार से भी अधिक होती है। यह एक सार्वभौमिक सत्य है। साहित्य की शक्ति असीमित है। साहित्य में वह शक्ति है, जो इसमें निहित विचारधारा के माध्यम से क्रांति उत्पन्न कर सकती है, सोए हुए जनमानस को झकझोर सकती है।

उनमें एक ऐसी जान फूँक सकती है, जो समस्त वातावरण व परिस्थितियों के मूल को परिवर्तित करने की क्षमता रखती है। साहित्य नैराश्य के भँवर में डूबे व्यक्ति को उबारकर उसमें अदम्य साहस व नया जोश भर सकता है। साहित्य में युग-परिवर्तन की क्षमता निहित है।

पराधीन भारत के साहित्यकारों ने अपनी ओजपूर्ण कविताओं से महात्मा गाँधी के नेतृत्व में चल रहे स्वतंत्रता आंदोलन में एक नवीन चेतना का संचार किया था। कवयित्री सुभद्रा कुमारी चौहान ने महारानी लक्ष्मीबाई के महान् कारनामों के आधार पर जिस कविता की रचना की वह आधुनिक भारत के इतिहास में मील का पत्थर बन गई है।

पुस्तक लेखन में कई लिखित व अलिखित स्रोतों से मदद ली गई है; मैं उन सभी विज्ञ लेखकों के प्रति अपना आभार प्रकट करता हूँ। आशा करता हूँ कि पुस्तक पाठकों के लिए उपयोगी सिद्ध होगी।

–लेखक

अनुक्रम

	प्रस्तावना	*v*
1.	**विषय बोध**	**1**
	साहित्य	4
	संत काव्य धारा की प्रमुख प्रवृत्तियां	9
	भक्तिकालीन हिंदी साहित्य परंपरा	17
2.	**आदि शंकराचार्य**	**20**
	जन्म	22
	सत्ताएँ	27
3.	**चैतन्य महाप्रभु**	**31**
	जन्म तथा प्रारंभिक जीवन	31
	कृष्ण के प्रति निष्ठा	32
	अचिन्त्य भेदाभेदवाद का तुलनात्मक विश्लेषण	38
	हरिनाम संकीर्तन	42
4.	**रामानन्द**	**47**
	श्री रामानंदाचार्य : कबीर तथा तुलसी के प्रेरक	50
5.	**श्री जीव गोस्वामी**	**57**
	जन्म	58
	जीव और अकबर बादशाह	67

जीव और माँ जाह्नवा 68
5. निम्बार्काचार्य 79
जीवन परिचय 79
द्वैताद्वैतवाद मत 80
निम्बार्काचार्य का भक्तिपरक मत 86
6. आलवार 90
7. गुरु नानक 93
आरंभिक जीवन 93
8. स्वामी हरिदासजी 101
हरिदासजी का जीवन वृत्त 101
वृन्दावन प्रस्थान 101
सखी-सम्प्रदाय 102
9. रामानुजाचार्य 112
जीवन परिचय 112
रामानुज की रचनाएँ 114
10. संत एकनाथ 124
जन्म परिचय 124
उनका चमत्कारिक जीवन 125
11. समर्थ रामदास 127
जीवन चरित 127
रामदास जी का बालपन 128
12. सूरदास 133
ऐतिहासिक उल्लेख 133
विवेकशील और चिन्तनशील व्यक्तित्त्व 139
13. मीराबाई 146
जीवनी 146
14. तुकाराम 150
प्रारंभिक जीवन 150
15. कबीर 158
जीवन परिचय 158
सिद्धपीठ कबीरचौरा मठ मुलगड़ी और उसकी परंपरा 160

कबीर दास: एक हिन्दू या मुस्लिम 164
16. परमानंद दास 168
परिचय 168
कवि और कीर्तनकार 169
17. रसखान 172
जीवन परिचय 172
जन्म स्थान 173
नाम एवं उपनाम 173
बाल्यकाल तथा शिक्षा 174
18. गोविंदस्वामी 183
परिचय 183
दीक्षा तथा गोवर्धन निवास 183
ब्रज महिमा का बखान 184
अष्टछाप के कवि 184
19. नंददास 187
परिचय 187
वृन्दावन आगमन 188
दीक्षा 188
20. कुम्भनदास 192
परिचय 192
मधुर-भाव की भक्ति 194
21. कंबन 195
जीवन परिचय 195
कंबरामायण 196
सर्वोत्कृष्ट कृति 196
22. दादूदयाल 199
परिचय 199
23. गोस्वामी तुलसीदास 210
जीवन परिचय 210
तुलसीदास 211
शिष्य परम्परा 211

गोस्वामी तुलसीदास की भाषा 217
24. बाबा बुल्ले शाह 220
परिचय 220
धार्मिक प्रवत्ति 221
25. सतगुरु रविदास 225
जीवन 225
स्वभाव 226
26. नामदेव 230
नामदेव का कालनिर्णय 231
जीवनचरित्र 232
नामदेव के मत 233

1

विषय बोध

संत साहित्य का अर्थ है–वह धार्मिक साहित्य जो निर्गुणीए भक्तों द्वारा रचा जाए। यह आवश्यक नहीं कि सन्त उसे ही कहा जाए जो निर्गुण उपासक हो। इसके अंतर्गत लोकमंगलविधायी सभी सगुण-निर्गुण आ जाते हैं, किंतु आधुनिक ने निर्गुणिए भक्तों को ही 'संत' की अभिधा दे दी और अब यह शब्द उसी वर्ग में चल पड़ा है।

'संत' शब्द संस्कृत 'सत्' के प्रथमा का बहुवचनान्त रूप है, जिसका अर्थ होता है सज्जन और धार्मिक व्यक्ति। हिन्दी में साधु/सुधारक के लिए यह शब्द व्यवहार में आया। कबीर, रविदास, सूरदास, गोस्वामी तुलसीदास आदि पुराने भक्तों ने इस शब्द का व्यवहार साधु और परोपकारी, पुरुष के अर्थ में बहुलांशः किया है और उसके लक्षण भी दिए हैं।

लोकोपकारी संत के लिए यह आवश्यक नहीं कि यह शास्त्रज्ञ तथा भाषाविद् हो। उसका लोकहितकर कार्य ही उसके संतत्त्व का मानदंड होता है। हिंदी साहित्यकारों में जो 'निर्गुणिए संत' हुए उनमें अधिकांश अनपढ़, किंवा, अल्पशिक्षित ही थे। शास्त्रीय ज्ञान का आधार न होने के कारण ऐसे लोग अपने अनुभव की ही बातें कहने को बाध्य थे। अतः इनके सीमित अनुभव में बहुत सी ऐसी बातें हो सकती हैं, जो शास्त्रों के प्रतिकूल ठहरें। अल्पशिक्षित होने के कारण इन संतों ने विषय को ही महत्त्व दिया है, भाषा को नहीं। इनकी भाषा प्रायः अनगढ़ और पंचरंगी हो गई है। काव्य में भावों की प्रधानता को यदि महत्त्व दिया

जाए तो सच्ची और खरी अनुभूतियों की सहज एवं साधारणोकृत अभिव्यक्ति के कारण इन संतों में कई की बहुवेरी

रचनाएँ उत्तम कोटि के काव्य में स्थान पाने की अधिकारिणी मानी जा सकती है। परंपरापोषित प्रत्येक दान का आँख मूँदकर वे समर्थन नहीं करते। इनके चिंतन का आकार सर्वमानववाद है। ये मानव मानव में किसी प्रकार का अंतर नहीं मानते। इनका कहना है कि कोई भी व्यक्ति अपने कुलविशेष के कारण किसी प्रकार वैशिष्ट्य लिए हुए उत्पन्न नहीं होता। इनकी दृष्टि में वैशिष्ट्य दो बातों को लेकर मानना चाहिए–अभिमानत्यागपूर्वक परोपकार या लोकसेवा तथा ईश्वरभक्ति। इस प्रकार स्वतंत्र चिंतन के क्षेत्र में इन संतों ने एक प्रकार की वैचारिक क्रांति को जन्म दिया।

इतिहास

निर्गुणिए संतों की वाणी मानवकल्याण की दृष्टि से जिस प्रकार के धार्मिक विचारों एवं अनुभूतियों का प्रकाशन करती हैं वैसे विचारों एवं अनुभतियों को पुरानी हिंदी में बहुत पहले से स्थान मिलने लगा था। विक्रम की नवीं शताब्दी में बौद्ध सिद्धों ने जो रचनाएँ प्रस्तुत कीं उनमें वज्रयान तथा सहजयान संबंधी सांप्रदायिक विचारों एवं साधनाओं के उपन्यसन के साथ-साथ अन्य संप्रदाय के विचारों का प्रत्याख्यान बराबर मिलता है। उसके अनंतर नाथपंथी योगियों तथा जैन मुनियों की जो बानियाँ मिलती हैं, उनमें भी यही भावना काम करती दिखाई पड़ती है। बौद्धों में परमात्मा या ईश्वर को स्थान प्राप्त न था, नाथपंथियों ने अपने वचनों में ईश्वरत्व की प्रतिष्ठा की। इन सभी रचनाओं में नीति को प्रमुख स्थान प्राप्त है। ये जगह-जगह लोक को उपदेश देते हुए दिखाई पड़ते हैं। पुरानी हिंदी के बाद जब हिंदी का विकास हुआ तब उसपर भी पूर्ववर्ती साहित्य का प्रभाव अनिवार्यत: पड़ा। इसीलिए हिंदी के आदिकाल में दोहों में जो रचनाएँ मिलती हैं उनमें से अधिकांश उपदेशपरक एवं नीतिपरक हैं। उन दोहों में कतिपय ऐसे भी हैं जिनमें काव्य की आत्मा झलकती-सी दिखाई पड़ जाती है। किंतु इतने से ही उसे काव्य नहीं कहा जा सकता।

पंद्रहवी शती विक्रमी के उत्तरार्ध से संतपरंपरा का उद्‌भव मानना चाहिए। इन संतों की बानियों में विचारस्वातंत्र्य का स्वर प्रमुख रहा वैष्णव धर्म के प्रधान आचार्य रामानुज, निंवार्क तथा मध्व विक्रम की बारहवीं एवं तेरहवीं शती में हुए। इनके माध्यम से भक्ति की एक वेगवती धारा का उद्‌भव हुआ। इन आचार्यों ने

प्रस्थानत्रयी पर जो भाष्य प्रस्तुत किए, भक्ति के विकास में उनका प्रमुख योग है। गोरखनाथ से चमत्कारप्रधान योगमार्ग के प्रचार से भक्ति के मार्ग में कुछ बाधा अवश्य उपस्थित हुई थी, जिसकी ओर गोस्वामी तुलसीदास ने संकेत भी किया है–

गोरख जगायो जोग भगति भगायो लोग।

तथापि वह उत्तरोत्तर विकसित होती गई। उसी के परिणामस्वरूप उत्कल में संत जयदेव, महाराष्ट्र में वारकरी संप्रदाय के प्रसिद्ध संत नामदेव तथा ज्ञानेदव, पश्चिम में संत सधना तथा बेनी और कश्मीर में संत लालदेव का उद्‌भव हुआ। इन संतों के बाद प्रसिद्ध संत रामानंद का प्रादुर्भाव हुआ, जिनकी शिक्षाओं का जनसमाज पर व्यापक प्रभाव पड़ा। यह इतिहाससिद्ध सत्य है कि जब किसी विकसित विचारधारा का प्रवाह अवरुद्ध करके एक दूसरी विचारधारा का समर्थन एवं प्रचार किया जाता है तब उसके सिद्धांतों के युक्तियुक्त खंडन के साथ उसकी कतिपय लोकप्रिय एवं लोकोपयोगी विशेषताओं को आत्मीय भी बना लिया जाता है। जगद्‌गुरु शंकर, राघवानंद, रामानुज, रामानंद आदि सबकी दृष्टि यही रही है। श्रीसंप्रदाय पर नाथपंथ का प्रभाव पड़ चुका था, वह उदारतावादी हो गया था। व्यापक लोकदर्शन के फलस्वरूप स्वामी रामानंद की दृष्टि और भी उदार हो गई थी। इसीलिए उनके प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष शिष्यों में जुलाहे, रैदास, नाई, डोम आदि सभी का समावेश देखा जाता है।

इस काल में जो सत्यभिनिवेशी भक्त या साधु हुए उन्होंने सत् के ग्रहणपूर्वक असत् पर निर्गम प्रहार भी किए। प्राचीन काल के धर्म की जो प्रतीक प्रधान पद्धति चली आ रही थी, सामान्य जनता को, उसका बोध न होने के कारण, कबीर जैसे संतों के व्यंग्यप्रधान प्रत्यक्षपरक वाग्बाण आकर्षक प्रतीत हुए। इन संतों में बहुतों ने अपने सत्कर्तव्य की इतिश्री अपने नाम से एक नया 'पंथ' निकालने में समझी। उनकी सामूहिक मानवतावादी दृष्टि संकीर्णता के घेरे में जा पड़ी। इस प्रकार सोलहवीं शताब्दी से उन्नीसवीं शताब्दी तक नाना पंथ एक के बाद एक अस्तित्त्व में आते गए। सिक्खों के आदि युग नानकदेव ने (सं. 1526–95) नानकपंथ, दादू दयाल ने (1610–1660) दादूपंथ, कबीरदास ने कबीरपंथ, बावरी ने बावरीपंथ, हरिदास (16 वीं शती उत्तरार्ध) ने निरंजनी संप्रदाय और मलूकदास ने मलूकपंथ को जन्म दिया। आगे चलकर बाबालालजी संप्रदाय, धानी संप्रदाय, साथ संप्रदाय, धरनीश्वरी संप्रदाय, दरियादासी संप्रदाय, दरियापंथ, शिवनारायणी संप्रदाय, गरीबपंथ, रामसनेही संप्रदाय आदि नाना प्रकार

के पंथों एवं संप्रदायों के निर्माण का श्रेय उन संतों को है जिन्होंने सत्यदर्शन एवं लोकोपकार का व्रत ले रखा था और बाद में संकीर्णता को गले लगाया। जो संत निर्गुण ब्रह्म की उपासना का उपदेश देते हुए राम, कृष्ण आदि को साधारण मनुष्य के रूप में देखने के आग्रही थे वे स्वयं ही अपने आपको राम, कृष्ण की भाँति पुजाने लगे। संप्रदायपोषकों ने अपने आदि गुरु को ईश्वर या परमात्मा सिद्ध करने के लिए नाना प्रकार की कल्पित आख्यायिकाएँ गढ़ डालीं। यही कारण है कि उन सभी निर्गुणिए संतों के वृत्त अपने पंथ या संप्रदाय की पिटारी में ही बंद होकर रह गए।

इधर साहित्य में जब से शोधकार्य ने बल पाया है तब से साहित्यग्रंथों के कतिपय पृष्ठों में उनकी चर्चा हो जाती है, जनसामान्य से उनका कोई संपर्क नहीं रह गया है। इन संप्रदायों में दो एक संप्रदाय ऐसे भी देख पड़े, जिन्होंने अपने जीवन में भक्ति को गौण किंतु कर्म को प्रधानता दी। सत्तनामी संप्रदायवालों ने मुगल सम्राट् औरंगजेब के विरुद्ध विद्रोह का झंडा ऊपर लहराया था (संवत् 1729 विक्रमी)। नानकपंथ के नवें गुरु श्री गोविंद सिंह ने अपने संप्रदाय को सेना के रूप में परिणत कर दिया था। इसी संतपरंपरा में आगे चलकर राधास्वामी संप्रदाय (19वीं शती) अस्तित्त्व में आया। यह संतपरंपरा राजा राममोहन राय (ब्रह्मसमाज, 1835-90), स्वामी दयानन्द सरस्वती (संवत् 1881-1941 विक्रमी, आर्यसमाज), स्वामी रामतीर्थ (सं. 1930-63), तक चली आई है। महात्मा गांधी को इस परंपरा की अंतिम कड़ी कहा जा सकता है।

साहित्य

जैसा पहले कहा जा चुका है, इन संप्रदायों और पंथों के बहुसंख्यक आदि गुरु अशिक्षित ही थे। अतः वे मौखिक रूप में अपने विचारों और भावों को प्रकट किया करते थे। शिष्यमंडल उन्हें याद कर लिया करता था। आगे चलकर उन्हीं उपदेशात्मक कथनों को शिष्यों द्वारा लिपिबद्ध कर लिया गया और वही उनका धर्मग्रंथ हो गया। इन कथनों एवं वचनों के संग्रह में कहीं-कहीं उत्तम और सामान्य काव्य की बानगी भी मिल जाती है। अतः इन पद्यकार संतों में कतिपय ऐसे संत भी हैं, जो मुख्यतः संत होते हुए भी गौणतः कवि भी इसमें कइयों ने अपनी शास्त्रीय शिक्षा के अभाव को बहुश्रुतता द्वारा दूर करने का प्रयास अवश्य किया है, यह भी दर्शन के क्षेत्र में, साहित्य के क्षेत्र में नहीं। इनमें बहुतों का साहित्य के स्वरूप से परिचय तक नहीं था किंतु उनकी अनुभति की तीव्रता किसी भी

भावुक के चित्त को प्राकृष्ट कर सकती है। ऐसे संतों में कबीर का स्थान प्रमुख है। हिंदू तथा मुस्लिम दोनों की धार्मिक परंपराओं एवं रूढ़िगत कतिपय मान्यताओं पर, बिना दूरदर्शितापूर्वक विचार किए, उन्होंने जो व्यंग्यात्मक प्रहार किए और अपने को सभी ऋषियों मुनियों से आचारवान् एवं सच्चरित्र घोषित किया, उसके प्रभाव से समाज का निम्नवर्ग अप्रभावित न रह सका एवं आधुनिक विदेशी सभ्यता में दीक्षित एवं भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति से परांमुख कतिपय जनों को उसमें सच्ची मानवता का संदेश सुनने को मिला। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने ब्रह्मसमाजी विचारों से मेल खाने के कारण कबीर की बानियों का अंग्रेजी अनुवाद प्रस्तुत किया और उससे आजीवन प्रभावित भी रहे। कबीर की रचना मुख्यतः साखियों और पर्दों में हुई हैं। इनमें उनकी स्वानुभूतियाँ तीव्र रूप में सामाने आई हैं। संतपरंपरा में हिंदी के पहले संतसाहित्यभ्रष्टा जयदेव हैं। ये गीतगोविंदकार जयदेव से भिन्न हैं। सधना, त्रिलोचन, नामदेव, सेन भाई, रैदास, पीपा, धन्ना, नानकदेव, अमरदास, धर्मदास, दादूदयाल, बषना जी, बावरी साहिबा, गरीबदास, सुंदरदास, दरियादास, दरिया साहब, सहजो बाई आदि इस परंपरा के प्रमुख संत हैं।

संतवाणी की विशेषता यही है कि सर्वत्र मानवतावाद का समर्थन करती है।

साहित्य की शक्ति

साहित्य मनुष्य की भावनात्मक उपज है। वह समाज में जो भी अच्छा-बुरा, पाप-पुण्य आदि देखता है, महसूस करता है, साहित्य उन्हीं मानसिक संवेदनाओं का लिखित रूप है। मनुष्य जब अपने अनुभवों व अध्ययन को कागज या अन्य किसी माध्यम पर उतार देता है तब वह साहित्य बन जाता है।

एक प्रचलित कहावत है कि कलम की ताकत तलवार से भी अधिक होती है। यह एक सार्वभौमिक सत्य है। साहित्य की शक्ति असीमित है। साहित्य में वह शक्ति है, जो इसमें निहित विचारधारा के माध्यम से क्रांति उत्पन्न कर सकती है, सोए हुए जनमानस को झकझोर सकती है।

उनमें एक ऐसी जान फूँक सकती है, जो समस्त वातावरण व परिस्थितियों के मूल को परिवर्तित करने की क्षमता रखती है। साहित्य नैराश्य के भँवर में डूबे व्यक्ति को उबारकर उसमें अदम्य साहस व नया जोश भर सकता है। साहित्य में युग-परिवर्तन की क्षमता निहित है।

पराधीन भारत के साहित्यकारों ने अपनी ओजपूर्ण कविताओं से महात्मा गाँधी के नेतृत्व में चल रहे स्वतंत्रता आंदोलन में एक नवीन चेतना का संचार किया था। कवयित्री सुभद्रा कुमारी चौहान ने महारानी लक्ष्मीबाई के महान् कारनामों के आधार पर जिस कविता की रचना की वह आधुनिक भारत के इतिहास में मील का पत्थर बन गई है।

"चमक उठी सन् सत्तावन में जो तलवार पुरानी थी, बुंदेले हरबोलों के मुँह हमने सुनी कहानी थी। खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी।"

इसी तरह उर्दू शायर इकबाल ने भारत को सारे संसार में अद्वितीय बताकर भारतीय जनमानस को उद्वेलित करने में अहम भूमिका निभाई।

"सारे जहाँ से अच्छा हिंदोस्ता हमारा, हम बुलबुले हैं इसकी, ये गुलसिताँ हमारा।"

एक अच्छा साहित्य मनुष्य के सर्वांगीण विकास व उसके चरित्र निर्माण में सहायक है। उत्तम पुस्तकों का चयन कर वह ज्ञान की प्राप्ति करता है तथा महान लेखकों के कथानकों व उनके विचारों से प्रेरणा ले सकता है। इन साहित्यों में विश्व के महापुरुषों के जीवन प्रसंग व अनुभव उपलब्ध होते हैं जिनका अध्ययन कर मनुष्य आत्मचिंतन कर सकता है, जो उसमें निहित क्षमताओं का परिचय कराते हैं।

आत्मचिंतन उसकी कमियों को दूर करने में सहायक है क्योंकि इन्हें दूर किए बिना वह सफलता के शिखर तक नहीं पहुँच सकता है। दूसरे शब्दों में, व्यक्ति की स्वयं की पहचान के लिए साहित्य का अध्ययन-मनन आवश्यक है। साहित्य की सीढ़ी के द्वारा वह आत्मज्ञान की प्राप्ति कर सकता है।

साहित्य का मानव समाज से सीधा संबंध है। दोनों ही एक-दूसरे के पूरक हैं। उत्तम साहित्य जीवन के शाश्वत मूल्यों और जीवन चरित्र के निर्माण हेतु आवश्यक तत्त्वों को समाज को प्रदान करता है। साहित्य समाज में व्याप्त कुरीतियोंय जैसे-अनैतिकता, व्यभिचार, अराजकता आदि को उजागर करता है। वास्तविक रूप में साहित्य समाज का ही प्रतिबिंब है। वह जनमानस के अनुभवों व संवेदनाओं को प्रकट करता है।

साहित्यकार एक कुशल चित्रकार की भाँति समाज के विभिन्न रंगों के माध्यम से उसकी ही तस्वीरें प्रस्तुत करता है अर्थात् साहित्यावलोकन से समाज के विभिन्न रंगों की पहचान की जा सकती है। वर्तमान समय में जबकि बहुत से लोग साहित्य से अपना नाता तोड़ चुके हैं, सामाजिक आराजकता बढ़ी है। इसे

ध्यान में रखकर हमें लोगों की साहित्य के प्रति बढ़ती अरुचि के निराकरण का प्रयास करना चाहिए।

साहित्य और जीवन

साहित्य समाज का दर्पण है। एक साहित्यकार समाज की वास्तविक तस्वीर को सदैव अपने साहित्य में उतारता रहा है। मानव जीवन समाज का ही एक अंग है।

मनुष्य परस्पर मिलकर समाज की रचना करते हैं। इस प्रकार समाज और मानव जीवन का संबंध भी अभिन्न है। समाज और जीवन दोनों ही एक दूसरे के पूरक हैं। आदिकाल के वैदिक ग्रंथों व उपनिषदों से लेकर वर्तमान साहित्य ने मनुष्य जीव न को सदैव ही प्रभावित किया है।

दूसरे शब्दों में, किसी भी काल के साहित्य के अध्ययन से हम तत्कालीन मानव जीवन के रहन-सहन व अन्य गतिविधियों का सहज ही अध्ययन कर सकते हैं या उसके विषय में संपूर्ण जानकारी प्राप्त कर सकते हैं। एक अच्छा साहित्य मानव जीवन के उत्थान व चारित्रिक विकास में सदैव सहायक होता है।

साहित्य से उसका मस्तिष्क तो मजबूत होता ही है साथ-ही-साथ वह उन नैतिक गुणों को भी जीवन में उतार सकता है, जो उसे महानता की ओर ले जाते हैं। यह साहित्य की ही अद्‌भुत व महान शक्ति है जिससे समय-समय पर मनुष्य के जीवन में क्रांतिकारी परिवर्तन देखने को मिलते हैं।

साहित्य ने मनुष्य की विचारधारा को एक नई दिशा प्रदान की है। दूसरे शब्दों में, मनुष्य की विचारधारा परिवर्तित करने के लिए साहित्य का आश्रय लेना पड़ता है। आधुनिक युग के मानव जीवन व उनसे संबंधित दिनचर्या को तो हम स्वयं अनुभव कर सकते हैं परंतु यदि हमें प्राचीन काल के जीवन के बारे में अपनी जिज्ञासा को पूर्ण करना है तो हमें तत्कालीन साहित्य का ही सहारा लेना पड़ता है।

वैदिक काल में भारतीय सभ्यता अत्यंत उन्नत थी। हम अपनी गौरवशाली परंपराओं पर गर्व करते हैं। तत्कालीन साहित्य के माध्यम से हम मानव जीवन संबंधी समस्त जानकारी प्राप्त कर सकते हैं तथा उन जीवन मूल्यों का अध्ययन कर सकते हैं जिन्हें आत्मसात् करके तत्कालीन समाज उन्नत बना।

इस प्रकार जीवन और साहित्य का अटूट संबंध है। साहित्यकार अपने जीवन में जो दु:ख, अवसाद, कटुता, स्नेह, प्रेम, वात्सल्य, दया आदि का अनुभव

करता है उन्हीं अनुभवों को वह साहित्य में उतारता है। इसके अतिरिक्त जो कुछ भी देश में घटित होता है जिस प्रकार का वातावरण उसे देखने को मिलता है उस वातावरण का प्रभाव अवश्य ही उसके साहित्य पर पड़ता है।

यदि हम इतिहास के पृष्ठों को पलट कर देखें तो हम पाते हैं कि साहित्यकार के क्रांतिकारी विचारों ने राजाओं-महाराजाओं को बड़ी-बड़ी विजय दिलवाई है। अनेक ऐसे राजाओं का उल्लेख मिलता है जिन्होंने स्वयं तथा अपनी सेना के मनोबल को उन्नत बनाए रखने के लिए कवियों व साहित्यकारों को विशेष रूप से अपने दरबार में नियुक्त किया था।

मध्यकाल में भूषण जैसे वीररस के कवियों को दरबारी संरक्षण एवं सम्मान प्राप्त था। बिहारीलाल ने अपनी कवित्व-शक्ति से विलासी महाराज को उनके कर्तव्य का भान कराया था। संस्कृत के महान साहित्यकारों कालीदास और बाणभट्ट को अपने राजाओं का संरक्षण प्राप्त था।

"नहिं पराग नहिं मधुर मधु नहिं विकास इहिं काल। अली, कली सी सौं बँध्यो आगैं कौन हवाल।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि जीवन और साहित्य को पृथक् नहीं किया जा सकता। उन्नत साहित्य जीवन को वे नैतिक मूल्य प्रदान करते हैं, जो उसे उत्थान की ओर ले जाते हैं। साहित्य के विकास की कहानी वास्तविक रूप में मानव सभ्यता के विकास की ही गाथा है।

जब हमारा देश अंग्रेजी सत्ता का गुलाम था तब साहित्यकारों की लेखनी की ओजस्विता राष्ट्र के पूर्व गौरव और वर्तमान दुर्दशा पर केंद्रित थी। इस दृष्टि से साहित्य का महत्त्व वर्तमान में भी बना हुआ है। आज के साहित्यकार वर्तमान भारत की समस्याओं को अपनी रचनाओं में पर्याप्त स्थान दे रहे हैं।

संत काव्य परंपरा

निर्गुण काव्यधारा की एक शाखा को संत काव्य धारा कहा जाता है। इस काव्य धारा को ज्ञानाश्रयी काव्यधारा भी कहा जाता है।

अधिकांश विद्वान मानते हैं कि वह व्यक्ति जिसने 'सत' रूपी परमतत्त्व को प्राप्त कर लिया हो, वही संत है।

संत काव्य-परंपरा के प्रमुख कवि हैं—नामदेव, कबीरदास, रैदास, नानक, दादू दयाल, रज्जब दास, मलूक दास, सुंदर दास आदि।

संत काव्य परंपरा का श्रीगणेश महाराष्ट्र के महान संत श्री नामदेव (Namdev) जी ने किया। कबीर दास (Kabirdas) जी संत काव्य के सर्वश्रेष्ठ कवि माने जाते हैं। उनका जन्म 1398 ई. में काशी में हुआ तथा मृत्यु 1518 ईस्वी में मगहर में हुई। ऐसा माना जाता है कि उनका जन्म एक विधवा ब्राह्मणी से हुआ था। लोक-लाज के भय से उसने शिशु को बनारस के लहरतारा तालाब की सीढ़ियों पर छोड़ दिया। नीरू और नीमा नामक जुलाहा दंपत्ति ने उनको पाल पोस कर बड़ा किया। रामानंद जी उनके गुरु थे। उनके कुछ पद 'गुरु ग्रंथ साहिब' में संकलित हैं। उनकी केवल एक प्रामाणिक रचना है–'बीजक' (Bijak) जिसके तीन भाग हैं–साखी, सबद, रमैनी।

रैदास जी भी रामानन्द के शिष्य थे। इनके पद भी 'गुरु ग्रंथ साहब' में संकलित हैं।

गुरु नानक देव जी संत काव्य के एक अन्य प्रमुख कवि हैं। उनकी रचनाएं 'गुरु ग्रंथ साहब' में 'महला' प्रकरण में संकलित हैं। जपुजी, आसा दी वार, सोहेला इनकी प्रमुख रचनाएं हैं। दादू दयाल की प्रमुख रचना 'हरड़े वाणी' है।

रज्जब दास जी की प्रमुख रचना 'बानी' है। मलूक दास जी भी संत काव्य धारा के कवि हैं। इनकी प्रमुख रचनाएं हैं–राम अवतार लीला, ब्रज लीला, ध्रुव चरित।

सुंदरदास की प्रमुख रचना 'सुंदर विलास' है।

संत काव्य धारा की प्रमुख प्रवृत्तियां

भक्ति कालीन साहित्य में निर्गुण संत कवियों का योगदान अप्रतिम है। इन्होंने निर्गुण ईश्वर की भक्ति पर बल दिया। इन कवियों ने सामान्य जन को सर्वाधिक प्रभावित किया। संत काव्य धारा की प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित हैं–

1. निर्गुण निराकार ईश्वर की भक्ति पर बल–सभी संत कवियों ने निर्गुण-निराकार ईश्वर की भक्ति पर बल दिया है। यह कवि प्रायः अवतारवाद व बहुदेववाद का विरोध करते हैं। वे निर्गुण ब्रह्म की उपासना पर बल देते हैं। वह दशरथ पुत्र राम को ईश्वर स्वीकार नहीं करते। उनके राम निर्गुण ब्रह्म हैं। कबीरदास जी लिखते हैं–

"दशरथ सुत तिहुं लोक बखाना
राम नाम का मरम है आना।"

सभी संत कवि कहते हैं कि ईश्वर हमारे मन में निवास करते हैं। उसे मंदिर-मस्जिद व अन्य किसी धार्मिक स्थल पर खोजना व्यर्थ है।

इस विषय में नानक जी कहते हैं– "काहे रे बन खोजन जाई" और कबीरदास जी कहते हैं–"घट माही खोजो"।

स्पष्ट है कि उनका ईश्वर पौराणिक देवी देवताओं से भिन्न है। उसका न रंग है, न रूप है। वह प्रत्येक प्राणी में विद्यमान है।

2. गुरु की महिमा पर बल–सभी संत कवि गुरु के महत्त्व को स्वीकार करते हैं। संत कवि गुरु को ईश्वर से भी ऊंचा स्थान देते हैं। उनका मानना है कि गुरु ही ईश्वर-प्राप्ति का रास्ता दिखाता है। गुरु ही हमें सच्चा ज्ञान देता है और हमारे भ्रम को दूर करता है।

कबीरदास जी ने तो गुरु को ब्रह्म से भी ऊंचा स्थान दिया है य वह कहते हैं–

"गुरु गोविंद दोऊ खड़े काके लागू पाय।
बलिहारी गुरु आपने जिन गोविंद दियो मिलाय।।"

इसी प्रकार अन्य संत कवियों ने भी गुरु की महिमा का वर्णन किया है। उनके अनुसार गुरु ही सच्चा ज्ञान देता है, दुविधा दूर करता है व मन के विकारों को दूर करता है।

3. रूढ़ियों व आडंबरों का विरोध–संत कवियों ने धर्म व समाज के क्षेत्र में फैली रूढ़ियों, आडंबरों व पाखंडों का विरोध किया है। स्वार्थी ब्राह्मणों के कारण हिंदू धर्म में व मौलवियों के कारण मुस्लिम धर्म में बहुत-सी बुराइयां आ गई थी। दोनों धर्मों में आडंबरों व पाखंडों की भरमार थी, ऐसे अवसर पर संत कवियों ने जनता का उद्धार करने का निश्चय किया। इन कवियों ने बिना किसी भेदभाव के दोनों धर्मों की कमियां उजागर की।

हिंदुओं की मूर्ति पूजा के विरोध में कबीर दास जी की लिखते हैं–

"पाहन पूजे हरि मिले तो मैं पूजूं पहार।
तातें तो चाकी भली पीस खाए संसार।।"

इसी प्रकार मुसलमानों की धर्म-रूढ़ि का वर्णन करते हुए कबीरदास जी लिखते हैं–

"कांकर पाथर जोरि के मस्जिद लई बनाय।
ता मुल्ला चढ़ी बांग दे क्या बहरा हुआ खुदाय।।"

संत कवियों ने न केवल पंडितों व पुजारियों को फटकार लगाई बल्कि मुल्लों को भी खरी-खोटी सुनाई। ब्राह्मणों ने व मुस्लिम शासकों ने इन संत कवियों पर अनेक अत्याचार किए लेकिन इन्होंने किसी की परवाह नहीं की।

4. जाति-पाति तथा वर्ण-व्यवस्था का विरोध–सभी संत कवियों ने सामाजिक समानता पर बल दिया। इन्होंने वर्णगत व जातिगत भेदभाव को अस्वीकार किया है।

तत्कालीन हिंदू समाज चार वर्णों में बँटा हुआ था -ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र। संत कवियों ने यह अनुभव किया कि वर्ण व्यवस्था के कारण ही हिंदू समाज में अनेक रूढ़ियां व बुराइयां आई हैं। इसलिए संत कवियों ने जाति-पाति, ऊंच-नीच व छुआछूत का विरोध किया। कबीरदास जी ने यह घोषणा की कि सभी मनुष्य एक ही रक्त से बने हैं। अत: कोई ब्राह्मण व शुद्र नहीं है। कबीर दास जी ने वैष्णव व मुसलमानों दोनों को फटकार लगाई है।

कबीर दास जी ने बड़े सरल शब्दों में कहा है–

"जाति-पाति पूछे नहीं कोई
हरि को भजे सो हरि का होई।"

कबीरदास जी ने अपने-अपने धर्म पर इतराने वाले हिंदुओं व मुसलमानों पर प्रहार करते हुए कहा है–

"हिंदू कहे मोहि राम पियारा तुर्क कहें रहिमाना।
आपस में दोऊ लरि मुए मरम काऊ न जाना॥"

वस्तुत: संत कवियों का मूल उद्देश्य सभी धर्मों की बुराइयों का विरोध करके सच्चे मानव धर्म की स्थापना करना था।

5. रहस्यवाद–रहस्यवाद संत कवियों की प्रमुख विशेषता रही है। संत कवियों ने आत्मा-परमात्मा के संबंध को सुंदर शब्दों में अभिव्यक्ति दी है।

कुछ उदाहरण देखिए–

"लाली मेरे लाल की जित देखूं तित लाल।
लाली देखन मैं गई मैं भी हो गई लाल॥"
"नैनन अंतर आव तू त्योंहि लेऊँ झपेऊँ।
ना मैं देखूं और कूं ना तुझे देखण देऊं॥"

इस प्रकार संत कवियों ने आत्मा को विरहिणी नायिका के रूप में चित्रित किया है, जो परमात्मा से मिलने के लिए तड़प रही है। इनके रहस्यवाद में शंकराचार्य के अद्वैतवाद का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देता है।

6. माया के प्रति सचेतता–सभी संत कवियों ने माया से सावधान कराया है। इनका मानना है कि माया ईश्वर भक्ति के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा है। संत कवियों के अनुसार काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह पंच-विकार माया के रूप हैं।

मनुष्य इनके जाल में फंसकर पथभ्रष्ट हो जाता है। संत कवियों का यह भी मानना है की ज्ञान की प्राप्ति करके मनुष्य इस माया के चंगुल से मुक्त हो सकता है, यथा–

"संतो भाई आई ज्ञान की आंधी
भ्रम की टाटी सबै उड़ानी माया रही न बांधी।"

7. नारी के प्रति दृष्टिकोण–संत कवियों ने कुछ स्थान पर नारी को माया का प्रतीक माना है। उनका मानना है कि व्यभिचारी इंसान ईश्वर भक्ति से विमुख हो जाता है और पतन का शिकार हो जाता है। व्यभिचारिणी स्त्री विषैले सर्प से भी अधिक भयंकर होती है। कबीरदास जी इस विषय में एक स्थान पर कहते हैं–

"नारी की झाई परत अंधा होत भुजंग
कबीरा उनकी क्या गति जो नित नारी के संग।"

परंतु ऐसा कबीरदास जी ने केवल व्यभिचारिणी स्त्री के बारे में कहा है। सती-साध्वी और पतिव्रता नारी की उन्होंने मुक्त कंठ से प्रशंसा की है य वे कहते हैं–

"पतिवरता मैली भली काली कुचील कुरूप
पतिवरता के रूप पै वारों कोटी सरूप॥"

संत कवियों ने अपनी आत्मा को भी नारी के रूप में चित्रित किया है, जो परमात्मा रूपी नायक से मिलने को आतुर है।

8. रस व्यंजना–संत कवियों ने अपने काव्य में जानबूझकर रसों की सृष्टि नहीं की वरन् इनके काव्य में स्वाभाविक रूप से ही रसों का समावेश हो गया है। जहां संत कवियों ने आध्यात्मिक भावना को अभिव्यक्त किया है वहांशृंगार रस का परिपाक हुआ है। इन कवियों ने अपनी आत्मा को विरहिणी नायिका के रूप में चित्रित किया है तथा परमात्मा को नायक के रूप में। अत: इनके काव्य मेंशृंगार रस के संयोग-वियोग दोनों पक्ष मिलते हैं। जहां परमात्मा के विराट रूप का वर्णन है वहां अद्‌भुत रस मिलता है परंतु अधिकांशत: उनके काव्य में शांत रस का परिपाक हुआ है य अन्य रस दुर्लभ हैं।

9. भाषा–सामान्यत: संत कवियों ने सरल, सहज व स्वाभाविक भाषा का प्रयोग किया है। उनका मुख्य उद्देश्य अपने विचारों को सामान्य जनता तक पहुँचाना था। काव्य शास्त्रीय नियमों का न उन्हें ज्ञान था और न ही उनमें विश्वास, इसलिए उन्होंने ऐसी भाषा का प्रयोग किया जिसे जनसाधारण समझ सके।

जहां तक कबीर की भाषा का प्रश्न है, उनकी भाषा मिश्रित भाषा जान पड़ती है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने कबीर को 'वाणी का डिक्टेटर' कहा है।

अन्य संत कवियों की भाषा भी जन भाषा थी जिनमें हिंदी की विभिन्न बोलियों के अतिरिक्त अरबी, फारसी के शब्द भी मिलते हैं। संत कवियों की भाषा को आलोचकों ने 'खिचड़ी भाषा', 'संधा भाषा, व 'सधुक्कडी भाषा' कहा है, लेकिन फिर भी सभी स्वीकार करते हैं कि उनकी भाषा प्रभावशाली होने के साथ-साथ सरस भी थी।

रसों के साथ-साथ उनके काव्य में विभिन्न छंदों तथा अलंकारों का समावेश भी स्वत: ही हो गया है।

उपर्युक्त विवेचन से कहा जा सकता है कि संतकाव्य धारा हिंदी साहित्य की अमूल्य निधि है। भाव पक्ष व कला पक्ष के दृष्टिकोण से संतकाव्य उत्कृष्ट है। समाज सुधार व धर्म सुधार के दृष्टिकोण से संत कबीर आज भी प्रासंगिक हैं।

सूफी/प्रेमाश्रयी काव्य परंपरा

सूफी काव्य परंपरा को लेकर विद्वानों में मतभेद है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने कुतुबन की 'मृगावती' को सूफी काव्य-परंपरा का प्रथम ग्रंथ माना है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने ईश्वर दास द्वारा रचित 'सत्यवती कथा' को इस काव्य परंपरा का प्रथम ग्रंथ माना है। डॉ रामकुमार वर्मा मुल्ला दाऊद की 'चंदायन' को प्रथम सूफी ग्रंथ मानते हैं। आज अधिकांश विद्वान 'चंदायन' को ही सूफी काव्य परंपरा का प्रथम ग्रन्थ स्वीकार करते हैं।

सूफी काव्यधारा के प्रमुख कवि-मुल्ला दाऊद, कुतुबन, मंझन, शेख नबी, उसमान, कासिम शाह, नूर मोहम्मद व जायसी।

मुल्ला दाऊद की प्रमुख रचना चंदायन (1379 ई.) है। इसे सूफी काव्य परंपरा का प्रथम ग्रंथ माना जाता है। कुतुबन ने मृगावती (1501 ई.) की रचना की। यह सूफी काव्य परंपरा का प्रथम प्रसिद्ध ग्रंथ है। मंझन की 'मधुमालती' व शेख नबी की 'ज्ञानदीप' प्रमुख सूफी काव्य रचनाएं हैं। उसमान ने 'चित्रावली' की रचना की। कासिम शाह की 'हंस', जवाहिर वह नूर मोहम्मद की 'इंद्रावती' भी प्रमुख सूफी काव्य कृतियां हैं। मलिक मोहम्मद जायसी सूफी काव्य परंपरा के सर्वश्रेष्ठ कवि माने जाते हैं। पद्मावत (1540 ई.) इनका सबसे अधिक लोकप्रिय ग्रंथ है। यह ग्रंथ इनकी कीर्ति का आधार स्तंभ है। इनके द्वारा रचित अन्य प्रमुख ग्रंथ

हैं–मसला नामा, कहरा नामा, अखरावट, आखिरी कलाम आदि। हाल ही के शोध से पता चला है कि सूफी काव्य धारा के कवि केवल मुसलमान ही नहीं है बल्कि असंख्य हिंदू कवियों ने भी सूफी काव्य की रचना की।

सूफी काव्य की प्रमुख प्रवृत्तियाँ

सूफी प्रेमाख्यान काव्य धारा की प्रमुख विशेषताएं इस प्रकार हैं–

1. प्रबंध कल्पना–सूफी कवियों के काव्य की प्रमुख विशेषता इनकी प्रबंध कल्पना है। इन्होंने लोक प्रचलित प्रेम कहानियों को अपने काव्य का आधार बनाया है। इन्होंने लौकिक प्रेम के माध्यम से अलौकिक प्रेम की व्यंजना की है। इन सभी प्रेम कथाओं में एक जैसी परिस्थितियां हैं, लेकिन फिर भी कवियों ने नए पात्रों, नए दृश्यों, नए प्रसंगों का प्रयोग करके अपनी-अपनी रचनाओं को रोचक बनाने का प्रयास किया है। इन सभी रचनाओं में अंतर कथाओं, अप्सराओं, देवताओं तथा राक्षसों का वर्णन मिलता है। प्रत्येक काव्य में प्रेमी के समक्ष अनेक कठिनाइयां प्रस्तुत की जाती हैं जिनका वह दृढ़ता से सामना करता है। इन रचनाओं में प्रबंध काव्य की अनेक रूढ़ियां मिलती हैं। इन सभी रचनाओं में प्रायः एक जैसे सागर, तूफान, जंगल, भवन और फुलवारियां हैं। अधिकांशतः वस्तु परिगणन शैली को अपनाया गया है जिससे इनमें नीरसता आ गई है। सभी सूफी काव्यों में आरंभ में मंगलाचरण किया गया है तत्पश्चात हजरत मोहम्मद व उनके सहयोगियों की प्रशंसा की गई है। इसके बाद शाहेवक्त की प्रशंसा, गुरु का परिचय आदि मिलता है। इन प्रबंध काव्यों में सुखांत व दुखांत दोनों प्रकार की कथाएं मिलती हैं।

2. भाव व्यंजना–सूफी कवियों का प्रमुख विषय प्रेमानुभूति है। यही कारण है कि इन कवियों की रचनाओं मेंशृंगार रस का सुंदर परिपाक हुआ है। इन कवियों नेशृंगार के संयोग-वियोग दोनों पक्षों का सुंदर चित्रण किया है। संयोग की अपेक्षा वियोग में इन्हें अधिक सफलता हासिल हुई है। विशेषतः जायसी का पद्मावत महाकाव्य अपने विरह वर्णन के लिए विख्यात है। इस महाकाव्य में नागमती विरह वर्णन संपूर्ण हिंदी साहित्य में विरह वर्णन के लिए प्रसिद्ध है। पद्मावत में नागमती विरह वर्णन लौकिक है तो पद्मावती विरह वर्णन आध्यात्मिकता लिए हुए हैं। अधिकांश सूफी काव्य समासोक्तिमूलक हैं अर्थात् इन कथाओं में लौकिक प्रेम के साथ-साथ अलौकिक प्रेम की व्यंजना भी मिलती है। सूफी प्रेम कहानियों का नायक मानव की आत्मा है और नायिका

ईश्वर है। साधक के मार्ग की कठिनाइयां ही नायक के मार्ग की कठिनाइयां हैं, लेकिन कुछ सूफी काव्यों में अलौकिक तत्त्व नहीं मिलता, वह केवल लौकिक प्रेम की व्यंजना करती हैं।

3. चरित्र चित्रण–सूफी काव्य के सभी पात्र एक जैसे सांचे में ढले हुए हैं। सभी पात्र भारतीय संस्कृति के रंग में रंगे हैं। इन पात्रों को दो भागों में बांटा जा सकता है–ऐतिहासिक पात्र व काल्पनिक पात्र। इन पात्रों का एक वर्गीकरण ऐसे भी किया जा सकता है मानवीय पात्र व मानवेतर पात्र। मानवीय पात्रों में राजा, रानी, मंत्री, सेनापति, राजकुमार, राजकुमारी आदि पात्र आते हैं तो मानवेतर पात्रों में पशु-पक्षी, देवता, दानव परियां, जिन्न आदि आते हैं। सभी कथाओं में नायक को पराक्रमी प्रेमी दिखाया गया है जबकि नायिका अद्वितीय सुंदरी, सुकुमार व प्रेम रोग से ग्रस्त है। जो सूफी काव्य समासोक्तिमूलक हैं उनमें पात्रों को प्रतीक रूप में देखा जा सकता है, जैसे नायक मानव की आत्मा का तथा नायिका ईश्वर का प्रतीक है।

4. प्रकृति वर्णन–सूफी कवियों ने प्रकृति वर्णन में विशेष रुचि दिखाई है। इन्होंने अपने काव्य में प्रकृति का दोनों रूपों में वर्णन किया है–आलम्बनगत व उद्दीपनगत। कहीं-कहीं प्रकृति का दूती रूप में मानवीकरण किया गया है। इनके काव्य में आलम्बनगत प्रकृति वर्णन में केवल वस्तु परिगणन शैली का प्रयोग मिलता है जिससे निरसता आ गई है। इनका उद्दीपनगत प्रकृति वर्णन अधिक महत्त्वपूर्ण है। जायसी कृत पद्मावत में प्रकृति के उद्दीपनगत रूप का सुंदर वर्णन है। नागमती विरह वर्णन में प्रकृति के सभी अवयव मानो नागमती के विरह से व्यथित हैं। संयोग काल में प्रकृति नायक-नायिका की कामवासना को उत्तेजित करती है तथा वियोगावस्था में प्रकृति विरह-व्यथा को और अधिक बढ़ा देती है।

5. लोक संस्कृति का वर्णन–सभी सूफी कवियों ने हिंदू संस्कृति व लोक जीवन का प्रभावशाली वर्णन किया है। इन सभी कवियों ने हिंदू प्रेम कथाओं को अपने काव्य का आधार बनाया है इसलिए इन काव्यों में हिंदू परंपराओं, रीति-रिवाजों, त्योहारों, विवाह संस्कारों का वर्णन मिलता है। सूफी कवियों ने अपनी रचनाओं में हिंदू धर्म के विभिन्न कर्मकांडों पर प्रकाश डाला है। इनसे स्पष्ट होता है कि सूफी कवि बड़े सरल, उदार और मानवतावादी थे। बिना भेदभाव के उन्होंने सबको अपना प्यार वितरित किया। इन रचनाओं में हिंदू धर्म के सोलह संस्कारों में से अनेक संस्कारों का उल्लेख मिलता है।

6. रहस्यानुभूति–रहस्यवाद सूफी कवियों की प्रमुख विशेषता रही है। सूफी कवियों ने आत्मा-परमात्मा के संबंधों को सुंदर शब्दों में अभिव्यक्त किया है। इनके काव्य में रहस्यवाद प्रतीक रूप में अभिव्यक्त हुआ है। इन्होंने बाहर से देखने पर अलौकिक प्रेम कथाओं का वर्णन किया है परंतु सूक्ष्म दृष्टि डालने पर हम पाते हैं कि इनमें अलौकिक तत्त्व भी मिलता है। इन कवियों ने मनुष्य, शैतान, ईश्वर, पीर आदि को ध्यान में रखकर काव्य रचना की है। इनका रहस्यवाद संत कवियों के रहस्यवाद से जरा भिन्न है।। सूफी कवियों का रहस्यवाद भावात्मक कोटि में आता है जबकि संत कवियों का रहस्यवाद साधनात्मक कोटि में आता है। दूसरे सूफियों के रहस्यवाद में प्रेम की अधिक चर्चा है। इन कवियों ने लौकिक प्रेम के माध्यम से अलौकिक प्रेम की व्यंजना की है।

7. शैतान और गुरु का महत्त्व–जहां संत कवियों ने गुरु के महत्त्व की चर्चा की है वही सूफी कवियों ने गुरु के साथ-साथ शैतान की भी चर्चा की है। शैतान का काम है साधक के मार्ग में बाधाएं उत्पन्न करना तथा गुरु का काम है उन बाधाओं को दूर करना और साधक को पुनः भक्ति के मार्ग पर वापस लाना। उदाहरण के रूप में 'पद्मावत' में राघव चेतन शैतान का प्रतीक है और हीरामन तोता गुरु का प्रतीक है।

8. प्रतीक योजना–प्रतीक योजना भी सूफी काव्य की प्रमुख विशेषता है। क्योंकि इन कवियों ने लौकिक प्रेम के माध्यम से अलौकिक प्रेम की व्यंजना की है, अतः प्रतीक योजना अवश्यंभावी हो जाती है। इन प्रतीकों के माध्यम से ही सूफी कवियों की रहस्यानुभूति प्रकट होती है। जायसी की पद्मावत, उसमान की चित्रावली व कासिम शाह की हंस जवाहिर आदि सभी सूफी रचनाओं में प्रतीकों का सुंदर प्रयोग मिलता है। इन सभी काव्यों में समासोक्ति है। पात्रों को भी प्रतीक रूप में प्रयोग किया गया है, जैसे पद्मावत में रतन सिंह आत्मा का प्रतीक है तथा पद्मावती परमात्मा का प्रतीक है। राघव चेतन शैतान का तथा हीरामन तोता गुरु का प्रतीक है। पद्मावती के नख शिख वर्णन में भी अलौकिक आभा के दर्शन मिलते हैं।

9. कला पक्ष–प्रायः सभी सूफी कवियों ने अवधी भाषा का प्रयोग किया है। जायसी की भाषा तो ठेठ अवधी कही जा सकती है। उसमान की भाषा पर भोजपुरी का प्रभाव है। नूर मोहम्मद ने कुछ स्थानों पर ब्रज भाषा का प्रयोग भी किया है। कुल मिलाकर इनकी भाषा सरल, सहज व स्वाभाविक है। इनकी भाषा में राजस्थानी, अरबी, फारसी के शब्दों का सुंदर मिश्रण दिखाई देता है।

अलंकारों का सुंदर प्रयोग उनके काव्य में मिलता है। रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा आदि इनके प्रिय अलंकार हैं।

छंदों के दृष्टिकोण से दोहा, चौपाई छंदों की प्रधानता है।

सूफी कवियों ने मसनवी शैली का प्रयोग किया है। मसनवी शैली को समझे बिना उनके कार्यों का मूल्यांकन नहीं किया जा सकता।

कथातत्त्व की प्रधानता होने के कारण इन कवियों ने इतिवृतात्मक शैली का प्रयोग किया है जिससे कहीं-कहीं निरसता आ गई है।

समग्रत: अपनी प्रबंध योजना, सरसता, रोचकता के कारण सूफी काव्य अपने आप में बेजोड़ है। सूफी काव्य की सबसे बड़ी उपलब्धि मुस्लिम समाज की कट्टरपंथी सोच में परिवर्तन लाना व हिन्दू-मुस्लिम सद्भाव को बढ़ावा देना है। अपनी अलग शैली से हिंदी साहित्य को समृद्ध करने में सूफी साहित्य का अपना विशेष महत्त्व है।

भक्तिकालीन हिंदी साहित्य परंपरा

भक्तिकाल को हिंदी साहित्य का स्वर्णिम काल कहा जाता है। कविवर रहीम, तुलसी, सूर, जायसी, मीरा, रसखान आदि इसी युग की देन हैं जिन्होंने धार्मिक भावनाओं से ओतप्रोत कविताओं छंदों आदि के माध्यम से समाज के सम्मुख वैचारिक क्रांति को जन्म दिया।

इन कवियों ने भक्ति भाव के साथ-ही-साथ लोगों में नवीन आत्मचेतना का संचार भी किया तथा अपने उन्नत काव्य के माध्यम से समाज को एक नई दिशा दी। भक्तिकालीन काव्यधारा को प्रमुख रूप से दो शाखाओं में विभाजित किया गया है-(1) निर्गुण भक्ति शाखा तथा (2) सगुण भक्ति शाखा। निर्गुण मार्गी शाखा के प्रमुख कवि कबीर, रैदास आदि थे।

इनमें कबीरदास जी सर्वाधिक प्रचलित हुए। वे इसी युग के श्रेष्ठ संत रामानंद के शिष्य थे जिन्होंने तत्कालीन समय में व्याप्त जात-पाँत के भेद-भाव को दूर कर समाज में मानवतावाद की स्थापना का प्रयास किया। कबीरदास जी ने उन्हीं के मार्ग का अनुसरण किया तथा अपनी काव्य रचना में निर्गुण मत का प्रचार-प्रसार किया।

भक्ति युग की सगुण मार्गी शाखा को पुन: दो प्रमुख धाराओं-राममार्गी धारा तथा कृष्णमार्गी धारा के रूप में विभाजित किया जा सकता है। राममार्गी धारा के

प्रमुख कवि तुलसीदास जी हुए हैं जिन्होंने भगवान राम की उपासना से संबंधित श्रेष्ठ काव्यों की रचना कर ख्याति प्राप्ति की।

वहीं दूसरी ओर कृष्णमार्गी धारा के प्रमुख कवि सूरदास जी हुए हैं। सूरदास जी ने कृष्ण भक्ति का मार्ग अपनाते हुए कृष्ण लीला का जो सजीव चित्रण संसार के सम्मुख प्रस्तुत, किया वह अतुलनीय है।

इसके अतिरिक्त निर्गुण शाखा के मलिक मुहम्मद 'जायसी' का नाम भी प्रमुख है जिन्होंने प्रेम के मार्ग को प्रधानता दी और बताया कि ईश्वर प्राप्ति का आधार प्रेम-मार्ग ही है।

भक्तिकालीन साहित्य की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं–

1. गुरु की महत्ता

भक्तिकाल में गुरु को सर्वश्रेष्ठ स्थान दिया गया था।

कबीरदास जी ने अपनी 'साखी' में गुरु के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए लिखा है–

"गुरु गोविदं दोउ खड़े काके लागों पाँय।
बलिहारी गुरु आपने गोविंद दियो बताय।।"

2. आत्म-चेतना व समाज सुधार

भक्ति युग के समस्त कवियों ने आत्म-चेतना जागृत करने पर विशेष बल दिया तथा धर्म के मार्ग पर चलकर ईश्वर से साक्षात्कार की बात कही। मीराबाई और सूरदास की कृष्णभक्ति की पराकाष्ठा तथा तुलसीदास की अटूट रामभक्ति के कारण तत्कालीन हिंदू समाज की आस्थाओं को बल मिला और समाज एक बार फिर से आस्थावान् हो उठा।

कबीरदास ने तो हिंदुओं और मुसलमानों दोनों को चेताया और अपनी-अपनी कुरीतियाँ छोड़कर उनसे मानव धर्म का निर्वाह करने के लिए कहा। इस दृष्टि से कबीर सबसे बड़े समाज-सुधारक कहे जा सकते हैं।

3. भक्ति की प्रधानता

इस काल के काव्य में भक्ति के परम रूप के दर्शन होते हैं। इस काल में संपूर्ण वातावरण भक्तिमय हो गया था। इनके अतिरिक्त कवियों ने कुसंगति को त्यागकर सत्संगति को अपनाने पर विशेष बल दिया है ताकि मनुष्य में सद्गुणों का संचार हो सके। इस काल के काव्यों में भक्ति रस की प्रधानता के साथ-ही-साथ रस, छंद, अलंकार योजना आदि भावों का सुंदर चित्रण देखने को मिलता है।

तुलसीदास कृत रामचरितमानस, कवितावली, विनयपत्रिका तथा सूरदासकृत सूरसागर, सूर सारावली व साहित्य लहरी आदि इस काल की प्रमुख रचनाएँ हैं। इसी प्रकार निर्गुण शाखा में कबीरदास जी की साखी, सबद व रैमनी तथा मलिक मुहम्मद जायसी की पद्मावत आदि ग्रंथ प्रसिद्ध हैं।

इस प्रकार हम पाते हैं कि उत्तम साहित्य और भक्ति भाव दोनों ही अर्थों में भक्तिकाल हिंदी साहित्य का स्वर्णिम काल था। उस युग के महान कवियों द्वारा उत्तम काव्य साहित्य के साथ-ही-साथ समाज सुधार व लोगों में आत्म-चेतना व राष्ट्रीय चेतना जागृत करने हेतु अनेक प्रयासों को भुलाया नहीं जा सकता।

2

आदि शंकराचार्य

आदि शंकर (संस्कृत: आदिशङ्कराचार्य:) ये भारत के एक महान दार्शनिक एवं धर्मप्रवर्तक थे। उन्होने अद्वैत वेदान्त को ठोस आधार प्रदान किया। भगवद्गीता, उपनिषदों और वेदांतसूत्रों पर लिखी हुई इनकी टीकाएँ बहुत प्रसिद्ध हैं। उन्होंने सांख्य दर्शन का प्रधानकारणवाद और मीमांसा दर्शन के ज्ञान-कर्मसमुच्चयवाद का खण्डन किया। इन्होंने भारतवर्ष में चार कोनों में चार मठों की स्थापना की थी जो अभी तक बहुत प्रसिद्ध और पवित्र माने जाते हैं और जिन पर आसीन संन्यासी 'शंकराचार्य' कहे जाते हैं। वे चारों स्थान ये हैं– (1) ज्योतिष्पीठ बदरिकाश्रम, (2)शृंगेरी पीठ, (3) द्वारिका शारदा पीठ और (4) पुरी गोवर्धन पीठ। इन्होंने अनेक विधर्मियों को भी अपने धर्म में दीक्षित किया था। ये शंकर के अवतार माने जाते हैं। इन्होंने ब्रह्मसूत्रों की बड़ी ही विशद और रोचक व्याख्या की है।

उनके विचारोपदेश आत्मा और परमात्मा की एकरूपता पर आधारित हैं जिसके अनुसार परमात्मा एक ही समय में सगुण और निर्गुण दोनों ही स्वरूपों में रहता है। स्मार्त संप्रदाय में आदि शंकराचार्य को शिव का अवतार माना जाता है। इन्होंने ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, मांडूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, बृहदारण्यक और छान्दोग्योपनिषद् पर भाष्य लिखा। वेदों में लिखे ज्ञान को एकमात्र ईश्वर को संबोधित समझा और उसका प्रचार तथा वार्ता पूरे भारतवर्ष में की। उस समय वेदों की समझ के बारे में मतभेद होने पर उत्पन्न चार्वाक, जैन और बौद्ध मतों को

शास्त्रार्थों द्वारा खण्डित किया और भारत में चार कोनों पर ज्योति, गोवर्धन,शृंगेरी एवं द्वारिका आदि चार मठों की स्थापना की।

कलियुग के प्रथम चरण में विलुप्त तथा विकृत वैदिक ज्ञानविज्ञान को उद्‌भासित और विशुद्ध कर वैदिक वाङ्‌मय को दार्शनिक, व्यावहारिक, वैज्ञानिक धरातल पर समृद्ध करने वाले एवं राजर्षि सुधन्वा को सार्वभौम सम्राट स्थापित करने वाले चतुराम्नाय-चतुष्पीठ संस्थापक नित्य तथा नैमित्तिक युग्मावतार श्रीशिवस्वरुप भगवत्पाद शंकराचार्य की अमोघदृष्टि तथा अद्‌भुत कृति सर्वथा स्तुत्य है।

सतयुग की अपेक्षा त्रेता में, त्रेता की अपेक्षा द्वापर में तथा द्वापर की अपेक्षा कलि में मनुष्यों की प्रज्ञाशक्ति तथा प्राणशक्ति एवं धर्म और आध्यात्म का ह्रास सुनिश्चित है। यही कारण है कि कृतयुग में शिवावतार भगवान दक्षिणामूर्ति ने केवल मौन व्याख्यान से शिष्यों के संशयों का निवारण कियघ। त्रेता में ब्रह्मा, विष्णु और शिव अवतार भगवान दत्तात्रेय ने सूत्रात्मक वाक्यों के द्वारा अनुगतों का उद्धार किया। द्वापर में नारायणावतार भगवान कृष्णद्वैपायन वेदव्यास ने वेदों का विभाग कर महाभारत तथा पुराणादि की एवं ब्रह्मसूत्रों की संरचनाकर एवं शुक लोमहर्षणादि कथाव्यासों को प्रशिक्षितकर धर्म तथा आध्यात्म को उज्जीवित रखा। कलियुग में भगवत्पाद श्रीमद् शंकराचार्य ने भाष्य, प्रकरण तथा स्तोत्रग्रन्थों की संरचना कर, विधर्मियों-पन्थायियों एवं मीमांसकादि से शास्त्रार्थ, परकायप्रवेशकर, नारदकुण्ड से अर्चाविग्रह श्री बदरीनाथ एवं भूगर्भ से अर्चाविग्रह श्रीजगन्नाथ दारुब्रह्म को प्रकटकर तथा प्रस्थापित कर, सुधन्वा सार्वभौम को राजसिंहासन समर्पित कर एवं चतुराम्नाय-चतुष्पीठों की स्थापना कर अहर्निश अथक परिश्रम के द्वारा धर्म और आध्यात्म को उज्जीवित तथा प्रतिष्ठित किया।

व्यासपीठ के पोषक राजपीठ के परिपालक धर्माचार्यों को श्रीभगवत्पाद ने नीतिशास्त्र, कुलाचार तथा श्रौत-स्मार्त कर्म, उपासना तथा ज्ञानकाण्ड के यथायोग्य प्रचार-प्रसार की भावना से अपने अधिकार क्षेत्र में परिभ्रमण का उपदेश दिया। उन्होंने धर्मराज्य की स्थापना के लिये व्यासपीठ तथा राजपीठ में सद्‌भावपूर्ण सम्वाद के माध्यम से सामंजस्य बनाये रखने की प्रेरणा प्रदान की। ब्रह्मतेज तथा क्षात्रबल के साहचर्य से सर्वसुमंगल कालयोग की सिद्धि को सुनिश्चित मानकर कालगर्भित तथा कालातीतदर्शी आचार्य शंकर ने व्यासपीठ तथा राजपीठ का शोधनकर दोनों में सैद्धान्तिक सामंजस्य साधा।

दसनामी गुसांई गोस्वामी (सरस्वती, गिरि, पुरी, बन, पर्वत, अरण्य, सागर, तीर्थ, आश्रम और भारती उपनाम वाले गुसांई, गोसाई, गोस्वामी) इनके आध्यात्मिक उत्तराधिकारी माने जाते हैं और उनके प्रमुख सामाजिक संगठन का नाम 'अंतर्राष्ट्रीय जगतगुरु दसनाम गुसांई गोस्वामी एकता अखाड़ा परिषद' है।

जन्म

शंकराचार्य का जन्म दक्षिण भारत के केरल में अवस्थित निम्बूदरीपाद ब्राह्मणों के 'कालडी ग्राम' में 788 ई. में हुआ था। उन्होंने अपने जीवन का अधिकांश समय उत्तर भारत में व्यतीत किया। उनके द्वारा स्थापित 'अद्वैत वेदांत सम्प्रदाय' 9वीं शताब्दी में काफी लोकप्रिय हुआ। उन्होंने प्राचीन भारतीय उपनिषदों के सिद्धान्तों को पुनर्जीवन प्रदान करने का प्रयत्न किया। उन्होंने ईश्वर को पूर्ण वास्तविकता के रूप में स्वीकार किया और साथ ही इस संसार को भ्रम या माया बताया। उनके अनुसार अज्ञानी लोग ही ईश्वर को वास्तविक न मानकर संसार को वास्तविक मानते हैं। ज्ञानी लोगों का मुख्य उद्देश्य अपने आप को भम्र व माया से मुक्त करना एवं ईश्वर व ब्रह्म से तादाम्य स्थापित करना होना चाहिए। शंकराचार्य ने वर्ण पर आधारित ब्राह्मण प्रधान सामाजिक व्यवस्था का समर्थन किया। शंकराचार्य ने संन्यासी समुदाय में सुधार के लिए उपमहाद्वीप में चारों दिशाओं में चार मठों की स्थापना की। 'अवतारवाद' के अनुसार, ईश्वर तब अवतार लेता है, जब धर्म की हानि होती है। धर्म और समाज को व्यवस्थित करने के लिए ही आशुतोष शिव का आगमन आदि शकराचार्य के रूप में हुआ।

शिक्षा

हिन्दू धर्म की मान्यता के अनुसार आदि शंकराचार्य ने अपनी अनन्य निष्ठा के फलस्वरूप अपने सदगुरु से शास्त्रों का ज्ञान ही नहीं प्राप्त किया, बल्कि ब्रह्मत्व का भी अनुभव किया। जीवन के व्यावहारिक और आध्यात्मिक पक्ष की सत्यता को इन्होंने जहाँ काशी में घटी दो विभिन्न घटनाओं के द्वारा जाना, वहीं मंडनमिश्र से हुए शास्त्रार्थ के बाद परकाया प्रवेश द्वारा उस यथार्थ का भी अनुभव किया, जिसे सन्न्यास की मर्यादा में भोगा नहीं जा सकता। यही कारण है कि कुछ बातों के बारे में पूर्वाग्रह दिखाते हुए भी लोक संग्रह के लिए, आचार्य शंकर आध्यात्म की चरम स्थिति में किसी तरह के बंधन को स्वीकार नहीं करते।

अपनी माता के जीवन के अंतिम क्षणों में पहुँचकर पुत्र होने के कर्तव्य का पालन करना इस संदर्भ में अत्यंत महत्त्वपूर्ण घटना है।

रचनाएँ व व्यक्तित्त्व

शंकराचार्य ने उपनिषदों, श्रीमद्भगवद गीता एवं ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखे हैं। उपनिषद, ब्रह्मसूत्र एवं गीता पर लिखे गये शंकराचार्य के भाष्य को 'प्रस्थानत्रयी' के अन्तर्गत रखते हैं। शंकराचार्य ने हिन्दू धर्म के स्थायित्व, प्रचार-प्रसार एवं प्रगति में अपूर्व योगदान दिया। उनके व्यक्तितत्त्व में गुरु, दार्शनिक, समाज एवं धर्म सुधारक, विभिन्न मतों तथा सम्प्रदायों के समन्वयकर्ता का रूप दिखाई पड़ता है। शंकराचार्य अपने समय के उत्कृष्ट विद्वान् एवं दार्शनिक थे। इतिहास में उनका स्थान इनके 'अद्वैत सिद्धान्त' के कारण अमर है। गौड़पाद के शिष्य 'गोविन्द योगी' को शंकराचार्य ने अपना प्रथम गुरु बनाया। गोविन्द योगी से उन्हें 'परमहंस' की उपाधि प्राप्त हुई। कुछ विद्वान् शंकराचार्य पर बौद्ध शून्यवाद का प्रभाव देखते हैं तथा उन्हें 'प्रच्छन्न बौद्ध' की संज्ञा देते हैं।

हिन्दू धर्म की पुनः स्थापना

आदि शंकराचार्य को हिन्दू धर्म को पुनः स्थापित एवं प्रतिष्ठित करने का श्रेय दिया जाता है। एक तरफ उन्होंने अद्वैत चिन्तन को पुनर्जीवित करके सनातन हिन्दू धर्म के दार्शनिक आधार को सुदृढ़ किया, तो दूसरी तरफ उन्होंने जनसामान्य में प्रचलित मूर्तिपूजा का औचित्य सिद्ध करने का भी प्रयास किया। सनातन हिन्दू धर्म को दृढ़ आधार प्रदान करने के लिये उन्होंने विरोधी पन्थ के मत को भी आंशिक तौर पर अंगीकार किया। शंकर के मायावाद पर महायान बौद्ध चिन्तन का प्रभाव माना जाता है। इसी आधार पर उन्हें 'प्रछन्न बुद्ध' कहा गया है।

मोक्ष और ज्ञान

आचार्य शंकर जीवन में धर्म, अर्थ और काम को निरर्थक मानते हैं। वे ज्ञान को अद्वैत ज्ञान की परम साधना मानते हैं, क्योंकि ज्ञान समस्त कर्मों को जलाकर भस्म कर देता है। सृष्टि का विवेचन करते समय कि इसकी उत्पत्ति कैसे होती है?, वे इसका मूल कारण ब्रह्म को मानते हैं। वह ब्रह्म अपनी 'माया' शक्ति के सहयोग से इस सृष्टि का निर्माण करता है, ऐसी उनकी धारणा है। लेकिन यहाँ यह नहीं भूलना चाहिए कि शक्ति और शक्तिमान एक ही हैं। दोनों में कोई अंतर नहीं है। इस प्रकार सृष्टि के विवेचन से एक बात और भी स्पष्ट होती है कि

परमात्मा को सर्वव्यापक कहना भी भूल है, क्योंकि वह सर्वरूप है। वह अनेकरूप हो गया, 'यह अनेकता है ही नहीं', 'मैं एक हूँ बहुत हो जाऊँ' अद्धैत मत का यह कथन संकेत करता है कि शैतान या बुरी आत्मा का कोई अस्तित्त्व नहीं है। ऐसा कहीं दिखाई भी देता है, तो वह वस्तुतः नहीं है भ्रम है बस। जीवों और ब्रह्मैव नापरः- जीव ही ब्रह्म है अन्य नहीं।

निष्काम उपासना

ऐसे में बंधन और मुक्ति जैसे शब्द भी खेलमात्र हैं। विचारों से ही व्यक्ति बंधता है। उसी के द्वारा मुक्त होता है। भवरोग से मुक्त होने का एकमात्र उपाय है विचार। उसी के लिए निष्काम कर्म और निष्काम उपासना को आचार्य शंकर ने साधना बताया। निष्काम होने का अर्थ है संसार की वस्तुओं की कामना न करना, क्योंकि शारीरिक माँग तो प्रारब्धता से पूरी होगी और मनोवैज्ञानिक चाह की कोई सीमा नहीं है। इस सत्य को जानकर अपने कर्तव्यों का पालन करना तथा ईश्वरीय सत्ता के प्रति समर्पण का भाव, आलस्य प्रसाद से उठाकर चित्त को निश्चल बना देगें, जिसमें ज्ञान टिकेगा।

बुद्धि, भाव और कर्म का संतुलन

आचार्य ने बुद्धि, भाव और कर्म इन तीनों के संतुलन पर जोर दिया है। इस तरह वैदान्तिक साधना ही समग्र साधना है। कभी-कभी लगता है कि आचार्य शंकर परम्परावादी हैं। लेकिन वास्तविकता ऐसी नहीं है। उनकी छोटी-छोटी, लेकिन महत्त्वपूर्ण रचनाओं से इस बात का स्पष्ट संकेत मिलता है। परम्परा का निर्वाह करते हुए भी उनका लक्ष्य 'सत्य' प्रतिपादन करना है। प्रश्नोत्तरी में कहे इस श्लोकांश से संकेत मिलता है, पशुओं में भी पशु वह है, जो धर्म को जानने के बाद भी उसका आचरण नहीं करता और जिसने शास्त्रों का अध्ययन किया है, फिर भी उसे आत्मबोध नहीं हुआ है। इसी प्रकार 'भज गोविन्दम' में बाहरी रूप-स्वरूप को नकारते हुए वे कहते हैं कि 'जो संसार को देखते हुए भी नहीं देखता है, उसने अपना पेट भरने के लिए तरह-तरह के वस्त्र धारण किए हुए हैं।'

व्यवाहरिक सत्य

जीवन के परम सत्य को व्यावहारिक सत्य के साथ जोड़ने के कारण ही अपरोक्षानुभूति के बाद आचार्य शंकर मौन बैठकर उसका आनन्द नहीं लेते,

बल्कि समूचे भारतवर्ष में घूम-घूम कर उसके रूप-स्वरूप को निखारने में तत्पर होते हैं। मानो त्याग-वैराग्य और निवृत्ति के मूर्तरूप हों, लेकिन प्रवृत्ति की पराकाष्ठा है, उनमें श्रीराम, श्री कृष्ण की तरह।

जगदगुरु

चार मठों की स्थापना, दशनाम सन्न्यास को सुव्यवस्थित रूप देना, सगुण-निर्गण का भेद मिटाने का प्रयास, हरिहर निष्ठा की स्थापना ये कार्य ही उन्हें 'जगदगुरु' पद पर प्रतिष्ठित करते हैं। स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ जैसे युवा सन्न्यासियों ने विदेशों में जाकर जिस वेदांत की खोज किया, वह शंकर वेदांत ही तो था। जगदगुरु कहलाना, केवल उस परम्परा का निर्वाह करना और स्वयं को उस रूप में प्रतिष्ठित करना बिल्कुल अलग-अलग बातें हैं। आज भारत को एक ऐसे ही महान् व्यक्तित्त्व की आवश्यकता है, जिसमें योगी, कवि, भक्त, कर्मनिष्ठ और शास्त्रीय ज्ञान के साथ ही जनकल्याण की भावना हो, जो सत्य के लिए सर्वस्व का त्याग करने को उद्यत हो।

शंकराचार्य का कथन

शंकराचार्य का कथन है कि अद्वैत दर्शन की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है और उपनिषदों की शिक्षा पर अवलम्बित है। अद्वैत दर्शन के तीन पहलू हैं–

- तत्त्व मीमांसा,
- ज्ञान मीमांसा,
- आचार दर्शन।

इनका अलग-अलग विकास शंकराचार्य के बाद के वैदान्तियों ने किया। तत्त्व मीमांसा की दृष्टि से अद्वैतवाद का अर्थ है कि सभी प्रकार के द्वैत या भेद का निषेध। अन्तिम तत्त्व ब्रह्म एक और अद्वय है। उसमें स्वगत, स्वजातीय तथा विजातीय किसी भी प्रकार का द्वैत नहीं है। ब्रह्म निरवयव, अविभाज्य और अनन्त है। उसे सच्चिदानंद या 'सत्यं, ज्ञानं, अनन्तम् ब्रह्मा' भी कहा गया है। असत् का निषेध करने से जो प्राप्त हो, वह सत् अचित् का निषेध करने से जो प्राप्त हो, वह चित् और दु:ख का निषेध करने से जो प्राप्त हो, वह आनंद है। यह ब्रह्मा का स्वरूप लक्षण है, परन्तु यहाँ ध्यान रखने की बात यह है कि सत् चित् और आनंद न तो ब्रह्म के तीन पहलू हैं, न ही ब्रह्म के तीन अंश और न ब्रह्म के तीन विशेषण हैं। जो सत् है वही चित है और वही आनंद भी है। दृष्टि भेद के कारण

उसे सच्चिदानंद कहा गया है– असत् की दृष्टि से वह सत् अचित् की दृष्टि से चित् और दु:ख की दृष्टि से आनंद है।

जगत का कारण- ईश्वर

शंकराचार्य द्वारा स्थापित मठ

मठ	प्रदेश
ज्योतिषपीठ, बद्रीनाथ	उत्तराखण्ड (हिमालय में स्थित)
गोवर्धनपीठ, पुरी	उड़ीसा
शारदापीठ, द्वारिका	गुजरात
श्रृंगेरीपीठ, मैसूर	कर्नाटक

यह निर्गुण, निराकार, अविकारी, चित् ब्रह्म ही जगत् का कारण है। जगत् के कारण के रूप में उसे ईश्वर कहा जाता है। मायोपहित ब्रह्म ही ईश्वर है। अत: ब्रह्म और ईश्वर दो तत्त्व नहीं हैं– दोनों एक ही हैं। जगत् का कारण होना– यह ब्रह्म का तटस्थ लक्षण है। तटस्थ लक्षण का अर्थ है, वह लक्षण जो ब्रह्म का अंग न होते हुए भी ब्रह्म की ओर संकेत करे। जगत् ब्रह्म पर आश्रित है, परन्तु ब्रह्म जगत् पर किसी भी प्रकार आश्रित नहीं है, वह स्वतंत्र है। जगत् का कारण प्रकृति, अणु या स्वभाव में से कोई नहीं हो सकता। इसी से उपनिषदों ने स्पष्ट कहा है कि ब्रह्म वह है, जो जगत् की सृष्टि, स्थिति और लय का कारण है। जगत् की सृष्टि आदि के लिए ब्रह्म को किसी अन्य तत्त्व की आवश्यकता नहीं होती। इसी से ब्रह्म को अभिन्न निमित्तोपादान कारण कहा है। जगत् की रचना ब्रह्मश्रित माया से होती है, परन्तु माया कोई स्वतंत्र तत्त्व नहीं है। यह मिथ्या है, इसलिए ब्रह्म को ही कारण कहा गया है। सृष्टि वास्तविक नहीं है, अत: उसे मायाजनित कहा गया है। माया या अविद्या के कारण ही जहाँ कोई नाम-रूप नहीं है, जहाँ भेद नहीं है, वहाँ नाम-रूप और भेद का आभास होता है। इसी से सृष्टि को ब्रह्म का विवर्त भी कहा गया है। विवर्त का अर्थ है कारण या किसी वस्तु का अपने स्वरूप में स्थित रहते हुए अन्य रूपों में अवभासित होना, अर्थात् परिवर्तन वास्तविक नहीं बल्कि आभास मात्र है।

विद्या के प्रकार

ब्रह्म की सृष्टि का कारण कहने से यह मालूम पड़ सकता है कि ब्रह्म की सत्ता कार्य-करण अनुमान के आधार पर सिद्ध की गई है, परन्तु यह बात नहीं

है। ब्रह्म जगत् का कारण है, यह ज्ञान हमको श्रुति से होता है। अत: ब्रह्म के विषय में श्रुति ही प्रमाण है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि तर्क के लिए कोई स्थान नहीं है। श्रुत्यनुकूल तर्क वेदांत को मान्य है। स्वतंत्र रूप से ब्रह्मज्ञान कराने का सामर्थ्य तर्क में नहीं है, क्योंकि ब्रह्म निर्गुण है। इसी से तर्क और श्रुति में विरोध भी नहीं हो सकता है। दोनों के क्षेत्र पृथक-पृथक् हैं। श्रुति और प्रत्यक्ष का भी क्षेत्र अलग-अलग होने के कारण उनमें विरोध नहीं हो सकता। श्रुति पर-तत्त्व विषयक है और प्रत्यक्ष अपरतत्त्व-विषयक। इसी से विद्या भी परा और अपरा दो प्रकार की मानी गई है।

सत्ताएँ

आदि शंकराचार्य

ऐसा कहा गया है कि जगत् ब्रह्म का विवर्त है, अर्थात् अविद्या के कारण आभास मात्र है। अविद्या को ज्ञान का अभाव मात्र नहीं समझना चाहिए। वह भाव तो नहीं है, परन्तु भाव रूप है—भाव और अभाव दोनों से भिन्न अनिर्वचनीय है। भाव से भिन्न इसलिए है कि उसका बोध होता है, तथा अभाव से भिन्न इसलिए कि इसके कारण मिथ्या वस्तु दिखाई पड़ती है, जैसे रज्जु के स्थान पर सर्पाभास। इसलिए कहा गया है कि अविद्या की दो शक्तियां हैं— आवरण और विक्षेप। विक्षेप शक्ति मिथ्या सर्प का सृजन करती है और आवरण शक्ति सर्प के द्वारा रज्जु का आवरण करती है। इसी से रज्जु अज्ञान की अवस्था में सर्वपत् दिखाई पड़ती है। इसी प्रकार ब्रह्म भी अज्ञान के कारण जगतवत् दिखाई पड़ता है। अत: वेदान्त में तीन सत्ताएं स्वीकृत की गई हैं—

प्रातिभासिक (सर्प)-जो हमारे साधारण भ्रम की स्थिति में आभासित होता है और रस्सी के ज्ञान के बाधित होता है।

व्यावहारिक (जगत)-जो मिथ्या तो है, परन्तु, जब तक ब्रह्म का ज्ञान नहीं हो जाता, तब तक सत्य प्रतीत होता है, और ज्ञान हो जाने पर बाधित हो जाता है।

ब्रह्म-जिसे पारमार्थिक कहा जाता है। इसका कभी भी ज्ञान नहीं होता है। यह नित्य है। ब्रह्मज्ञान होने से जगत् का बोध हो जाता है और मुक्ति प्राप्त हो जाती है।

जीव वास्तव में ब्रह्म ही है, दूसरा कुछ नहीं, शरीर धारण के कारण वह भिन्न प्रतीत होता है। शरीर तीन प्रकार का होता है— स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर

और कारण शरीर। अनादि प्रवाह के अधीन होकर कर्मफल को भोगने के लिए शरीर धारण करना पड़ता है। कर्म अविद्या के कारण होते हैं। अत: शरीर धारण अविद्या के ही कारण है। इसे ही बंधन कहते हैं। अविद्या के कारण कर्तृत्वाभिमान और भोक्तृत्वाभिमान पैदा होता है, जो आत्मा में स्वभावत: नहीं होता। जब कर्तृत्वाभिमान और भोक्तृत्वाभिमान से युक्त होता है, तब आत्मा जीव कहलाता है। मुक्त होने पर जीव ब्रह्म से एककारता प्राप्त करता है या उसका अनुभव करता है।

उपनिषद कथन

आत्मा और ब्रह्म की एकता अथवा अभिन्नत्व दिखाने के लिए उपनिषदों ने कहा है– 'तत्त्वमसी' (तुम वही हो)। इसी कारण से ज्ञान होने पर 'सो*हमस्मि' (मैं वही हूँ) का अनुभव होता है। जाग्रत अवस्था में स्थूल शरीर, स्वप्न में सूक्ष्म शरीर और सुषुप्ति में कारण शरीर रहता है। सुषुप्ति में चेतना भी रहती है, परन्तु विषयों का ज्ञान न होने के कारण जान पड़ता है कि सुषुप्ति में चेतना नहीं रहती। यदि सुषुप्ति में चेतना न होती तो जागने पर कैसे हम कहते कि सुखपूर्वक सोया? वहाँ चेतना साक्षीरूप या शुद्ध चैतन्य रूप है। परन्तु सुषुप्ति में अज्ञान रहता है। इसी से शुद्ध चेतना के रहते हुए भी सुषुप्ति मुक्ति से भिन्न है– मुक्ति की अवस्था में अज्ञान का नाश हो जाता है। शुद्ध चैतन्य रूप होने के कारण ही कहा गया है कि आत्मा एक है और ब्रह्मस्वरूप है। चेतना का विभाजन नहीं हो सकता है। जीवात्मा अनेक हैं, परन्तु आत्मा एक है, यह दिखाने के लिए उपमाओं का प्रयोग होता है। जैसे आकाश एक है, परन्तु सीमित होने के कारण घट या घटाकाश अनेक दिखाई पड़ता है, अथवा सूर्य एक है, किन्तु उसकी परछाई अनेक स्थलों में दिखाई पड़ने से वह अनेक दिखाई पड़ता है, इसी प्रकार यद्यपि आत्मा एक है फिर भी माया या अविद्या के कारण अनेक दिखाई पड़ता है।

जीव और ईश्वर में भेद

जीव और ईश्वर में व्यावहारिक दृष्टि से भेद है। जीवन बद्ध है, ईश्वर नित्यमुक्त है। मुक्त होने पर भी जीव को नित्यमुक्त नहीं कहा जा सकता। नित्यमुक्त होने के कारण ही ईश्वर श्रुति का जनक या आदिगुरु कहा जाता है। ईश्वर को मायोपहित कहा गया है, क्योंकि माया विक्षेप प्रधान होने के कारण और ईश्वर के अधीन होने के कारण ईश्वर के ज्ञान का आवरण नहीं करती। परन्तु जीव को अज्ञानोपहित कहा गया है, क्योंकि अज्ञान द्वारा जीव का स्वरूप ढक

जाता है। इसी से कभी-कभी माया और अविद्या में भेद किया जाता है। माया ईश्वर की उपाधि है– सत्व प्रधान है, विक्षेप प्रधान है और अविद्या जीव की उपाधि है, तमस्-प्रधान है और उसमें आवरण विक्षेप होता है।

अज्ञानता तथा मुक्ति

अज्ञान के कारण जीव अपने स्वरूप को भूल कर अपने को कर्ता-भोक्ता समझता है। इसी से उसको शरीर धारण करना पड़ता है और बार-बार संसार में आना पड़ता है। यही बंधन है। इस बंधन से छुटकारा तभी मिलता है, जब अज्ञान का नाश होता है और जीव अपने को शुद्ध चैतन्य ब्रह्म के रूप में जान जाता है। शरीर रहते हुए भी ज्ञान के हो जाने पर जीव मुक्त हो सकता है, क्योंकि शरीर तभी तक बंधन है, जब तक जीव अपने को आत्मा रूप में न जानकर अपने को शरीर, इन्द्रिय, मन आदि के रूप में समझता है। इसी से वेदान्त में जीवनमुक्ति और विदेहमुक्ति नाम की दो प्रकार की मुक्ति मानी गयी हैं। ज्ञान हो जाने के बाद भी प्रारब्ध भोग के लिए शरीर कुम्हार के चक्र के समान पूर्वप्रेरित गति के कारण चलता रहता है। शरीर छूटने पर ज्ञानी विदेह मुक्ति प्राप्त करता है।

ज्ञान प्राप्ति के गुण

ज्ञान प्राप्ति के लिए सर्वप्रथम ज्ञान का अधिकारी होना आवश्यक है। अधिकारी वही होता है, जिसमें निम्नलिखित चार गुण हों-

- नित्यानित्य-वस्तु-विवेक,
- इहामुत्र-फलभोग-विराग,
- शमदमादि,
- मुमुक्षत्व।

इन गुणों से युक्त होकर जब जिज्ञासु गुरु का उपदेश सुनता है, तब उसे ज्ञान हो जाता है। कभी-कभी श्रवण मात्र से भी ज्ञान हो जाता है, परन्तु वह असाधारण जीवों को ही होता है। साधारण जीव श्रवण के उपरान्त मनन करते हैं। मनन से ब्रह्म के विषय में या आत्मा के विषय में या ब्रह्मात्मैक्य के विषय में जो बौद्धिक शंकाएं होती हैं, उनको दूर किया जाता है और जब बुद्धि शंकामुक्त होकर स्थिर हो जाती है तभी ध्यान या निदिव्यसन सम्भव होता है। कर्म से अविद्या का नाश नहीं होता, क्योंकि कर्म स्वयं अविद्याजन्य है। कर्म और उपासना से बुद्धि शुद्ध होकर ज्ञान के योग्य होती है। इसी से इन दोनों की उपयोगिता तो

मानी गई है, परन्तु मुक्ति ज्ञान या अविद्या नाश से ही होती है। मुक्ति के उपरान्त कर्म और उपासना की आवश्यकता नहीं रहती। फिर भी मुक्त पुरुष जन-कल्याण के लिए या ईश्वरादेश की पूर्ति के लिए कर्म कर सकता है, जैसे आचार्य शंकर ने किया।

एकदण्डी

शंकराचार्य द्वारा स्थापित दसनामी सन्न्यासियों में से प्रथम तीन (तीर्थ, आश्रम एवं सरस्वती) विशेष सम्मान्य माने जाते हैं।

इनमें केवल ब्राह्मण ही सम्मिलित हो सकते हैं। शेष सात वर्गों में अन्य वर्णों के लोग भी आ सकते हैं, किन्तु दंड धारण करने के अधिकारी ब्राह्मण ही हैं।

मणिमान

शंकराचार्य एवं मध्वाचार्य के शिष्यों में परस्पर घोर प्रतिस्पर्धा रहती थी।

मध्व अपने को वायु देव का अवतार कहते थे तथा शंकर को महाभारत में उदधृत एक अस्पष्ट व्यक्ति, मणिमान का अवतार मानते थे।

3

चैतन्य महाप्रभु

चैतन्य महाप्रभु (18 फरवरी, 1486–1534) वैष्णव धर्म के भक्ति योग के परम प्रचारक एवं भक्तिकाल के प्रमुख कवियों में से एक हैं। इन्होंने वैष्णवों के गौड़ीय संप्रदाय की आधारशिला रखी, भजन गायकी की एक नयी शैली को जन्म दिया तथा राजनैतिक अस्थिरता के दिनों में हिंदू-मुस्लिम एकता की सद्भावना को बल दिया, जाति-पांत, ऊंच-नीच की भावना को दूर करने की शिक्षा दी तथा विलुप्त वृंदावन को फिर से बसाया और अपने जीवन का अंतिम भाग वहीं व्यतीत किया। उनके द्वारा प्रारंभ किए गए महामंत्र नाम संकीर्तन का अत्यंत व्यापक व सकारात्मक प्रभाव आज पश्चिमी जगत तक में है। यह भी कहा जाता है, कि यदि गौरांग ना होते तो वृंदावन आज तक एक मिथक ही होता। वैष्णव लोग तो इन्हें श्रीकृष्ण का राधा रानी के संयोग का अवतार मानते हैं। गौरांग के ऊपर बहुत से ग्रंथ लिखे गए हैं, जिनमें से प्रमुख है श्री कृष्णदास कविराज गोस्वामी विरचित चैतन्य चरितामृत। इसके अलावा श्री वृंदावन दास ठाकुर रचित चैतन्य भागवत तथा लोचनदास ठाकुर का चैतन्य मंगल भी हैं।

जन्म तथा प्रारंभिक जीवन

चैतन्य चरितामृत के अनुसार चैतन्य महाप्रभु का जन्म सन् 1486 की फाल्गुन शुक्ला पूर्णिमा को पश्चिम बंगाल के नवद्वीप (नादिया) नामक गांव में हुआ, जिसे अब मायापुर कहा जाता है। इनका जन्म संध्याकाल में सिंह लग्न में

चंद्र ग्रहण के समय हुआ था। उस समय बहुत से लोग शुद्धि की कामना से हरिनाम जपते हुए गंगा स्नान को जा रहे थे। तब विद्वान ब्राह्मणों ने उनकी जन्मकुण्डली के ग्रहों और उस समय उपस्थित शगुन का फलादेश करते हुए यह भविष्यवाणी की, कि यह बालक जीवन पर्यन्त हरिनाम का प्रचार करेगा। यद्यपि बाल्यावस्था में इनका नाम विश्वंभर था, परंतु सभी इन्हें निमाई कहकर पुकारते थे, क्योंकि कहते हैं, कि ये नीम के पेड़ के नीचे मिले थे। गौरवर्ण का होने के कारण लोग इन्हें गौरांग, गौर हरि, गौर सुंदर आदि भी कहते थे।

इनके पिता का नाम जगन्नाथ मिश्र व मां का नाम शची देवी था। निमाई बचपन से ही विलक्षण प्रतिभा संपन्न थे। साथ ही, अत्यंत सरल, सुंदर व भावुक भी थे। इनके द्वारा की गई लीलाओं को देखकर हर कोई हतप्रभ हो जाता था। बहुत कम आयु में ही निमाई न्याय व व्याकरण में पारंगत हो गए थे। इन्होंने कुछ समय तक नादिया में स्कूल स्थापित करके अध्यापन कार्य भी किया। निमाई बाल्यावस्था से ही भगवद्चिंतन में लीन रहकर राम व कृष्ण का स्तुति गान करने लगे थे। 15-16 वर्ष की अवस्था में इनका विवाह लक्ष्मीप्रिया के साथ हुआ। सन् 1505 में सर्प दंश से पत्नी की मृत्यु हो गई। वंश चलाने की विवशता के कारण इनका दूसरा विवाह नवद्वीप के राजपंडित सनातन की पुत्री विष्णुप्रिया के साथ हुआ। जब ये किशोरावस्था में थे, तभी इनके पिता का निधन हो गया।

कृष्ण के प्रति निष्ठा

भगवान श्रीकृष्ण के प्रति इनकी अनन्य निष्ठा व विश्वास के कारण इनके असंख्य अनुयायी हो गए। सर्वप्रथम नित्यानंद प्रभु व अद्वैताचार्य महाराज इनके शिष्य बने। इन दोनों ने निमाई के भक्ति आंदोलन को तीव्र गति प्रदान की। निमाई ने अपने इन दोनों शिष्यों के सहयोग से ढोलक, मृदंग, झाँझ, मंजीरे आदि वाद्य यंत्र बजाकर व उच्च स्वर में नाच-गाकर 'हरि नाम संकीर्तन' करना प्रारंभ किया।

महामन्त्र

हरे-कृष्ण, हरे-कृष्ण, कृष्ण-कृष्ण, हरे-हरे। हरे-राम, हरे-राम, राम-राम, हरे-हरे।

उपरोक्त अठारह शब्दीय कीर्तन महामन्त्र निमाई की ही देन है। इनका पूरा नाम 'विश्वम्भर मिश्र' और कहीं 'श्रीकृष्ण चैतन्यचन्द्र' मिलता है। चौबीसवें वर्ष की समाप्ति पर इन्होंने वैराग्य ले लिया। वे कर्मकांड के विरोधी और श्रीकृष्ण के प्रति आस्था के समर्थक थे। चैतन्य मत का एक नाम 'गौड़ीय वैष्णव मत'

भी है। चैतन्य ने अपने जीवन का शेष भाग प्रेम और भक्ति का प्रचार करने में लगाया। उनके पंथ का द्वार सभी के लिए खुला था। हिन्दू और मुसलमान सभी ने उनका शिष्यत्व ग्रहण किया। इनके अनुयायी चैतन्य को विष्णु का अवतार मानते हैं। अपने जीवन के अठारह वर्ष उन्होंने उड़ीसा में बिताये। छह वर्ष तक वे दक्षिण भारत, वृन्दावन आदि स्थानों में विचरण करते रहे। छः वर्ष मथुरा से जगन्नाथ तक के सुविस्तृत प्रदेश में अपने सिद्धांतों का प्रचार किया तथा कृष्ण की भक्ति की ओर लोगों को प्रवृत्त किया।

चैतन्य महाप्रभु का प्रभाव

चैतन्य महाप्रभु ने 'अचिन्त्य भेदाभेदवाद' का प्रवर्तन किया, किन्तु प्रामाणिक रूप से इनका कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता। इनके कुछ शिष्यों के मतानुसार 'दशमूल श्लोक' इनके रचे हुए हैं। अन्य सम्प्रदायों के प्रवर्तकों ने अपने मत की पुष्टि के लिए भाष्य और अन्य ग्रन्थ लिखे हैं, जबकि चैतन्य ने ब्रह्मसूत्र, गीता आदि पर भी भाष्य नहीं लिखे।

यह आश्चर्यजनक की बात ही है कि भाष्य आदि की रचना न करने पर भी महाप्रभु चैतन्य को एक बड़े भारी सम्प्रदाय का प्रवर्तक माना गया। यह सम्भवतः इस कारण सम्भव हुआ कि इनका मत अत्यधिक भावात्मक रहा, अतः उसको आम लोगों का समर्थन प्राप्त हो गया। इस प्रकार यह भी कहा जा सकता है कि चैतन्य महाप्रभु का आचार्यात्व शास्त्र विश्लेषण पर उतना आधारित नहीं, जितना कि उनके व्यावहारिक प्रभाव पर आधारित रहा। इनके उत्तरवर्ती शिष्यों ने उस शास्त्रीय आधार के अभाव की भी पूर्ति कर दी, जो भाष्य की रचना न करने के कारण इस सम्प्रदाय में चल रहा था। भक्ति को आधार बनाकर चैतन्य ने यथापि कोई नई परम्परा नहीं चलाई, फिर भी भावविहलता का जितना पुट चैतन्य ने भक्ति में मिलाया, उतना किसी अन्य ने नहीं।

वल्लभाचार्य आदि ने धर्म के और भक्ति के विधानात्मक पक्ष को महत्त्व दिया था, जबकि चैतन्य ने भावात्मक पक्ष को प्रश्रय दिया। चैतन्य की विचारधारा पर पांचरात्र साहित्य, भागवत, पुराण तथा गीत गोविन्द का सर्वाधिक प्रभाव पड़ा। विभिन्न रूपों में प्रचलित और लिपिबद्ध कृष्ण की कथा ने उनके व्यक्तित्त्व को भीतरी भाग तक अवश्य ही छुआ होगा।

यों तो सारा भारत ही चैतन्य से प्रभावित हुआ, किन्तु पश्चिम बंगाल का जनजीवन तो उनकी विचारधारा के साथ आमूलचूल एकाकार हो गया।

फलस्वरूप न केवल हिन्दू अपितु तत्कालीन मुसलमान भी उनके मत से प्रभावित हुए बिना न रह सके। भक्ति भावना के अपेक्षाकृत ह्रास के बावजूद अब भी चैतन्य का प्रभाव समाज में लगातार अक्षुण्ण बना हुआ है। महाप्रभु की प्रभुता बढ़ाने और बनाए रखने में उनकी सुन्दरता, मृदुता, साहसिकता, सूझबूझ, विद्वत्ता और शालीनता का बड़ा हाथ रहा है।

चैतन्य महाप्रभु के सिद्धांत

चैतन्य महाप्रभु अपने मत की शास्त्रीय व्याख्याओं में अधिक नहीं उलझे, फिर भी उनके प्रवचनों के आधार पर उनके अनुयायियों ने उनके सम्प्रदाय की मान्यताओं का जो विश्लेषण किया, उसके अनुसार 'अचिन्य भेदाभेदवाद' में निर्दिष्ट प्रमुख तत्त्वों का स्वरूप निम्नलिखित रूप से समझा जा सकता है–

ब्रह्म

चैतन्य के अनुसार ब्रह्म का स्वरूप विशुद्ध आनन्दात्मक है। ब्रह्म विशेष है और उसकी अन्य शक्तियाँ विशेषण हैं। शक्तियों से विशिष्ट ब्रह्म को ही भगवान कहा जाता है। ब्रह्म, ईश्वर, भगवान और परमात्मा ये संज्ञाएं एक ही तत्त्व की हैं। अचिन्त्य भेदाभेदवादी आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में जिस तत्त्व को ईश्वर कहा है, वह ब्रह्म ही है। ईश्वर एक और बहुभाव से अभिन्न होने पर भी गुण और गुणों तथा देह और देही भाव से भिन्न भी है। गुण और गुणी का परस्पर अभेद भी माना जाता है, इसलिए ब्रह्म गुणात्मा भी कहलाता है। भेद जल और उसकी तरंगों की भिन्नता के समान है। जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय का आधार भी ब्रह्म ही है। वही जगत् का उपादान तथा निमित्त कारण है। ब्रह्म की तीन शक्तियाँ मानी गई हैं– परा, अपरा और अविद्या। परा शक्ति के कारण ब्रह्म जगत् का निमित्त कारण है तथा अपरा और अविद्या (माया) शक्ति के कारण ब्रह्म जगत् का उपादान कारण माना जाता है। अभिव्यक्ति की दृष्टि से ब्रह्म की शक्ति के तीन रूप हैं– सेवित्, संघिनी और ह्लादिनी। चैतन्य के अनुसार ब्रह्म ऐश्वर्य और माधुर्य दोनों से ही युक्त है। यही कारण है कि 'षट्सन्दर्भ' के लेखक ने कृष्ण के विग्रह को भी ब्रह्म से अभिन्न मानने का प्रयास किया और कृष्ण को ही परमशक्ति बताया। जीव गोस्वामी के कथनानुसार ब्रह्म जगत् के स्रष्टा के रूप में भगवान कहलाता है। बलदेव विद्याभूषण सत्ता, महत्ता और स्नेह की अवस्थिति के कारण ब्रह्म को ही 'हरि', 'नारायण' या 'कृष्ण' कहते हैं।

जगत

चैतन्य के अनुसार जगत् की सृष्टि ब्रह्म की अविद्या अथवा माया शक्ति के द्वारा होती है। जगत् ईश्वर से भिन्न होते हुए भी उसके अधीन होने के कारण अभिन्न है। जगत् 'भ्रम' नहीं अपितु 'सत्य' है। प्रकृति और माया को चैतन्य सम्प्रदाय में अभिन्न माना गया है। अतः प्रकृति को ब्रह्म की शक्ति कहा गया है। प्रलय काल में भी प्रकृति की स्थिति सूक्ष्म रूप में बनी रहती है। अतः प्रपंच ब्रह्म से न तो पूर्णतया भिन्न है और न ही अभिन्न। वस्तुतः इनकी भिन्नाभिन्नतात्मकता अचिन्त्य हैं–

स्वरूपा/ाभिन्नत्वेन चिन्तयितुमशक्यत्वाद भेदः, भिन्नत्वेन चिन्तयि तुम शक्यत्वादभेदश्च प्रतीयते इति शक्ति मतो भेदाभेददांवंगीकृतो तौ च अचिन्त्यौ।

चैतन्य जगत् को न तो शाश्वत मानते हैं और न ही मिथ्या। यदि जगत् नित्य माना जाये तो कार्यकारण सम्बन्धों की अवस्थिति नहीं मानी जा सकती। यदि जगत् को मिथ्या माना जाये तो मिथ्या से मिथ्या की उत्पत्ति मानना असंगत ही है। अतः चैतन्य का यह विचार है कि जगत् अपने मूल (निमित्त कारण) में अव्यक्त रूप से रहता है, उस अवस्था में वह नित्य है, किन्तु व्यक्तावस्था में वह अनित्य है।

जीव

चैतन्य के अनुसार जीव ब्रह्म से पृथक् है। यह अणु परिणाम है। जीव में सत्व, रजस् तथा तमस् ये तीनों गुण विद्यमान रहते हैं। ब्रह्म प्रलय के अनन्तर 'एको*हं बहुस्याम्' की इच्छा से जीव की पुष्टि करता है। जीव अपने स्वरूप को माया के कारण भूल जाता है। जिस प्रकार सूर्य की किरणें सूर्य से पृथक् नहीं हैं, उसी प्रकार जीव भी वास्तव में ब्रह्म से पृथक् नहीं है, किन्तु अभिव्यक्ति के समय जीव की पृथक् सत्ता से इन्कार नहीं किया जा सकता। चैतन्य के अनुसार जीव ब्रह्म की अभिव्यक्ति है, आभास नहीं। भक्ति के द्वारा जीव अपने मूल स्वरूप को प्राप्त कर सकता है। जीव भी अणु चैतन्य है, वह नित्य है। बलदेव विद्याभूषण के अनुसार ईश्वर, जीव, प्रकृति और काल ये चार पदार्थ नित्य हैं और इन चारों में से अन्तिम तीन प्रथम के अधीन हैं। इसी कारण जीव को ईश्वर की 'शक्ति' और ब्रह्म को 'शक्तिमान' भी कहा जा सकता है। चैतन्य ने जीवतत्त्व को शक्ति और कृष्ण तत्त्व को शक्तिमान कहा है। जीव दो प्रकार के होते हैं, नित्यमुक्त और नित्य संसारी।

माया

चैतन्य मतानुयायियों ने माया को ब्रह्म की परिणाम शक्ति कहा और उसके दो भेद बताए–

तत्र सा मायाख्या परिणाम शक्तिश्च द्विविधा वर्ण्यते, निमित्ताशो माया उपादानांशः प्रधानम् इति। तत्र केवला शक्तिर्निमित्तम्, तद व्यूहमयी तूपादानमिति विवेकः।

ब्रह्म की परिणाम शक्ति के निमित्तांश को निमित्त माया और उपादानांश को उपादार्नामाया भी कहा गया है। निमित्त माया के काल, दैव, कर्म और स्वभाव के चार भेद बताये गए हैं और उपादान भाषा में द्रव्य, क्षेत्र, प्राण, आत्मन् और विकार का समावेश माना गया है।

मोक्ष

चैतन्य के मतानुसार भक्ति ही मुक्ति का साधन है। जीव दो प्रकार के होते हैं, नित्य मुक्त और नित्य संसारी। नित्य मुक्त जीवों पर माया का प्रभाव नहीं पड़ता और ब्रह्म की स्वरूप शक्ति के अधीन वे सदा मुक्त रहते हैं। नित्य संसारी जीव माया के अधीन रहते हैं। ऐसे जीवों के दो भेद होते हैं, बहिर्मुख और विद्वेषी। बहिर्मुख जीवों के दो भेद हैं– अरुचिग्रस्त और वैकृत्यग्रस्त। माया ग्रस्त जीवों का मोक्ष अनेक योनियों में भ्रमण करने के अनन्तर सत्संग से संभव होता है। ज्योंहि माया ग्रस्त जीव माया के बन्धन से छूटने का उपक्रम करता है, त्यौंहि भगवान भी उस पर अपनी कृपा न्यौछावर कर देते हैं। चैतन्य मतानुयायियों के अनुसार मुक्ति पांच प्रकार होती है–

- सालोक्य
- सार्ष्टि
- सारूप्य
- सामीप्य
- सायुज्य।

इन सब मुक्तियों में से सायुज्य को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है। अद्वैतवादियों के अनुसार तो यह (सायुज्य मुक्ति) मोक्ष ही है, यानी जीव की पृथक् सत्ता का इस अवस्था में अवसान हो जाता है। किन्तु चैतन्य मतानुयायियों के अनुसार जीव का कभी ब्रह्म में विलय नहीं होता, सायुज्य मुक्ति में भी ब्रह्म

और जीव का नित्य सहअस्तित्त्व बना रहता है। यद्यपि गौड़ीय वैष्णव मतानुसार जीव के ब्रह्म में शाश्वत विलय का सर्वथा निषेध नहीं किया गया है, किन्तु वे इस प्रकार के विलय से भी अधिक महत्त्व उस स्थिति को देते हैं, जिसमें जीव ब्रह्म के साथ सहअस्तित्त्व का आनन्द उठाता रहे। किन्तु उस अवस्था में जीव ब्रह्म से भिन्न रहता है या अभिन्न। यह प्रश्न या इसका उत्तर चैतन्य मतानुयायियों के अनुसार 'अचिन्त्य' है।

चैतन्य महाप्रभु का मत

चैतन्य महाप्रभु के मत को अचिन्त्य भेदाभेदवाद के नाम से पुकारा जाता है। अत: यह जानना भी आवश्यक है कि अचिन्त्य का अर्थ क्या है।

श्रीधर स्वामी के अनुसार अचिन्त्य वह ज्ञान है, जो तर्कगम्य नहीं होता। 'अचिन्त्यम् तर्कासहं यज्ञज्ञानम्।'

जबकि जीव गोस्वामी के अनुसार अचिन्त्य का अर्थ है– 'अर्थापत्तिगम्य'– 'भिन्नाभिन्नत्वादिविकल्पेश्चिन्तयितुमशक्य: केवलमर्थापत्ति ज्ञानगोचररू।'

जीव गोस्वामी ने भागवत संदर्भ में यह भी कहा है कि वह शक्ति जो असम्भव को भी सम्भव बना दे अथवा अभेद में भी भेद का दर्शन करवा दे, अचिन्त्य कहलाती है।

जिस प्रकार अग्नि में ज्वलन शक्ति तथा जैसे भगवान श्रीकृष्ण में सोलह हजार रानियों के समक्ष एक साथ ही रहने की शक्ति है, किन्तु उसकी कोई तार्किक व्याख्या नहीं की जा सकती, उसी प्रकार अभेद में भेद की सत्ता है, किन्तु उसका तार्किक विश्लेषण नहीं किया जा सकता, वह अचिन्त्य है।

बलदेव विद्याभूषण ने अचिन्त्य की व्याख्या में विशेष शब्द का भी सन्निवेश कर दिया और इस प्रकार उन्होंने अभेद में भेद का आधार विशेष को ही बतलाया और एक प्रकार से विशेष को अचिन्त्य का पर्यायवाची मानने का उपक्रम किया।

चैतन्य मतानुयायियों के अनुसार न केवल भेदाभेद के विश्लेषण के लिए, अपितु श्रुतियों की व्याख्या के लिए भी अचिन्त्य शक्ति के अस्तित्त्व को स्वीकार करना आवश्यक है। उदाहरण के लिए बृहदारण्यक उपनिषद में कहा गया है– 'विज्ञानम् आनन्दं ब्रह्म।' इस श्रुति वाक्य में यदि आनन्द और विज्ञान को समानार्थक माना जाये तो दोनों शब्दों में से एक का प्रयोग व्यर्थ हो उठेगा। इसके विपरीत यदि दोनों शब्दों को समानार्थक न माना जाये तो ब्रह्म में स्वत: ही भेद

मानना पड़ेगा। इस समस्या का समाधान अचिन्त्य शक्ति के आधार पर ही सम्भव है। अतः चैतन्य का मत, यदि 'अचिन्त्य भेदाभेद' नाम से प्रसिद्ध हुआ तो यह श्रुति व्याख्यान की दृष्टि से भी उपयुक्त ही है।

अचिन्त्य भेदाभेदवाद का तुलनात्मक विश्लेषण

शंकर के अनुसार निर्विकल्पक ब्रह्म ही एकमात्र परम सत्य है और सम्यक ज्ञान ही उसकी प्राप्ति का एक मात्र साधन है। जबकि चैतन्य ब्रह्म को सविकल्पक मानते हैं और भक्ति को ही उसकी प्राप्ति का साधन बतलाते हैं। शंकर के अनुसार ब्रह्म 'सत्-चित्-आनन्दमय' है। पर श्रद्धालुओं का भजन-कीर्तन, गोवर्धन, मथुरा,, निर्विकल्पक प्रत्यक्ष से सत् का ज्ञान होता है। सत् ही चिन्मय है। रामानुज, वल्लभ और मध्व निर्विकल्पक ज्ञान की सत्ता को स्वीकार नहीं करते। चैतन्य मतानुयायी जीव गोस्वामी भी वैसे तो निर्विकल्पक ब्रह्म की सत्ता को स्वीकार नहीं करते, किन्तु उनका यह भी कथन है कि यदि निर्विकल्पक ब्रह्म को मानना ही हो तो अधिक-से-अधिक यह कहा जा सकता है कि वह सविकल्पक ब्रह्म का अपूर्ण दर्शन है। चैतन्य मतानुयायियों के अनुसार ब्रह्म केवल भक्तिगम्य है। वल्लभाचार्य का भक्ति मार्ग और चैतन्य का भक्ति मार्ग प्रायः एक जैसा ही है। निम्बार्क का 'द्वैताद्वैतवाद' और चैतन्य का 'अचिन्त्य भेदाभेदवाद' भी एक दूसरे से बहुत भिन्न नहीं है। मध्व के मत से तो चैतन्य मत का अत्यधिक साम्य स्पष्ट होता है। श्री मध्व और चैतन्य दोनों के मतानुसार ब्रह्म सगुण और सर्विशेष है।

जीव अणु और सेवक है। जीव की मुक्ति भक्ति से होती है। जगत् सत्य है और ब्रह्म भी जगत् का निमित्त और उपादान कारण है। जीव और ब्रह्म मुक्तावस्था में भी भिन्न रहते हैं। किन्तु मध्व के मत से इतना साम्य होने पर भी चैतन्य का मत इस दृष्टि से कुछ पृथक् है कि चैतन्य के मत में गुण और गुणी भाव से जीव और ब्रह्म को अभिन्न और भिन्न माना जाता है। उपासना की दृष्टि से भी दोनों में यह अन्तर है कि जहाँ मध्व ब्रह्म और जीव में सेव्य-सेवक भाव को ही स्फूर्ति मानते हैं, वहाँ गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय में ब्रह्म और जीव के बीच दास्य के अतिरिक्त शान्त, सख्य, वात्सल्य और मधुर भाव को भी स्थान दिया गया है। जीव गोस्वामी ब्रह्म को अद्वय ज्ञानतत्त्व बतलाते हैं। अद्वैतवादियों ने भी यद्यपि इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग किया है, किन्तु वहाँ पर शंकर का यह विचार कि ब्रह्म 'अद्वय' है, क्योंकि उसके अतिरिक्त कोई दूसरा तत्त्व है ही नहीं, वहाँ रूप गोस्वामी के अनुसार

ब्रह्म अद्वय है, क्योंकि वैसा ही कोई दूसरा तत्त्व ब्रह्माण्ड में विद्यमान नहीं है। जीव गोस्वामी भगवान को परम तत्त्व और ब्रह्म को निर्विशेष मानते हैं। ब्रह्म में शक्तियाँ अव्यक्त रूप से रहती हैं। भगवान में वे क्रियाशीलता के साथ रहती हैं। इन दोनों स्थितियों के बीच की एक अन्य स्थिति है, जिसमें ब्रह्म को परमात्मा कहा जाता है। माया शक्ति का सम्बन्ध परमात्मा से ही है।

चैतन्य महाप्रभु की सगुण भक्ति

चैतन्य महाप्रभु सगुण भक्ति को महत्त्व देते थे। भगवान का वह सगुण रूप, जो अपरिमेय शक्तियों और गुणों से पूर्ण है, उन्हें मान्य रहा। जीव उनकी दृष्टि में परमात्मा का शाश्वत अंश होते हुए भी परमात्मा का सेवक है। परमात्मा के अनेक नामों में अनेक शक्तियों का परिगणन किया गया है। अतः उन नामों का संकीर्तन ही जीव की बन्धनमुक्ति का एकमात्र साधन है।

चैतन्य के मत में भक्ति

चैतन्य ने कृष्ण को भगवान का अवतार नहीं, अपितु स्वयं भगवान माना है। यह भी एक उल्लेखनीय बात है कि चैतन्य के अनुयायियों ने कृष्णदास कविराज, वृन्दावन और लोचनदास ने चैतन्य को कृष्ण का अवतार माना है, इसी भावना के आधार पर चैतन्य को 'श्री कृष्ण चैतन्य' भी कहा जाता है। चैतन्य ने भक्ति को ही मोक्ष का साधन माना है। वस्तुतः भगवान प्रीति के अनुभव को ही वे मोक्ष मानते हैं, और प्रीति के लिए भक्ति के समान कोई दूसरा साधन नहीं है। भक्ति के द्वारा जीव ईश्वर के समान स्थिति प्राप्त कर लेता है। ईश्वर से अभिन्न तो वह नहीं हो सकता, किन्तु भक्ति के द्वारा जीव को इतना अधिक आन्तरिक सामीप्य प्राप्त हो जाता है कि जीव फिर कभी ब्रह्म के समीप से अलग नहीं होता। भक्ति के लिए गुरु की कृपा भी आवश्यक है। चैतन्य के भक्ति मार्ग में तर्क का कोई स्थान नहीं है। चैतन्य के मतानुसार भक्ति वस्तुतः आध्यात्मिक स्नेह है। ब्रह्म की संवित् एवं ह्लादिनीशक्ति का सम्मिश्रण ही भक्ति है। यद्यपि ज्ञान और वैराग्य भी मुक्ति के साधन हैं, किन्तु भक्ति प्रमुख साधन है, जबकि ज्ञान और वैराग्य सहकारी साधन है। ह्लादिनी शक्ति का सार होने के कारण भक्ति आनन्दरूपिणी होती है और संवित् शक्ति का सार होने के कारण भक्ति ज्ञानरूपिणी भी है। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि चैतन्य के मत में भक्ति एक साधना मार्ग ही नहीं, अपितु ज्ञान और विज्ञान का सार भी है।

बलदेव विद्याभूषण के अनुसार भक्ति मार्ग की तीन अवस्थाएं हैं– साधन, भाव और प्रेम। इन्द्रियों के माध्यम से की जाने वाली भक्ति जीव के हृदय में भगवत प्रेम को जागृत करती है। इसीलिए इसको साधन भक्ति कहा जाता है। भाव प्रेम की प्रथम अवस्था का नाम है, अतः भक्ति मार्ग की प्रक्रिया में भाव भक्ति का दूसरा स्थान है। जब भाव घनीभूत हो जाता है, तब वह प्रेम कहलाने लगता है। यही भक्ति की चरम अवस्था है और इस सोपान पर पहुँचने के बाद ही जीव मुक्ति का पात्र बनता है। साधन भक्ति के दो भेद हैं– वैधी और रागानुगा। शास्त्रीय विधियों द्वारा प्रवर्तित भक्ति वैधी और भक्त के हृदय में स्वाभाविक रूप से जागृत भक्ति रागानुगा कहलाती है।

भक्ति की पात्रता

चैतन्य के मतानुसार भक्ति की पात्रता उन लोगों में ही होती है, जो सांसारिक मामलों से न तो एकदम विरक्त होते हैं, और न ही एकदम अनुरक्त और भगवान की जो पूजा और नाम संकीर्तन में विश्वास रखते हैं। ऐसे लोग तीन कोटियों में रखे जा सकते हैं– उत्तम, मध्यम और निकृष्ट। उत्तम कोटि में वे आते हैं, जो वेदशास्त्र ज्ञाता होने के साथ साथ पूर्ण आत्मा और दृढ़ संकल्प से भगवान की भक्ति में रत होते हैं। मध्यम कोटि के भक्त वे हैं, जो वेदशास्त्रवेत्ता न होते हुए भी भगवतभक्ति में दृढ़ आस्था रखते हैं। निकृष्ट कोटि के भक्तों में उन लोगों की गिनती होती है, जिनकी आस्था और संकल्प दृढ़ नहीं रहते। आनन्द प्राप्ति और मोक्ष प्राप्ति की इच्छा जिस व्यक्ति के मन से दूर नहीं हुई, वह भक्ति मार्ग पर नहीं चल सकता। उत्तमा भक्ति का लक्षण रूप गोस्वामी ने इस प्रकार बताया है–

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकमद्यिनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णनुशीलनं भक्तिःत्तमा।।

चैतन्य की भक्ति पद्धति वस्तुतः व्यवहार का विषय अधिक है। यही कारण है कि चैतन्य मतानुयायियों ने भक्ति के भेदोपभेद या अन्य सैद्धांतिक पक्षों पर अधिक बल नहीं दिया। रूप गोस्वामी के भक्ति 'रसामृतसिन्धु' और 'उज्ज्वल नीलमणि' नामक ग्रन्थों तथा जीव गोस्वामी के 'भक्ति संदर्भ' नामक ग्रन्थ में भी इस तथ्य पर अधिक बल दिया गया है कि भक्ति केवल एक मार्ग ही नहीं, अपितु अपने आप में पंचम पुरुषार्थ है। रूप गोस्वामी का तो यहाँ तक कहना है कि मनुष्य के हृदय में रति के रूप में भक्ति का अंकुर उद्‌भूत होने के अनन्तर पुरुषार्थ चतुष्टय की कोई वांछा शेष नहीं रहती।

चैतन्य की भक्तिपरक विचारधारा

'चैतन्य संप्रदाय' को 'गौड़ीय संप्रदाय' भी कहा जाता है। इसके प्रवर्तक चैतन्य महाप्रभु थे। गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय में भक्तों या साधकों का उल्लेख नित्य सिद्ध, साधना सिद्ध और कृपासिद्ध के रूप में भी किया जाता है–

'नित्य सिद्धि' भक्त वे हैं, जो कृष्ण के साथ नित्यवास करने की पात्रता अर्जित कर लेते हैं– जैसे गोपाल।

'साधना सिद्ध' वे हैं, जो प्रयत्नपूर्वक कृष्ण का सान्निध्य प्राप्त करते हैं।

'कृपा सिद्ध' वे हैं, जो कृपा से ही सान्निध्य प्राप्त करते हैं।

यद्यपि चैतन्य मतानुयायियों ने ज्ञानयोग और कर्मयोग की अपेक्षा भक्तियोग को अधिक ग्राह्य माना है, किन्तु उनके कथन यत्र-यत्र इस रूप में भी उपलब्ध हो जाते हैं कि यदि ज्ञानयोग और कर्मयोग का पालन समुचित रूप में किया जाए तो वे भक्ति की प्राप्ति भी करवा सकते हैं। अत: कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि चैतन्य की भक्तिपरक विचारधारा में ज्ञान और कर्म के सम्बन्ध में भी संकीर्णता नहीं है। इसके साथ ही यह भी एक ध्यान देने योग्य बात है कि चैतन्य ने वेदान्त के सभी सम्प्रदायों के प्रति भी एक बहुत ही स्वस्थ दृष्टिकोण अपनाया है।

गुरु का महत्त्व

चैतन्य द्वारा निर्दिष्ट भक्ति मार्ग में गुरु का अत्यधिक महत्त्व है। गुरु द्वारा दीक्षित होने के अन्तर नामोच्चारण करना अपेक्षित है। तदनन्तर भक्त को सांसारिक विषयों का त्याग वृन्दावन, द्वारका, आदि तीर्थों या गंगातट पर निवास, आयाचित खाद्य सामग्री से जीवन निर्वाह, एकादशी का व्रत रखना, पीपल के पेड़ पर पानी चढ़ाना, आदि कार्य करने चाहिए। नास्तिकों के संग का त्याग, अधिक लोगों को शिष्य न बनाना, भद्दे वार्तालाप में न उबलना आदि भी भक्ति मार्ग के अनुयायियों के लिए अनिवार्य है। भक्तों के लिए तुलसी का भक्षण, भागवत का श्रवण तथा कृष्ण संकीर्तन, सत्संग आदि भी अनिवार्य हैं।

जप का स्थान

चैतन्य की भक्ति पद्धति में जप का अपना विशिष्ट स्थान है। विज्ञप्तिमय प्रार्थना, श्रवण और स्मरण, ध्यान और दास्यभाव भी आवश्यक है। चैतन्य

मतानुयायियों का यह भी कथन है कि कृष्ण द्वारकाधाम में पूर्ण रूप से, मथुरा में पूर्णतर रूप से और वृन्दावन में पूर्णतम रूप से बिराजते हैं। इस पूर्णतम भक्ति के लिए वृन्दावन ही सर्वोत्तम स्थान है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि 'चैतन्य' वस्तुतः एक दार्शनिक ही नहीं, एक महान् भक्त ही नहीं और एक महापुरुष ही नहीं, अपितु भारतीय मानस में बड़ी गहराई से बसी हुई ऐसी भावना है, जो चिरकाल तक भारतीय समाज को अनुप्रमाणित करती रहेगी।

विधवाओं को प्रभु भक्ति की प्रेरणा

चैतन्य महाप्रभु ने विधवाओं को वृंदावन आकर प्रभु भक्ति के रास्ते पर आने को प्रेरित किया था। वृंदावन करीब 500 वर्ष से विधवाओं के आश्रय स्थल के तौर पर जाना जाता है। कान्हा के चरणों में जीवन की अंतिम सांसें गुजारने की इच्छा लेकर देशभर से यहां जो विधवाएं आती हैं, उनमें अधिकांशतः 90 फीसदी बंगाली हैं। अधिकतर अनपढ़ और बांग्लाभाषी। वृंदावन की ओर बंगाली विधवाओं के रुख के पीछे मान्यता यह है कि भक्तिकाल के प्रमुख कवि चैतन्य महाप्रभु का जन्म 1486 में पश्चिम बंगाल में हुआ था। वे 1515 में वृंदावन आए और उन्होंने अपना शेष जीवन वृंदावन में व्यतीत किया। निराश्रित महिलाओं के अनुसार, इसलिए उनका यहां से लगाव है। कहा जाता है चैतन्य महाप्रभु ने बंगाल की विधवाओं की दयनीय दशा और सामाजिक तिरस्कार को देखते हुए उनके शेष जीवन को प्रभु भक्ति की ओर मोड़ा और इसके बाद ही उनके वृंदावन आने की परंपरा शुरू हो गई।

हरिनाम संकीर्तन

चैतन्य महाप्रभु ने 24 वर्ष की अवस्था में लोककल्याण की भावना से संन्यास धारण किया, जब भारत में चारों ओर विदेशी शासकों के भय से जनता स्वधर्म का परित्याग कर रही थी। तब चैतन्य महाप्रभु ने यात्राओं में हरिनाम के माध्यम से 'हरिनाम संकीर्तन' का प्रचार कर प्रेमस्वरूपा भक्ति में बहुत बड़ी क्रांति फैला दी।

दक्षिण की ओर प्रस्थान

सन्न्यास ग्रहण के पश्चात् श्री चैतन्य ने दक्षिण भारत की ओर प्रस्थान किया। उस समय दक्षिण में मायावादियों के प्रचार-प्रसार के कारण वैष्णव धर्म

प्राय: संकीर्तन का प्रचार न करते तो यह भारत वर्ष वैष्णव धर्म विहीन हो जाता। हरिनाम का स्थान-स्थान पर प्रचार कर चैतन्यदेव श्रीरंगम पहुँचे और वहां गोदानारायण की अद्‌भुत् रूपमाधुरी देख भावावेश में नृत्य करने लगे। श्री चैतन्य का भाव-विभावित स्वरूप देख मंदिर के प्रधान अर्चक श्रीवेंकट भट्ट चमत्कृत हो उठे और भगवान की प्रसादी माला उनके गले में डाल दी तथा उन्हें बताया कि वर्षाकालीन यह चातुर्मास कष्ट युक्त, जल प्लावन एवं हिंसक जीव-जन्तुओं के बाहुल्य के कारण यात्रा में निषिद्ध है, अत: उनके चार मास तक अपने घर में ही निवास की प्रार्थना की।

गोपाल भट्ट को दीक्षा

श्रीवेंकट भट्ट के अनुरोध पर श्रीचैतन्य देव के चार मास उनके आवास पर व्यतीत हुए। उन्होंने पुत्र श्रीगोपाल भट्ट को दीक्षित कर वैष्णव धर्म की शिक्षा के साथ शास्त्रीय प्रमाणों सहित एक स्मृति ग्रंथ की रचना का आदेश दिया। कुछ समय पश्चात् श्रीगोपाल भट्ट वृंदावन आए एवं वहां निवास कर उन्होंने पंचरात्र, पुराण और आगम निगमों के प्रमाण सहित 251 ग्रंथों का उदाहरण देते हुए 'हरिभक्ति विलास स्मृति' की रचना की। इस ग्रंथ में उन्होंने एकादशी तत्त्व विषय पर विशेष विवेचना की।

इस प्रसंग में आचार्य गौर कृष्ण दर्शन तीर्थ कहते हैं चातु: साम्प्रदायिक वैष्णवों के लिए आवश्यक रूप में एकादशी व्रत का महत्त्वपूर्ण स्थान है। एकादशी व्रत करने से जीवन के संपूर्ण पाप विनष्ट हो जाते हैं। इस व्रत को सहस्रों यज्ञों के समान माना गया है। ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासी तथा विधवा स्त्रियां भी एकादशी व्रत के अधिकारी हैं। एकादशी व्रत त्याग कर जो अन्न सेवन करता है, उसकी निष्कृति नहीं होती। जो व्रती को भोजन के लिए कहता है, वह भी पाप का भागी होता है।

चैतन्य महाप्रभु के नृत्य का रहस्य

श्रीराधा तथा श्रीकृष्ण के मिलन में ही श्रीजगन्नाथ पुरी में श्री चैतन्य महाप्रभु जी के अभिनय का रहस्य छुपा हुआ है। श्रीमहाप्रभु के कुछ ही पार्षद इसे समझते हैं। इस्कान के संस्थापक ए. सी. भक्तिवेदान्त स्वामी महाराज जी का कहना था कि रथयात्रा उत्सव का सारा भाव श्रीकृष्ण को कुरुक्षेत्र से वृन्दावन वापस लाने का है। पुरी स्थित श्रीजगन्नाथ जी का भव्य मन्दिर द्वारका राज्य को

प्रदर्शित करता है, जहाँ श्रीकृष्ण परम-ऐश्वर्य का भोग करते हैं तथा गुण्डिचा मन्दिर, वृन्दावन का रूप है, जहाँ भगवान को लाया जाता है, जो कि उनकी मधुरतम लीलाओं की जगह है।

राधारानी की भूमिका अदा करते हुए श्री चैतन्य महाप्रभु जी उनके भाव में रथयात्रा के समय रथ के पीछे रहकर भगवान जगन्नाथ जी की परीक्षा की लीला करते हैं, 'क्या श्रीकृष्ण हमारा स्मरण करते हैं? मैं यह देखना चाहता हूँ कि क्या सचमुच उन्हें हमारी परवाह है? यदि परवाह है तो वे अवश्य ही प्रतीक्षा करेंगे और यह पता लगाने की प्रयत्न करेंगे कि हम कहाँ हैं?' आश्चर्य की बात तो यह है कि श्री महाप्रभु जी जब-जब रथ के पीछे चले जाते, तब-तब रथ रुक जाता। भगवान श्रीजगन्नाथ प्रतीक्षा करते और देखने का प्रयास करते कि राधा कहाँ है? व्रजवासी कहाँ हैं? भगवान श्रीजगन्नाथ, जो कि साक्षात् श्रीकृष्ण हैं, श्री चैतन्य महाप्रभु को यह दिव्य भाव बतलाना चाहते हैं कि यद्यपि मैं वृन्दावन से दूर था, किन्तु मैं अपने भक्तों को, विशेषतया राधारानी को भूला नहीं हूँ।

भगवान चैतन्य महाप्रभु के लिए भगवद्-भजन ही सर्वस्व था। वे नृत्य करते हुए कीर्तन करते और मग्न रहते थे। उन्हें भौतिक दुनिया के लोगों से सरोकार नहीं रहता था और इसी कारण उनके जान-पहचान का दायरा सीमित था। बात उन दिनों की है, जब चैतन्य महाप्रभु श्रीवास पंडित के आवास में रहते थे। श्रीवास पंडित के आंगन में उनका नृत्य-कीर्तन चलता रहता। श्रीवास पंडित के घर के सारे सदस्य और नौकर-चाकर चैतन्य महाप्रभु को जानते थे और उनके प्रति श्रद्धा-भाव रखते थे, किंतु महाप्रभु कभी आगे रहकर किसी से बातचीत नहीं करते थे। वहीं पर एक सेविका काम करती थीं, जो चैतन्य महाप्रभु के लिए प्रतिदिन जल लेकर आती थी। महाप्रभु ने तो कभी उस पर ध्यान नहीं दिया, किंतु वह उनके प्रति अत्यंत श्रद्धा-भाव से भरी हुई थी और सोचती थी कभी तो भगवान उसे आशीष देंगे।

उसकी सेवा तो साधारण थी, किंतु धैर्य अटल था और इस कारण विश्वास भी प्रबल था। अंततः एक दिन महाप्रभु को बहुत गर्मी लगने लगी और उन्होंने स्नान करने की इच्छा प्रकट की। तब उपस्थित भक्तों ने उसी सेविका को जल लाने के लिए कहा। वह दौड़-दौड़कर अनेक घड़े भरकर लाई और फिर श्रीवास आंगन में भक्तों ने मिलकर महाप्रभु को स्नान कराया। उस दिन महाप्रभु ने स्वयं के लिए इतना परिश्रम करने वाली सेविका को देखा, उसके श्रद्धा भाव सेवा-कर्म को पहचाना और उसके सिर पर हाथ रखकर हार्दिक आशीर्वाद दिया।

सेविका धन्य हो गई, क्योंकि उसका अभिलाषित सुख उसे प्राप्त हो गया। धैर्य धारण करने पर मन में विश्वास की ऐसी अखंड जोत जलती है, जो कृपा में अवश्य ही परिणति होती है। वस्तुत: धैर्य से प्राप्त विश्वास ही निर्धारित लक्ष्य तक पहुँचाता है।

चैतन्य महाप्रभु की विलक्षण प्रतिभा

चैतन्य महाप्रभु विलक्षण प्रतिभा के धनी थे। न्यायशास्त्र में इनको प्रकांड पाण्डित्य प्राप्त था। कहते हैं कि इन्होंने न्यायशास्त्र पर एक अपूर्व ग्रंथ लिखा था, जिसे देख कर इनके एक मित्र को बड़ी ईर्ष्या हुई, क्योंकि उन्हें भय था कि इनके ग्रंथ के प्रकाश में आने पर उनके द्वारा प्रणीत ग्रंथ का आदर कम हो जाएगा। इस पर श्री चैतन्य ने अपने ग्रंथ को गंगा जी में बहा दिया।

चौबीस वर्ष की अवस्था में चैतन्य महाप्रभु ने गृहस्थाश्रम का त्याग करके संन्यास लिया। इनके गुरु का नाम केशव भारती था। इनके जीवन में अनेक अलौकिक घटनाएं हुई, जिनसे इनके विशिष्ट शक्ति-सम्पन्न भगवद्विभूति होने का परिचय मिलता है। इन्होंने एक बार अद्वैत प्रभु को अपने विश्वरूप का दर्शन कराया था। नित्यानंद प्रभु ने इनके नारायण रूप और श्रीकृष्ण रूप का दर्शन किया था। इनकी माता शची देवी ने नित्यानंद प्रभु और इनको बलराम और श्रीकृष्ण रूप में देखा था। चैतन्य-चरितामृत के अनुसार इन्होंने कई कोढ़ियों और असाध्य रोगों से पीड़ित रोगियों को रोग मुक्त किया था।

राधा-भाव

चैतन्य महाप्रभु के जीवन के अंतिम छ: वर्ष तो राधा-भाव में ही बीते। उन दिनों इनके अंदर महाभाव के सारे लक्षण प्रकट हुए थे। जिस समय यह कृष्ण प्रेम में उन्मत्त होकर नृत्य करने लगते थे, लोग देखते ही रह जाते थे। इनकी विलक्षण प्रतिभा और श्रीकृष्ण की भक्ति का लोगों पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि वासुदेव सार्वभौम और प्रकाशानंद सरस्वती जैसे वेदांती भी इनके क्षण मात्र के सत्संग से श्रीकृष्ण प्रेमी बन गए। इनके प्रभाव से विरोधी भी इनके भक्त बन गए और जगाई, मधाई जैसे दुराचारी भी संत हो गए। इनका प्रधान उद्देश्य भगवन्नाम का प्रचार करना और संसार में भगवद् भक्ति और शांति की स्थापना करना था।

उपदेश

महाप्रभु के भक्ति-सिद्धांत में द्वैत और अद्वैत का बड़ा ही सुंदर समन्वय हुआ है। इन्होंने कलिमल ग्रसित जीवों के उद्धार के लिए भगवन्नाम-संकीर्तन को ही प्रमुख उपाय माना है। इनके उपदेशों का सार है–

- मनुष्य को चाहिए कि वह अपने जीवन का अधिक से अधिक समय भगवान के सुमधुर नामों के संकीर्तन में लगाए। यही अंत:करण की शुद्धि का सर्वोत्तम उपाय है।
- कीर्तन करते समय वह प्रेम में इतना मग्न हो जाए कि उसके नेत्रों से प्रेमाश्रुओं की धारा बहने लगे, उसकी वाणी गद्‌गद् हो जाए और शरीर पुलकित हो जाए।
- भगवन नाम के उच्चारण में देश-काल का कोई बंधन नहीं है। भगवान ने अपनी सारी शक्ति और अपना सारा माधुर्य अपने नामों में भर दिया है। यद्यपि भगवान के सभी नाम मधुर और कल्याणकारी हैं, किंतु
- हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।।
- यह महामंत्र सबसे अधिक मधुर और भगवत प्रेम को बढ़ाने वाला है।

4

रामानन्द

रामानन्दी सम्प्रदाय (बैरागी सम्प्रदाय) के प्रवर्तक रामानन्दाचार्य का जन्म सम्वत् 1236 में हुआ था। जन्म के समय और स्थान के बारे में ठीक-ठीक जानकारी उपलब्ध नहीं है। शोधकर्ताओं ने जो जानकारी जुटाई है उसके अनुसार रामानन्द जी के पिता का नाम पुण्यसदन और माता का नाम सुशीला देवी था। उनकी माता नित्य वेणीमाधव भगवान की पूजा किया करती थीं। एक दिन वे मन्दिर में दर्शन करने गईं तो उन्हें दिव्योणी सुनाई दी-हे माता पुत्रवती हो। उनके आँचल में एक माला और दाहिनार्त शंख प्रकट हुआ। वह प्रसाद पाकर बहुत खुश हुई और पतिदेव को सारी बात बताई।

एक दिन माता ने देखा- आकाश से प्रकाश पुंज आ रहा है। वह प्रकाश उनके मुख में समा गया। माता डरकर बेहाश हो गईं। थोड़ी देर बाद उन्हें जब होश आया तो वे उठकर बैठ गईं। उस दिन से उनके शरीर में एक शक्ति का संचार होने लगा। शुष्लग्न में प्रात:काल आचार्य प्रकट हुए। उनके प्रकट होने के समय माता को बिल्कुल पीड़ा नहीं हुई। पुण्यसदन जी के घर बालक पैदा होने की खबर पाकर पूरा प्रयाग नगर उमड़ पड़ा। कुलपुरोहित ने उनका नाम रामानन्द रखा। बालक के लिए सोने का पालना लगाया गया। उनके शरीर पर कई दिव्य चिन्ह थे। माथे पर तिलक का निशान था। बालक के खेलने के समय एक तोता रोजाना उसके पास आ जाता और 'राम-राम' का शब्द करता। यह 'राम-राम' का शब्द उनके जीन का आधार बन गया। इस बालक के पास एकोनर और

कौआ भी रोजाना आता था। वह कौआ बालक के खिलौने लेकर उड़ जाता और बालक के मचलने पर वापस दे जाता। भादों के महीने में ऋषि-पंचमी के दिन अन्न प्रक्षालन का उत्सव मनाया गया। थाल में पकवान, खीर और लड्डू रखे गए लेकिन बालक रामानन्द ने केवल खीर को उंगली लगाई। माता ने थोड़ी-सी खीर मुख में खिला दी। उसके अलावा बालक को कुछ नहीं खाया। यह खीर ही आजीवन उनका आहार था।

एक दिन बालक रामानन्द खेलते हुए पूजा के मन्दिर में जा पहुँचे। उन्होंने दाहिन्नत शंख उठा लिया और बजाने लगे। पिता ने शंख को हाथ से छीन लिया और क्रोधित होने लगे। बालक रामानन्द बाहर भाग गया। बाद में उनके पिता को स्वप्न में वेणीमाधव भगवान ने शंख बालक को देने की आज्ञा की। प्रात:काल बालक को शंख बजाने को कहा। उस दिन से बालक रामानन्द दिन में तीन बार उस शंख को बजाते थे। पांच साल की उम्र में पिता ने कुछ ग्रन्थों के श्लोक सिखाए तो बालक ने तुरन्त याद कर लिए। एक साल में ही बालक रामानन्द ने कई ग्रन्थों को कण्ठस्थ कर लिया। प्रयाग कुम्भ में विद्वानों की एक सभा हुई। इसमें बालक रामानन्द को भी बुलाया गया। सभी विद्वानों ने इसमें अपने-अपने मत रखे। बालक रामानंद ने कहा- जैसे कमल के दल पर पानी की बूंद लटकती है वैसे ही जीव इस पृथ्वी पर हैं। पता नहीं कब उसके जाने का समय आ जाए? इसलिए बाद-विवाद छोड़ कर भगवान की भक्ति करनी चाहिए। इस पर सभी विद्वानों और भक्तों ने उनकी प्रशंसा तथा आरती की।

आठ साल की अवस्था में बालक का यज्ञोवतीत कराया गया। माघ शुक्ला द्वादशी के दिन विद्वानों ब्राह्मणों नें पलास का डंडा देकर काशी पढ़ने चलने के लिए कहा और कुछ देर बाद लौटने के लिए कहने लगे। लेकिन बालक रामानन्द लौटकर आने के लिए तैयार न हुए। तो उनको उनके पिता पंडित औंकार शर्मा के घर लेकर आए। पंडित औंकार शर्मा रामानन्द जी के मामा लगते थे। शर्मा जी उनकी बुद्धि चातुर्य को देखकर आनन्दित थे। कुमार ने कुछ ही दिनों में चारों वेद उपवेद को कण्ठस्थ कर उनके रहस्यों को समझ लिया।

उनकी प्रसिद्धि सुनकर नित्य-प्रति अनेकों लोग बालक को देखने आते। एक दिन सिद्ध देवी आई। उन्होंने कहा- मैं कालीखोह से आई हूं। उन्होंने बालक से संस्कृत में पूछा- हे कुमार, कौन-सी स्त्री है, जो बड़ी चंचल है और चित्त में छुपी रहती हैं? वह नए-नए पदार्थ लाकर व्यक्तियों के सामने रखती है। परन्तु एक बार कोई उसे देख लेता है तो वह सदा के लिए लुप्त हो जाती है। इस पर

बालक रामानन्द ने उत्तर दिया- उस स्त्री का नाम माया है। तब वृद्धा ने कहा- उससे ब्याह कर लो। तब कुमार ने कहा- उसकी इच्छा करते ही मुँह काला हो जाता है। ब्याह के समय मनुष्य लंगड़ा हो जाता है। वह माया अन्धी भी है। मैं तो ब्रह्मचारी हूं। सारे जगत का कल्याण करूंगा। वृद्धा ने आशीर्वाद दिया- ऐसा ही होगा और अपने स्थान पर चली गई। वह माता साक्षात् कालिका देवी थीं।

यह समद सुनकर उनके पिता को बड़ा दु:ख हुआ। वह शांडिल्य गोत्र के एक ब्राह्मण की कन्या माधवी से वह विवाह तय कर चुके थे। इस बात को सुनकर वे कुमारिल भट्ट की मीमांसा लेकर आए। इसमे लिखा था- ''एक बार विवाह अवश्य करना चाहिए।" विवाह न करने से अनेकों पाप लगते हैं। इस पर रामानन्द जी ने कहा- यह कर्मकाण्ड की बात है। जिसे ज्ञान और भक्ति की सिद्धि बाल्यकाल में ही हो जाए उसे कोई पाप नहीं लगता। ऐसा कहकर वह चुप हो गए। पिता ने समझा कि वे हंसी में ऐसा कह रहे हैं और विवाह की तैयारी में लग गए। कन्या माधवी ने स्वप्न में देखा- कोई देवता कह रहा है कि तूने रामानन्द से विवाह किया तो विधवा हो जाएगी। यह सुनकर उसके माता-पिता का उत्साह नष्ट हो गया। कन्या ने जीवन भर अविवाहित रहने की ठान ली और कठोर तप करने लगी। अन्न त्याग कर केवल लौंग खाकर रहने लगी। उसे दूसरा स्वप्न हुआ- जिससे तुम्हारा विवाह होने वाला था, जाकर उसी से उपदेश लो तो तुम्हारा शीघ्र कल्याण होगा। दूसरे दिन प्रात:काल ही वह अपने परिवाार के साथ रामानन्द जी के सामने प्रस्तुत हुई और मन्त्र दीक्षा लेने की मांग करने लगी। रामानन्द जी के मना करने पर दूसरे लोग भी उसका समर्थन करने लगे। ज्यादा जिद करने पर रामानन्द जी ने अपने शंख को बजा दिया।

शंख ध्वनि सुनते ही उनकी समाधि लग गई। समाधि में उसे दस जन्मों का स्मरण हो आया। उसने कहा- मुझे भगवान से दिव्य ज्ञान मिल गया है मैं अभी भगवान के धाम में जा रही हूं। यह कहते ही एक दिव्य विमान वहाँ प्रकट हुआ और वह विमान पर बैठ कर चली गई। इस पर लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ। उनके माता-पिता ने भी दीक्षा लेने की बात कही। इस पर रामानन्दाचार्य बहुत लज्जित महसूस करने लगे। वे वहीं बैठे-बैठे अन्तर्ध्यान हो गए। माता-पिता मूर्छित होकर गिर पड़े। उन्हें दिव्य धाम के दर्शन हुए। जहाँ कुमार रामानन्द दिव्य सिंहासन पर बैठे थे। बड़े-बड़े देवता और ऋषि उनकी स्तुति कर रहे थे। जन्म में उन्हें भगवान ने जो आशीर्वाद दिया था वह भी उन्हें ज्ञात हो गया। मोह माया का बंधन छूट गया। माता-पिता ने उठ कर देखा, सभी लोग विलाप कर रहे थे।

महर्षि राघवानन्द जी ने उन्हें राम मंत्र की दीक्षा देकर विधिवत वैष्णव संन्यास दिया। रामानन्द जी पंच गंगा घाट पर तपस्या करने लगे। लोगों के ज्यादा आग्रह पर वह शंख बजाकर लोगों की समस्या का समाधान कर देते। एक मुर्दा उनकी शंख ध्वनि सुनकर जीवित् हो गया था। उन्हें जब ज्यादा विक्षोभ होने लगा तो उन्होंने शंख बजाना बंद कर दिया। वे लोगों के आग्रह पर दिन में सिर्फ एक बार शंख बजाने लगे।

आधी रात के पश्चात एक दिन जब वे गंगा स्नान के लिए गये तो कलयुग राज उनके सामने प्रकट हुये। उनका पंच पात्र सोने का था। कलयुग राज उसमें जा बैठे। लेकिन आचार्य को इसका पता चल गया। जब आचार्य ने उनसे पूछा कि आप मेरी पूजा में विघ्न क्यों डालते हो तो कलयुग राज प्रत्यक्ष होकर राम मंत्र की दीक्षा मांगने लगे। रामानन्दाचार्य जी ने अपना स्वभाव छोड़ उन्हें मंत्र दीक्षा दी। रामानन्द जी ने अपने जीवन काल में अनेकों दु:खियों और पीड़ितों को अपने आशीर्वाद से ठीक किया जिनमें राजकुमार का क्षय रोग, रैदास को दीक्षा, कबीर को आशीर्वाद, नये योगी श्री हरि नाथ की पीड़ा, ब्राह्मण कन्या बीनी का उद्धार जैसी अनेकों चमत्कारिक घटनायें शामिल थीं। गगनौढ़गढ़ के राजा पीपाजी को मंत्र दीक्षा देकर उन्होंने वैष्णब सन्त बना दिया। उन्होंने अपने जीन काल में यवनों से हिन्दुओं की रक्षा की। उनके अत्याचारों को रुकवाने के लिए दिल्ली के बादशाह से सन्धि की। आचार्य ने धर्म प्रचार के लिए काशी से चलकर गगनौरगढ़, चित्रकूट, जनकपुर, गंगासागर, जगन्नाथपुरी आदि स्थानों की यात्रा की। आज उन्हीं के तपोबल से रामानन्द सम्प्रदाय का विशाल पंथ चल रहा है।

श्री रामानंदाचार्य–कबीर तथा तुलसी के प्रेरक

श्री रामानंद मध्ययुगीन उदार चेतना के जन्मदाता, भक्ति आंदोलन के प्रवर्तक, तथा तत्कालीन धार्मिक तथा सामाजिक चेतना के मार्गदर्शक थे। उन्होंने भारत की सांस्कृतिक जीवन धारा को अक्षुण्य प्रवाहित करने में महत्त्वपूर्ण योगदान किया। वे वास्तव में कबीर तथा तुलसी के प्रेरणास्रोत थे। श्री रामानंद जिस युग में हुए वह भारत के इतिहास में धर्म, संस्कृति तथा समाज के ह्रास का काल था। इस्लाम की आंधी से भारतीय समाज अभी संभल न पाया था। तैमूर के आक्रमण से लेकर बाबर के आक्रमण तक समूचे समाज में राजनीतिक और सांस्कृतिक पराभव का काल था। श्री रामानंद की एक महत्त्वपूर्ण देन रामभक्ति को एक व्यापक सांस्कृतिक आंदोलन का आधार बनाकर राष्ट्रीय जागरण करना

था। यद्यपि अलवार साहित्य में रामभक्ति का वर्णन दक्षिण भारत में 9वीं शताब्दी के प्रारंभ में हो गया था। परंतु उत्तर भारत में इसका प्रचार मुख्यत: ग्यारहवीं शताब्दी में हुआ। रामानुज ने ग्यारहवीं शताब्दी में कृष्ण भक्ति की उपासना का प्रचलन किया, वहां श्री रामानंद को आगे चलकर उत्तरी भारत में रामभक्ति का श्रेय प्राप्त है। शीघ्र ही रामभक्ति की गंगा देश के एक कोने से दूसरे कोने तक प्रवाहित होने लगी। राम के नाम ने अनेक सामाजिक और सांस्कृतिक व्याधियों के लिए रामबाण औषधि का काम किया। रामभक्ति उत्तर तथा दक्षिण में सम्पूर्ण देश की एकता को आबद्ध करने में सहायक सिद्ध हुआ। इसने समाज में आशा, आत्म विश्वास तथा स्वाभिमान का भाव जाग्रत किया।

श्री रामानंद ने रामभक्ति के माध्यम से एक सामाजिक क्रांति का सूत्रपात किया। सामाजिक विषमताओं और बाहरी आडम्बरों में जकड़े समाज में पुनरुत्थान की ओर पहला कदम बढ़ाने वाले रामानंद थे। रामभक्ति के माध्यम से उन्होंने समाज के विभिन्न वर्गों में सामाजिक समरसता तथा समन्वय की भावना पैदा करने का एक सफल प्रयास किया। श्री रामानंद ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ श्री वैष्णवमताज भास्कर में प्रचलित ऊंच-नीच की भावना पर क्रूर प्रहार किया।

श्री रामानंद की कथनी और करनी के एकात्मक भाव के प्रभाव से जहां एक ओर कबीर तथा अनेकानेक शिष्य रामानंद जी की वाणी के संदेशवाहक बने, वहीं दूसरी ओर रामभक्ति के महान उपासक तुलसी उनके प्रचारक बने। एक ओर कबीर ने 'जात-पांत' पूछे न कोई, हरि को भजे सो हरि का होई' का दिव्य संदेश दिया, तो तुलसी ने दूसरी ओर 'सिया राम मय सब जग जानी' का अमृत वचन बोला। वस्तुत: रामानंद वह कर पाये जो भारत के अनेक विद्वान तथा अनेक संत महापुरुष न कर सके। रामभक्ति का यह दिव्य शंखनाद समूचे समाज को जोड़ने का मंत्र बन गया।

साथ ही श्री रामानंद ने एक प्रभावी तथा अद्‌भुत शिष्य परंपरा का निर्माण किया। विश्व के समूचे इतिहास में किसी भी व्यक्ति ने उतने श्रेष्ठ तथा समर्पित शिष्यों का निर्माण नहीं किया जितना रामानंद ने। रामानंद के बारह प्रसिद्ध शिष्य भक्ति आंदोलन के मुख्य प्रचारक बने। उनकी रामभक्ति की धारा दो प्रवाहों में विभाजित हुई थी। एक निराकार निर्गुण रामभक्ति में तथा दूसरी साकार सगुण अवतारी रामभक्ति में। एक का प्रतिनिधित्व किया कबीर ने तथा दूसरे को व्यापक स्वरूप प्रदान किया तुलसी ने।

क्रांतिकारी कबीर ने रामानंद से निर्गुण राम तथा भक्ति का रहस्य सीखा। यद्यपि राम की अवतारवाद की धारणा को उन्होंने स्वीकार नहीं किया, परंतु ईश्वर को ब्रह्म के रूप में स्वीकार किया। इसके प्रमाण श्री गुरूग्रंथ साहब में उनके एक पद से होता है, जो उसमें दिया गया है। कबीर पर रामानंद का प्रभाव प्राय: सभी विद्वानों ने स्वीकार किया है कि उन्होंने भक्ति के लिए अभय का पाठ रामानंद से ही सीखा। कबीर ग्रंथावली में राम का नाम 217 बार आया है, कबीर की भक्ति रामानंद की भांति जाति भेद अथवा वर्ग भेद से ऊपर है। इसमें तनिक भी संदेह नहीं है यदि रामानंद व कबीर हिन्दू समाज के उपेक्षित जनों में एक आशा और भरोसे की नींव न डालते तो उनमें से अधिकतर मुसलमान हो गए होते। महाकवि तुलसी ने रामानंद की भक्ति तथा अद्वैत वेदांत का समन्वय कर सगुण रामभक्ति का पाठ विश्व को पढ़ाया। वस्तुत: समाज के प्रबुद्ध विचार तथा जन सामान्य के विचारों का अद्‌भुत समन्वय तुलसी के दर्शन में दृष्टिगोचर होता है। जहां शंकर का अद्वैतवाद प्रबुद्ध विचार का परिचायक है, वहां रामानंद के भक्ति संबंधी विचारों में जन सामान्य की भावना का प्रतिनिधित्व है। दोनों का अद्‌भुत समन्वय तुलसी में दिखलाई देता है। इसी कारण उनका प्रसिद्ध ग्रंथ रामचरितमानस विश्व के महानतम ग्रंथों में माना जाता है। धर्म की मर्यादा को महत्त्व देते हुए उन्होंने भक्ति की धारा प्रभावित की।

अत: निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि श्री रामानंदाचार्य को ही यह श्रेय है कि उन्होंने प्रेम और रामभक्ति को उत्तर भारत में जनव्यापी एक सांस्कृतिक आंदोलन का स्वरूप प्रदान किया। रामभक्ति के माध्यम से उन्होंने देश में नव जागरण किया। उन्होंने भारतीय समाज में आत्मविश्वास व सामाजिक चेतना जगाई। इसके फलस्वरूप धर्म मत परिवर्तन की प्रक्रिया अवरुद्ध हुई। जन भाषा के माध्यम से उनके द्वारा फैला यह आंदोलन शीघ्र ही भक्ति आंदोलन के रूप में व्यक्त हुआ और जिसे कबीर तथा तुलसी ने रक्षात्मक के साथ-साथ आक्रामक स्वरूप प्रदान किया। वही रामभक्ति की अविरल धारा आज भी भारतीय समाज को समेटे हुए प्रेरणा व राष्ट्रीय जागरण का स्रोत बनी हुई है।

रामानन्द के नाम

रामानन्द के पूर्व नाम के सम्बन्ध में भी अनेक मत प्रचलित हैं–

'रसिक प्रकाश भक्तमाल' के टीकाकार जानकी रसिक शरण ने उनका पूर्व नाम 'रामदत्त' दिया है।

'वैष्णव धर्म रत्नाकार' में उन्हें राम भारती कहा गया है, किन्तु अगस्त्य संहिता' तथा 'भविष्य पुराण' में उनका नाम 'रामानन्द' ही मिलता है। यही मत साम्प्रदायिक विद्वानों का भी मान्य है। किंवदन्ती है कि रामानन्द के गुरु पहले कोई दण्डी संन्यासी थे, बाद में राघवानन्द स्वामी हुए।

'भविष्य पुराण', 'अगस्त्य संहिता' तथा 'भक्तमाल' के अनुसार राघवानन्द ही रामानन्द के गुरु थे। अपनी उदार विचारधारा के कारण रामानन्द ने स्वतन्त्र सम्प्रदाय स्थापित किया। उनका केन्द्र मठ काशी के पंच गंगाघाट पर था, फिर भी उन्होंने भारत के प्रमुख तीर्थों की यात्राएँ की थीं और अपने मत का प्रचार किया था।

एक किंवदन्ती के अनुसार छुआ-छूत मतभेद के कारण गुरु राघवानन्द ने उन्हें नया सम्प्रदाय चलाने की अनुमति दी थी।

दूसरा वर्ग एक प्राचीन रामावत सम्प्रदाय की कल्पना करता है और रामानन्द को उसका एक प्रमुख आचार्य मानता है। डॉ. फर्कुहर के अनुसार यह रामावत-सम्प्रदाय दक्षिण भारत में था और उसके प्रमुख ग्रन्थ 'वाल्मीकि-रामायण' तथा 'अध्यात्म रामायण' थे। साम्प्रदायिक मत के अनुसार एक मूल 'श्री सम्प्रदाय' की आगे चलकर दो शाखाएँ हुई एक में लक्ष्मी नारायण की उपासना की गयी, दूसरी में सीताराम की। कालान्तर में पहली शाखा ने दूसरी को दबा लिया, रामानन्द ने दूसरी शाखा को पुर्नजीवित किया। रामानन्द के प्रमुख शिष्य-

- अनन्तानन्द
- कबीर
- सुखानन्द
- सुरसुरानन्द
- पद्मावती
- नरहर्यानन्द
- पीपा
- भावानन्द
- रैदास
- धना सेन और
- सुरसुरी आदि थे।

मृत्यु

रामानन्द की मृत्यु तिथि भी उनकी जन्म-तिथि के अनुसार ही अनिश्चित है। 'अगस्त्य संहिता' में सन् 1410 ई. को उनकी मृत्यु-तिथि कहा गया है। सन् 1299 ई. को उनकी जन्म-तिथि मान लेने पर यही तिथि अधिक उपयुक्त जान पड़ती है। इससे स्वामी जी की आयु 111 वर्ष ठहरती है, जो नाभाकृत 'भक्तमाल' के साक्ष्य 'बहुत काल वपु धारि कै प्रणत जनन को पर दियो' पर असंगत नहीं है।

रचनाएँ

रामानन्द द्वारा लिखी गयी कही जाने वाली इस समय निम्नलिखित रचनाएँ मिलती हैं–

- 'श्रीवैष्णव मताब्ज भास्कर'
- 'श्रीरामार्चन-पद्धति'
- 'गीताभाष्य'
- 'उपनिषद्-भाष्य'
- 'आनन्दभाष्य '
- 'सिद्धान्त-पटल'
- 'रामरक्षास्तोत्र'
- 'योग चिन्तामणि'
- 'रामाराधनम्'
- 'वेदान्त-विचार'
- 'रामानन्दादेश'
- 'ज्ञान-तिलक'
- 'ग्यान-लीला'
- 'आत्मबोध राम मन्त्र जोग ग्रन्थ'
- 'कुछ फुटकर हिन्दी पद'
- 'अध्यात्म रामायण'।

इन समस्त ग्रन्थों में 'श्री वैष्णवमताब्ज भास्कर' तथा 'श्री रामार्चन पद्धति' को ही रामानन्द कृत कहा जा सकता है। पं. रामटहल दास ने इनका सम्पादन कर इन्हें प्रकाशित कराया है। इन ग्रन्थों की हस्त-लिखित प्रतियाँ उपलब्ध नहीं है।

'श्री वैष्णवमताब्ज भास्कर' में स्वामीजी ने सुर-सुरानन्द द्वारा किये गये नौ प्रश्न-तत्त्व क्या हैं, श्री वैष्णवों का जाप्य मन्त्र क्या है, वैष्णवों के इष्ट का स्वरूप, मुक्ति के सुलभ साधन, श्रेष्ठ धर्म, वैष्णवों के भेद, उनके निवास स्थान, वैष्णवों का कालक्षेप आदि के उत्तर दिये हैं। दर्शन की दृष्टि से इसमें विशिष्टाद्वैत का ही प्रवर्त्तन किया गया है। 'श्रीरामार्चन पद्धति' में राम की सांगता षोडशोपचार पूजा का विवरण दिया गया है।

राम टहलदास द्वारा सम्पादित दोनों ग्रन्थ संवत 1984 में सरयू वन (अयोध्या) के वासुदेव दास (नयाघाट) द्वारा प्रकाशित किये गये। भगवदाचार्य ने संवत 2002 में श्री रामानन्द साहित्य मन्दिर, अट्टा, अलवर में 'श्री वैष्णवमताब्ज भास्कर' को प्रकाशित किया। शेष ग्रन्थों में 'गीता भाष्य' और 'उपनिषद भाष्य' की न तो कोई प्रकाशित प्रति ही मिलती है और न हस्तलिखित प्रति ही प्राप्त है। यही स्थिति 'वेदान्त विचार', 'रामाराधनम्' तथा 'रामानन्दादेश' की भी है। 'आनन्दभाष्य' स्वामी रामप्रसाद जीकृत 'जानकी भाष्य' का सारांश एवं आधुनिक रचना है। 'सिद्धान्त पटल', 'राम रक्षास्तोत्र' तथा 'गोगचिन्तामणि' तपसी-शाखा द्वारा प्रचलित किये गये ग्रन्थ हैं। इसी प्रकार 'आत्मबोध' तथा 'ध्यान तिलक' तथा अन्य निर्गुण परक फुटकल पद कबीर-पन्थ में अधिक प्रचलित हैं और उनकी प्रामाणिकता अत्यन्त ही सन्दिग्ध है।

नागरी प्रचारिणी सभा, काशी द्वारा प्रकाशित 'रामानन्द की हिन्दी रचनाएँ' पुस्तक में संग्रहीत फुटकल समस्त पदों में ' हनुमान की आरती' को छोड़कर शेष सभी पद निर्गुण मत की प्रतिष्ठा करते हैं। लगता है निर्गुण पन्थियों ने रामानन्द के नाम पर इन रचनाओं को प्रचलित कर दिया है। इनका कोई प्रचार रामानन्द-सम्प्रदाय में नहीं है। 'भजन रत्नावली' (डाकोर) में रामानन्द के नाम से चार हिन्दी पद मिलते हैं, एक में अवध बिहारी राम का वर्णन है, दूसरे में सखाओं के साथ खेलते हुए राम का, तीसरे में राम की आरती का वर्णन है और चौथे में रघुवंशी राम के मन में बस जाने का वर्णन है। इन पदों का प्राचीन हस्तलिखित रूप नहीं मिलता, इनकी भाषा भी नवीन है। अत: ये प्रामाणिक नहीं कही जा सकतीं। इस सम्बन्ध में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि जिन रचनाओं का सम्प्रदाय में कोई प्रचार न हो और न जिनकी हस्तलिखित पोथियाँ ही साम्प्रदायिक पुस्तकालयों में उपलब्ध हों, उनकी प्रामाणिकता नितान्त ही सन्दिग्ध होती है।

सम्प्रदायों के इतिहास में भी यह बात देखने में आयी है कि समय-समय पर उनमें नयी विचार धाराएँ आती गयी हैं और उन्हें प्रामणिकता की छाप देने के लिए मूल प्रवर्त्तक के नाम पर ही उन विचारों का प्रवर्त्तन करने वाली रचनाएँ गढ़ ली जाती हैं। कभी-कभी नयी रचनाएँ न गढ़कर लोग नये ढंग से मान्य एवं प्राचीन ग्रन्थों की व्याख्या ही कर बैठते हैं। इन सभी दृष्टियों से 'श्री वैष्णवमताब्ज भास्कर' तथा 'श्री रामार्चन पद्धति' को ही रामानन्द की प्रामाणिक रचनाएँ मानना उचित होगा। 'आनन्द भाष्य' की प्रकाशन रघुवरदास वेदान्ती ने अहमदाबाद से 1929 ई. तथा शेष हिन्दी रचनाओं का प्रकाशन काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने 1952 ई. में किया।

महत्त्व

रामानन्द का महत्त्व अनेक दृष्टियों से हैं। वे रामभक्ति को साम्प्रदायिक रूप देने वाले सर्वप्रथम आचार्य थे। उन्हीं की प्रेरणा से मध्ययुग तथा उसके अनन्तर प्रचुर रामभक्ति साहित्य की रचना हुई। कबीर और तुलसीदास, दोनों का श्रेय रामानन्द को ही है। रामानन्द ने भक्ति का द्वार स्त्री और शूद्र के लिए भी खोल दिया, फलतः मध्ययुग में एक बड़ी सबल उदार विचारधारा का जन्म हुआ। सन्त साहित्य की अधिकांश उदार चेतना रामानन्द के ही कारण है। यही नहीं, रामानन्द की इस उदार भावना ने हिन्दू और मुसलमानों को भी समीप लाने की भूमिका तैयार कर दी। हिन्दी के अधिकांश सन्त कवि, जो रामानन्द को ही अपने मूल प्रेरणा-स्रोत मानते हैं, मुसलमान ही थे। रामानन्द की यह उदार विचारधारा प्रायः समूचे भारतवर्ष में फैल गयी थी और हिन्दी के अतिरिक्त अन्य भारतीय भाषाओं का मध्ययुगीन रामभक्ति-साहित्य रामानन्द की प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रेरणा से लिखा गया।

5

श्री जीव गोस्वामी

श्री जीव गोस्वामी (1513-1598), वृंदावन में चैतन्य महाप्रभु द्वारा भेजे गए छः षण्गोस्वामी में से एक थे। उनकी गणना गौड़ीय सम्प्रदाय के सबसे महान दार्शनिकों एवं सन्तों में होती है। उन्होने भक्ति योग, वैष्णव वेदान्त आदि पर अनेकों ग्रंथों की रचना की। वे दो महान सन्तों रूप गोस्वामी एवं सनातन गोस्वामी के भतीजे थे।

इनका जन्म श्री वल्लभ अनुपम के यहां 1533 ई. (तद.1455 शक. भाद्रपद शुक्ल द्वादशी को हुआ था। श्री सनातन गोस्वामी, श्री रूप गोस्वामी तथा श्री वल्लभ, ये तीनों भाई नवाब हुसैन शाह के दरबार में उच्च पदासीन थे। इन तीनों में से एक के ही संतान थी, श्री जीव गोस्वामी। बादशाह की सेवाओं के बदले इन लोगों को अच्छा भुगतान होता था, जिसके कारण इनका जीवन अत्यंत सुखमय था। और इनके एकमात्र पुत्र के लिए किसी वस्तु की कमी न थी। श्री जीव के चेहरे पर सुवर्ण आभा थी, इनकी आंखें कमल के समान थीं, व इनके अंग-प्रत्यंग में चमक निकलती थी।

श्री गौर सुदर्शन के रामकेली आने पर श्री जीव को उनके दर्शन हुए, जबकि तब जीव एक छोटे बालक ही थे। तब महाप्रभु ने इनके बारे में भविष्यवाणी की कि यह बालक भविष्य में गौड़ीय संप्रदाय का प्रचारक व गुरु बनेगा। बाद में इनके पिता व चाचाओं ने महाप्रभु के सेवार्थ इनको परिवार में छोड़कर प्रस्थान किया।

इन्हें जब भी उनकी या गौरांग के चरणों की स्मृति होती थी, ये मूर्छित हो जाते थे। बाद में लोगों के सुझाव पर ये नवद्वीप में मायापुर पहुँचे व श्रीनिवास पंडित के यहां, नित्यानंद प्रभु से भेंट की। फिर वे दोनों शची माता से भी मिले। फिर नित्य जी के आदेशानुसार इन्होंने काशी को प्रस्थान किया। वहां श्री रूप गोस्वामी ने इन्हें श्रीमद्भाग्वत का पाठ कराया। और अन्ततः ये वृंदावन पहुँचे। वहां इन्होंने एक मंदिर भी बनवाया।

जन्म

जीव के जन्म काल का अनुमान भक्तिरत्नाकर की निम्न पंक्तियों के आधार पर लगाया जाता है–

श्री जीवादि संगोपने प्रभुरे देखिल।
अति प्राचीनेर मुखे ए सब शुनिल।।

श्रीनरहरि चक्रवर्ती के इस उल्लेख का आशय जान पड़ता है कि जीव बहुत छोटी अवस्था के शिशु थे और अधिकतर माँ के साथ या उनकी गोद में रहते थे जब उन्होंने महाप्रभु के दर्शन किये। महाप्रभु जब 1513 ई. या 1514 ई. में रामकेलि गये तो उनके साथ उनकी माँ और अन्य महिलाओं ने छिपकर कहीं से उनके दर्शन किये। नरहरि चक्रवर्ती ने यह भी लिखा है कि उन्होंने किसी बहुत प्राचीन या वृद्ध व्यक्ति के मुख से ऐसा सुना, जिसने स्वयं उस समय महाप्रभु के दर्शन किये थे। श्रीसतीशचन्द्र मिश्र का कहना है कि उस समय जीव की उम्र यदि दो वर्ष मानी जाय तो मानना होगा कि उनका जन्म सन् 1511 ई. में रामकेलि में हुआ।

बाल्यकाल

तीन वर्ष बाद सन् 1514 में रूप गोस्वामी ने संसार त्यागा। वल्लभ और परिवार के अन्य लोगों को साथ ले वे पहले फतेयाबाद वाले अपने घर गये। कुछ दिनों के लिये वहाँ रह गये। वल्लभ परिवार के अन्य लोगों को लेकर वाकला चले गये। जीव के साथ उन्हें सबकों वहाँ छोड़ वे फतेयाबाद में रूप गोस्वामी से फिर जा मिले। जब नीलाचल से महाप्रभु के वृन्दावन गमन का सम्वाद मिला, तब दोनों भाई वृन्दावन की ओर चल दिये। प्रयाग में उनकी महाप्रभु भेंट हुई, जब वे वृन्दावन से लौटकर नीलाचल जा रहे थे। एक मास वृन्दावन में रह कर दोनों

भाई गौड़ लौटे। गौड़ में गंगातीर पर बल्लभ को अभीष्ट धाम की प्राप्ति हुई। उस समय जीव की उम्र 4 या 5 वर्ष की थी।

पिता और पितृव्यों के समान जीव भी बहुत सुन्दर थे–

जैछे सनातन, रूप, वल्लभ सुन्दर।
तैछे श्रीजीवेर कि सौन्दर्य मनोहर॥

उनके दीर्घ नेत्र, उच्च नासिका, उच्च ललाट, प्रशस्त वक्ष और कंचन के समान मुख की दीप्ति उनके महापुरुष होने की सूचना देते थे। भक्तिरत्नाकर में जीव के वाल्य-चरित्र का सुन्दर वर्णन है। वे ऐसा कोई खेल ही न खेलते, जिसका सम्बन्ध श्रीकृष्ण से न हो। कृष्ण-बलराम की दो मूर्तियाँ वे सदा अपने पास रखते। पुष्प-चन्दनादि से उनकी पूजा करते, वस्त्र-भूषणादि से उन्हें सजाते, फिर अनिमिष नेत्रों से उनकी ओर देखते रहते, कनकपुतली की तरह भूमि पर लोट कर सिक्त नेत्रों से उन्हें प्रणाम करते और भक्तिपूर्वक विविध प्रकार के मिष्ठान का उन्हें भोग लगा बालकों के साथ प्रसाद ग्रहण करते। अकेले भी निर्जन में उन्हें लेकर तरह-तरह के खेल खेलते। सोते समय उन्हें अपने वक्ष से लगाकर रखते। उस समय भी धर के लोग दोनों मूर्तियों को उनके वक्ष से हटाना चाहते तो न हटा सकते–

कृष्ण-बलराम बिना किछुइ न भाय।
एकाकिओ दोंहे लइया निर्जने खेलाय।
शयन समये दोहे राखये बक्षेते।
मात कौतुकेओ ना पारे लइते।

कभी कभी कृष्ण-बलराम उन्हें स्वप्न में दर्शन देते।

विद्यार्थी जीवन और वैराग्य

जीव पाठशाला जाने लगे। अल्पकाल में ही उन्होंने व्याकरण, अलंकार, काव्यादि पर पूरा अधिकार प्राप्त कर लिया–

अल्पकाले श्रीवेर बुद्धि चमत्कार।
व्याकरण आदि शास्त्रे अति अधिकार॥

मेघा और बुद्धि का ऐसा चमत्कार देख अध्यापक और सहपाठीगणों के आश्चर्य की सीमा न रही। सभी कहने लगे-'जीव कोई साधारण बालक नहीं है। लगता है इसका जन्म किसी देव-अशं से है–

सबे कहे-देव अंशे जनम इहार। नहिले कि अल्पकाले एत अधिकार'

जीव पढ़ते लिखते तो बड़े मनोयोग से, पर कृष्ण बलराम की याद कर कभी-कभी रो पड़ते। उनका जैसा भाव कृष्ण बलराम के प्रति था, वैसा ही और निताई के प्रति भी। कभी-2 वे एकान्त में भाव विह्वल अवस्था में उनसे न जाने क्या-क्या कहते। परिवार के लोग उन पर दृष्टि रखते और अलक्षित रूप से एकान्त में उनकी भाव मुद्रा देख परस्पर कहते-जीव की जो दशा है उसे देख लगता है कि वह थोड़े ही दिनों में गृह त्याग देगा।

एक बार वे रोकर श्रीकृष्ण चैतन्य को पुकारते हुए धैर्य खो बैठे। आन्तरिक वेदना इतनी असह्य हो गयी कि पृथ्वी पर लोट-पोट होने लगे। उनका मुख और वक्ष नेत्रों के जल से भीग गया और अन्त में मूर्च्छा आ गयी। भक्तरत्नाकर में वर्णन है कि परिवार के किसी व्यक्ति ने अलक्षित रूप से उनकी यह दशा देखी-

एक दिन देखिल अलक्षित। श्रीकृष्ण चैतन्य बलि हइला मूर्च्छित।
धरनी लोटाय, धैर्य धरन न जाय। मुख, वक्ष भासे दुइ नेत्रेर धाराय॥

उस दिन रात को उन्हें निद्रा न आयी। थोड़ी देर को आँख लगी तो स्वप्न में कृष्ण-बलराम के दर्शन हुए। दूसरे ही क्षण कृष्ण-बलराम में गौर-निताई के दर्शन हुए। उनके गौर कान्तिमय स्वरूप की अपूर्व छठा को अनिमेष देखते-2 वे उनके चरणों में लोट गये और नेत्रों के जल से उन्हें अभिषिक्त कर दिया। तब उन्होंने अपने चरणकमल उनके मस्तक पर रखे और प्यार से बार-बार उन्हें आलिंगन कर अमृतमय प्रबोध-बचन कहे-

करुणा समुद्र गौर नित्यानन्द रायं पादपद्म दिलेन जीवरे माथाय।
परम वात्सल्ये पुनः करे आलिंगन। कहिल अमृतमय प्रबोध वचन॥

गौर सुन्दर ने प्रेमाविष्ट हो नित्यानन्द प्रभु के चरणों में उन्हें डाल दिया। नित्यानन्द ने आशीर्वाद देते हुए कहा-'मेरे प्रभु गौरसुन्दर में तुम्हारी रति होह। वे तुम्हारे जीवन सर्वस्व हों।'

गृह-त्याग

नवद्वीप से बहुत से लोग पहले वृन्दावन जा चुके थे। उनके लिए भी कोई सुयोग मिलने पर नवद्वीप से वृन्दावन जाना आसान था। नवद्वीप उस समय विद्या का प्रधान केन्द्र भी था। इसलिए उन्होंने वेदान्त आदि के अध्ययन के छल से नवद्वीप जाने का विचार किया। वे पहले कुछ आत्मीय स्वजनों के साथ नौका द्वारा फतेयाबाद के अन्तर्गत प्रेम भाग वाले अपने घर गये। कुछ दिन वहाँ रूक

कर केवल एक नौकर को साथ ले चल पड़े नवद्वीप की पदयात्रा पर। स्वजनों को उन्होंने पहले ही नौका से वाक्ला वापस भेज दिया था। नवद्वीप जाते समय उनका नैष्टिक ब्रह्मचारी का वेष था। उनके हाथ में जप की माला थी और कन्धे पर लटक रहा था भिक्षा का झोला। वे गृह छोड़ कर जा रहे थे, उत्तर जीवन में फिर कभी संसार में लौट कर न आने का दृढ़ संकल्प लिये।

नवद्वीप में नित्यानन्द प्रभु के चरणों में

नवद्वीप पहुँचते ही सहसा उनका भाग्यसूर्य उदय हुआ। खड़दह से नित्यानन्द प्रभु कई दिन पूर्व सदल-बल वहाँ आये थे और श्रीवास पण्डित के घर ठहरे हुए थे। मानो श्रीजीव पर कृपा करने के उद्देश्य से ही उन्होंने नवद्वीप की यात्रा की थी और उनके आगमन की प्रतिक्षा कर रहे थे। जीव को नवद्वीप में पैर रखते ही यह शुभ संवाद मिला। वे भावविभोर अवस्था में उलटे सीधे पैर रखते झट जा पहुँचे श्रीवास पण्डित के घर और लोट गये नित्यानन्द प्रभु के चरणों में।

रूप-सनातन के भ्रातुष्पुत्र को अपने चरणों में पड़ा देख नित्यानन्द का आनन्द समुद्र उमड़ पड़ा। उद्दण्ड नृत्य कीर्तन करते हुए उन्होंने अपना चरण उनके मस्तक पर रखा और आशीर्वाद दिया। उन्हें अपने साथ ले जाकर गौर-लीला के चिह्नित स्थानों का दर्शन कराया। महाप्रभु की स्मृति से परिपूर्ण उनकी एक-एक लीलास्थली के दर्शन कर जीव भाव-समुद्र में खो गये। दूसरे दिन नित्यानन्द प्रभु से हाथ जोड़कर बोले-'प्रभु! आपकी कृपा से महाप्रभु की आदि लीला के सभी स्थानों के दर्शन कर लिये। अब आज्ञा दे, नीलाचल जाकर उनकी अन्त्य-लीला-स्थलियों के दर्शन कर आने की। वहाँ से लौटकर मेरी इच्छा है आपके दास रूप में आपकी चरण छाया में रहकर साधन-भजन करने की। आप मुझे अंगी कार करने की कृपा करें।'

पर नित्यानन्द प्रभु को तरुण जीव के मुखारविन्द की दिव्य कान्ति, तीक्ष्ण नासिका, प्रशस्त ललाट की तेजस्विता और नेत्रों की भाव मय उद्दीपना देख भूल न हुई उन्हें भविष्य के वैष्णव समाज के नायक के रूप में पहचानने में। उन्होंने उन्हें प्रेम से आलिंगन करते हुए कहा-

'शीघ्र ब्रजे रकह प्रयान तोमार वंशे प्रभु दियाछेन सेई स्थान।'

अर्थात् तुम्हारे वंश को प्रभु ने वृन्दावन की सेवा का अधिकार सौपा है। इसलिए तुम वृन्दावन जाओ। वही तुम्हारा प्रकृत कार्यक्षेत्र है। तुम्हारे पितृव्य

रूप-सनातन महाप्रभु के आदेश से वहाँ रहकर भक्ति धर्म का प्रचार कर रहे हैं। तुम जाकर उनकी सहायता करो। उनके पश्चात् तुम्हें ही महाप्रभु द्वारा प्रचारित वैष्णव धर्म के प्रचार का गुरुतर भार सम्हालना है, और तैयार करनी है उसकी दार्शनिक भित्ति। पर इस कार्य के लिए वेद वेदान्त का अध्ययन करना आवश्यक है। इसलिए वृन्दावन जाने से पूर्व कुछ दिन काशी में रहकर मधुसूदन वाचस्पति से वेदान्त की शिक्षा ग्रहण करो।

काशी में मधुसूदना वाचस्पति से वेदान्त अध्ययन

जीव काशी चले गये। मधुसूदन वाचस्पति से वेदान्त पढ़ने लगे। मधुसूदन वाचस्पति का उस समय काशी में प्रबल प्रताप था। वे सार्वभौम भट्टाचार्य के प्रियतम शिष्य थे। न्याय और वेदान्त के भारत विख्यात पण्डित सार्वभौम भट्टाचार्य का महाप्रभु से साक्षात होने के पश्चात् मत-परिवर्तन हो गया था। वे भक्ति-सिद्धान्त के अनुसार वेदान्त का प्रचार करने लगे थे। उन्हीं से वेदान्त की शिक्षा ग्रहण कर मधुसूदन वाचस्पति काशी धाम में श्रेष्ठतम प्राचार्य के रूप में प्रतिष्ठित हुए थे।

जीव की अद्‌भुत मेधा से वाचस्पति प्रभावित हुए। प्रेम से उन्हें वेदान्त का पाठ पढ़ायां उन्नीस वर्ष की आयु में उनके न्याय-वेदान्त। शास्त्र में आद्वितीय होने की ख्याति काशी में चारों ओर फैल गयी–

'काशीते श्री जीवेर प्रशंसा सर्व ठाई।
न्याय वेदान्तादि शास्त्रे ऐछे केह नाइ।'

वृन्दावन आगमन और दीक्षा

काशी में वेदान्त का पाठ समाप्त करने के पश्चात् वे वृन्दावन चले गये। अनुमान किया जाता है कि वेदान्त पढ़ने के लिए वे काशी में कम से कम दो वर्ष रहे होंगे। वृन्दावन में उस समय स्वर्णिम युग था। भक्ति की गंगा अवाधगति से उमड़-घुमड़कर वह रही थी। उनके पितृव्य नव-स्थापित कृष्ण-भक्ति के साम्राज्य पर शासन कर रहे थे। कृष्ण के श्रीविग्रहों की स्थापना, कृष्ण-भक्ति-शास्त्रों के निर्माण और कृष्ण-लीला सम्बन्धी स्थलियों के आविष्कार का कार्य तीव्र गति से चल रहा था। रघुनाथभट्ट गोस्वामी, प्रबोधानन्द सरस्वती, गोपालभट्ट गोस्वामी, रघुनाथदास गोस्वामी, काशीश्वर और कृष्णदास कविराज आदि प्रधान-प्रधान

चैतन्य महाप्रभु के परिकर वृन्दावन पहुँच चुके थे और विभिन्न प्रकार से रूप सनातन के प्रचार-कार्य में उनका हाथ बटा रहे थे।

जीव को भी इस कार्य में सहयोग करने के लिए नित्यानन्द प्रभु ने वृन्दावन भेजा था। उन्हें प्राप्त कर रूप और सनातन अति प्रसन्न हुए। उन्हें ले जाकर सब महात्माओं से उनका परिचय कराया, सबका आशीर्वाद दिलवाया। उनकी अवस्था इस समय केवल 19 वर्ष की थी। वे सबसे छोटे और रूप-सनातन के भ्रातुष्पुत्र होने के कारण तो सबके स्नेहभाजन थे ही, उन्हें अपने रूप, गुण, चरित्र, असाधारण पांडित्य, कृष्ण-भजन और वैष्णव सेवा में अदम्य-उत्साह के कारण सबको विशेष रूप से प्रभावित करने में देर न लगी। शास्त्र-चर्चा हो या उत्सव अनुष्ठान सब में वे सबसे आगे रहने लगे।

सनातन गोस्वामी के आदेश से रूप गोस्वामी से दीक्षा ले वे उनके पास रह कर उनकी सेवा करने लगे। वे उनके लिए विग्रह-सेवा की सामग्री जुटाते, सेवा-पूजा में उनकी सहायता करते, उनके भोजन कर लेने पर उनका प्रसाद ग्रहण करते, उनके शयन करने पर उनका पाद-सम्वाहन करते, उनके ग्रन्थ-रचना के समय पोथी पत्र जुटाकर देते, आवश्यकता होने पर विभिन्न ग्रन्थों से आवश्यक श्लोकों को खोजकर देते और जब जिस प्रकार से आवश्यक होता ग्रन्थ रचना में उनकी सहायता करते।

जीव गोस्वामी और वल्लभ भट्ट

'भक्तिरत्नाकर' और 'प्रेमविलास' में उल्लेख है कि जब रूप गोस्वामी भक्तिरसामृतसिन्धु की रचना में लगे थे, दिग्विजयी श्रीवल्लभ भट्ट आये उनसे मिलने। उस समय जीव गोस्वामी उनके निकट बैठे पंखा कर रहे थे। रूप गोस्वामी ने उन्हें आदर पूर्वक आसन दिया कुछ वार्तालाप के पश्चात् वल्लभ भट्ट भक्तिरसामृतसिन्धु के पन्ने उलट कर देखने लगे। उन्हें निम्नलिखित श्लोक में 'पिशाची' शब्द का प्रयोग खटका-

'भुक्ति-मुक्ति-स्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्तते।
तावद्भक्ति सुखस्यात्र कथमम्युदयो भवेत?

-जब तक भुक्ति-मुक्ति स्पृहारूपी पिशाची हृदय में वर्तमान रहती है, तब तक भक्ति सुख का उदय होना सम्भव नहीं।'

उन्होंने 'पिशाची' शब्द श्लोक से निकाल कर इस प्रकार उसका संशोधन करने की बात कही-

'व्याप्नोति हृदयं यावद्भुक्ति-मुक्ति स्पृहाग्रह'

रूप गोस्वामी ने उनके प्रति श्रद्धा और अपने दैन्य के कारण संशोधन सहर्ष स्वीकार कर लिया। जीव को उनका संशोधन नहीं जंचा। उन्हें एक नवागत व्यक्ति का गुरुदेव जैसे महापण्डित और शास्त्रज्ञ की रचना का संशोधन करने का साहस भी पण्डितों के शिष्टाचार के प्रतिकूल लगा। क्रोधाग्नि उनके भीतर सुलगने लगी। पर गुरुदेव उस संशोधन को स्वीकार कर चुके थे, इसलिए वे उनके सामने कुछ न कह सके। उनके परोक्ष में उनसे तर्क द्वारा निपट लेने का निश्चय कर चुपचाप बैठे रहे। वे क्या जानते थे कि जिन्होंने संशोधन सुझाया है वे कोई साधारण व्यक्ति नहीं, एक दिग्विजयी पण्डित हैं।

थोड़ी देर बाद जब वल्लभ भट्ट जमुना नदी स्नान को गये, तो वे भी उनके वस्त्रादि लेकर उनके पीछे-पीछे गये। कुछ दूर जाकर क्रुद्ध और कठोर स्वर में बोले-'श्रीमान् आपने भक्ति रसामृतसिन्धु में जो संशोधन सुझाया वह ठीक नहीं। गुरुदेव ने केवल दैन्यवश उसे स्वीकार कर लिया है।'

पण्डित हक्का-बक्का सा तरुण की ओर देखते रह गये। कुछ अपने आपको सम्हालते हुए बोले-'क्यों भाई मुक्ति को पिशाची कहना तुम्हें अच्छा लगता है? मुक्ति बहुत से साधकों की काम्य-वस्तु और सिद्धो की चिरसंगिनी है, शोक-नाशिनी और आनन्ददायिनी है। उसकी पिशाची से तुलना करना अनुचित नहीं है?'

जीव ने विनम्रतापूर्वक कहा-आचार्य! मुक्ति को पिशाची कहना अनुचित हो सकता है। पर उस श्लोक में मुक्ति को पिशाची कहा ही कब गया है? पिशाची कहा गया है मुक्ति की स्पृहा को, जो यथार्थ है। स्पृहा या वासना चाहे जैसी हो, उसका भक्त के हृदय में कोई स्थान नहीं। यदि वह भक्त के हृदय में प्रवेश कर जाती है, तो उसके भक्तिरस का शोषण कर लेती है और उसे उसी प्रकार अशान्त बनाये रहती है, जिस प्रकार पिशाची किसी मनुष्य के भीतर प्रवेश कर उसे अशान्त बनाये रखती है। शान्त तो केवल कृष्ण भक्त है, जो कृष्ण सेवा के अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहते। भुक्ति-मुक्ति कामी जितने भी हैं सब पिशाची-ग्रस्त व्यक्ति की तरह ही अशान्त हैं। श्लोक में पिशाची शब्द का प्रयोग किये बिना भी काम तो चल सकता था, पर उसके बगैर श्लोक का भाव प्रभावशाली ढंग से स्पष्ट न होता। इसलिए 'पिशाची' शब्द का उस में रहना ही ठीक है। आप....।

जीव आवेश में यह सब कहे जा रहे थे। पर आचार्यपाद का ध्यान जमा हुआ था उनके पहले वाक्य पर ही। वे उसके परिपेक्ष में श्लोक को फिर से परखते हुए मन ही मन कह रहे थे-'नवयुवक ठीक ही तो कह रहा है। श्लोक में पिशाची मुक्ति की स्पृहा को कहा गया है, न कि मुक्ति को। मेरा मन मुक्ति के प्रसंग मात्र में 'पिशाची' शब्द के प्रयोग से इतना उद्विग्न हो गया था कि 'स्पृहा' की ओर ध्यान ही नहीं गया। जीव की बात काटते हुए वे बोले-'तुम ठीक कहते हो। श्लोक में 'पिशाची' मुक्ति की वासना को ही कहा गया है। भक्तों के लिए मुक्ति की वासना पिशाची के ही समान है।'

प्रतिभाधर तरुण पण्डित की सूक्ष्म दृष्टि की मन ही मन सराहना कहते हुए उन्होंने जमुना स्नान किया। स्नान के पश्चात् फिर गये रूप गोस्वामी कुटी पर। उल्लसित हो उनसे पूछा-ष्वह जो अल्पवयस्क पण्डित आपके पास बैठे थे, वे कौन थे? उनका परिचय प्राप्त करने के उद्देश्य से ही आपके पास लौटकर आया हूँ-

'अलप-वयस जे छिलेन तोमा-पाशे। ताँर परिचय हेतु आइनू उल्लासे।'

रूप गोस्वामी ने कहा-'वह मेरा शिष्य और भतीजा है। अभी कुछ ही दिन हुए देश से आया है।'

'बड़ा प्रतिभाशाली और होनहार है वहा' उन्होंने श्लोक के संशोधन के कारण उसके रोष का सब वृत्तांत कह सुनाया।

अन्त में कहा-'उसका दोष बिल्कुल नहीं था भूल मेरी ही थी। मेरा ध्यान 'पिशाची' शब्द में इतना उलझ गया था कि 'स्पृहा' का ध्यान ही न आया। अब मेरा अनुरोध है कि आप श्लोक को उसी प्रकार रहने दें। उसमें कोई परिवर्तन न करें।'

रूप गोस्वामी की ताड़ना

बल्लभ भट्ट चले गये। रूप गोस्वामी ने मन में एक अभूतपूर्व आलोडन छोड़ गये। जैसे ही जीव जमुना-स्नान से लौटकर आये, उन्होंने उनकी कड़ी भर्त्सना करते हुए कहा-

'मोरे कृपा करि भट्ट आइला मोर पाशे।
मोर हित लागि ग्रन्थ शुधिव कहिला।
ए अति अलप वाक्य सहिते नारिला।
ताहे पूर्व देशे शीघ्र करह गमन।
मन स्थिर हइले आसिबा वृन्दावन।

–भट्टजी ने बड़ी कृपा की जो मेरे पास आये और मेरे हित के लिए मेरे ग्रन्थ में संशोधन करने को कहा। तुम से उनकी इतनी बात भी सहन न हुई। इसलिए तुम यहाँ रहने योग्य नहीं। शीघ्र चले जाओ यहाँ से। यहाँ आना जब तुम्हारा मन स्थिर हो जाय।'

'प्रेम विलास' में इस विस्फोटक स्थिति का इस प्रकार वर्णन है–

'रूप गोस्वामी ने जीव को बुलाकर कहा–'अरे मूढ़! तू वैराग्यवेश के योग्य नहीं। तूने अपरिपक्व अवस्था में ही वैराग्य धारण कर लिया। तुझे क्रोध आया। क्रोध के ऊपर क्रोध न आया? जा, यहाँ से वापस चला जा। मैं तेरा मुख भी नहीं देखना चाहता।'

जीव नवमस्तक हो चुपचाप सुनते रहे। अपने अपराध के गुरुत्व का बोध उन्हें होने लगा–'सचमुच क्रोध का त्याग किये बिना सर्वत्यागी वैरागी होना और श्री कृष्ण के चरणों में पूर्ण आत्मसमर्पण होना सम्भव नहीं।'

व्रजमण्डल का अधिनायकत्व

12/13 वर्ष वाद वृन्दावन के आकाश पर छा गयी दुर्दैव की कालिमा। सनातन गोस्वामी नित्यलीला में प्रवेश कर गये। रघुनाथभट्ट और रूप गोस्वामी ने शीघ्र अनुगमन किया। काशी के भारत विख्यात संन्यासी प्रकाशानन्द सरस्वती, जो महाप्रभु की कृपा लाभ करने के पश्चात् प्रबोधानन्द सरस्वती के नाम से वृन्दावन में वास कर रहे थे, पहले ही अन्तध्यान हो चुके थे। महाप्रभु के प्रधान परिकरों में जो बच रहे उनमें जीव को छोड़ और सब–लोकनाथ गोस्वामी, गोपालभट्ट गोस्वामी, रघुनाथदास गोस्वामी और चैतन्यचरितामृत के रचयिता कृष्णदास कविराज आदि बहुत वृद्ध हो जाने के कारण लोकान्तर यात्रा की प्रतीक्षा कर रहे थे।

ऐसे में महाप्रभु द्वारा प्रचारित भक्ति–धर्म की जिस विजय पताका को रूप सनातन ने फहराया था, उसे ऊँचा बनाये रखने का भार आ पड़ा जीव गोस्वामी पर। उन्होंने सब प्रकार से इसके योग्य अपने को सिद्ध किया। उनके पाण्डित्य की ख्याति पहले ही चारों ओर फैल चुकी थी। जो दिग्विजयी पण्डित आते वृन्दावन शास्त्रविद् वैष्णवों के साथ तर्क–वितर्क करने उन्हें वैष्णव–समाज के मुखपात्र श्री जीव गोस्वामी के सम्मुख जाना पड़ता। उन्हें उनके साधन बल और असाधारण पाण्डित्य के कारण निस्प्रभ होना पड़ता।

बहुत से भक्त और जिज्ञासु आते भक्ति-धर्म में दीक्षा ग्रहण करने या भक्ति-शास्त्र की शिक्षा ग्रहण करने। सबकी जीव गोस्वामी के चरणों में आत्म समर्पण करना होता। सबको वहाँ आश्रय मिलता। बहुत से लेखकों और टीकाकारों की जीव गोस्वामी का मुखापेक्षी होना पड़ता। साधनतत्त्व की मीमांसा हो या किसी शास्त्र की व्याख्या, जीव गोस्वामी के अनुमोदन बिना उसे वैष्णव-समाज में मान्यता प्राप्त करना असम्भव होता। इसलिए रूप सनातन के अन्तर्धान के पश्चात् जीव गोस्वामी का व्रज मण्डल के अधिनायक के रूप में उभर आना स्वाभाविक था।

जीव और अकबर बादशाह

ग्राउस ने लिखा है कि अकबर बादशाह ने गौड़ीय गोस्वामियों से आकृष्ट हो सन् 1573 में वृन्दावन में उनसे भेंट की। सनातन गोस्वामी के चरित्र में हमने ग्राउस के लेख को उद्धृत किया है। कुछ लोगों का मत है कि अकबर बादशाह की भेंट सनातन गोस्वामी से हुई कुछ का मत है कि उनकी भेंट जीव गोस्वामी से हुई। हम कह चुके है कि सनातन गोस्वामी से अकबर बादशाह की भेंट का होना सम्भव नहीं था, क्योंकि उनका अन्तर्धान हो चुका था 1573 से बहुत पहले ही। 1573 से पूर्व रूप और रघुनाथ भट्ट का भी अन्तर्धान हो चुका था। उस समय गौड़ीय गोस्वामियों में वृन्दावन वर्तमान थे-लोकनाथ, भूगर्भ, जीव और कृष्णदास कविराज आदि। अकबर को इन्हीं का आकर्षण हो सकता था, पर जीव गोस्वामी का उस समय व्रजमण्डल के अधिनायक के रूप में ख्याति फैल चुकी थी। इसलिए गोस्वामियों के प्रतिनिधि-स्वरूप श्रीजीव से ही उनकी भेंट की बात यथार्थ जान पड़ती है।

जीव गोस्वामी के प्रति अकबर की श्रद्धा का प्रमाण वृन्दावन शोध संस्थान में सुरक्षित वह फरमान भी है, जिसके द्वारा उन्होंने जीव गोस्वामी नाम गोविन्देव की सेवा के लिए 130 बीघा जमीन भेंट की थी। अकबर बादशाह के जीव गोस्वामी के प्रति आदरभाव और औदार्यपूर्ण व्यवहार के कारण ही आज भी वृन्दावन में जितनी भू सम्पत्ति गोविन्देदेव की है उतनी और किसी ठाकुर की नहीं है। गोविन्ददेव वृन्दावन के राजा कहलाते हैं।

जीव और मीराबाई

जीव गोस्वामी के साथ मीराबाई के साक्षात् की कथा प्रसिद्ध है। प्रियादास ने भक्तमाल की टीका में इसका उल्लेख इस प्रकार किया है–

वृन्दावन आई, जीव गुसाईजी से मिली झिली,
तिया मुख देखिवे पन लै छुटायौ है।

मीराबाई जीव गोस्वामी के दर्शन करने आई। जीव गोस्वामी के किसी शिष्य ने उनसे कहा-'वे स्त्री का मुख नहीं देखते।'

मीराबाई ने उत्तर दिया-'मैं तो जानती थी कि वृन्दावन में गिरिधर लाला ही एकमात्र पुरुष हैं, और सब स्त्री हैं। मैं नहीं जानती थी कि यहाँ जीव गोस्वामी भी एक पुरुष है, जो स्त्रियों का मुख नहीं देखते।'

जीव गोस्वामी ने जब कुटिया के भीतर से ही यह सुना तो प्रसन्न हो बाहर निकल आये और मीराबाई से मिले।

जीव और माँ जाह्नवा

भक्तिरत्नाकर में जीव के साथ श्रीनित्यानन्द प्रभु की पत्नी माँ जाह्नवा के साक्षात्कार का भी उल्लेख है। जाह्नवा का वृन्दावन गमन खेतरी उत्सव के पश्चात् सन् 1576-77 के आस पास माना जाता है। वे जब वृन्दावन गयी तो जीव गोस्वामी ने उन्हें घूम-घूमकर ब्रजमण्डल के दर्शन कराये। उनकी आज्ञा से वृहद्भागवतामृतादि रूप-सनातन के कुछ ग्रन्थ भी पढ़कर सुनाये, जिन्हें सुन वे इतना भावविह्वल हो गयीं कि उन्हें अपने आपको सम्हालना दुष्कर हो गया-

जीव गोस्वामी की रचनाएँ

जीव गोस्वामी जैसे तीक्ष्ण बुद्धि सम्पन्न और मेधावी थे, वैसे ही सुयोग्य और भारत विख्यात पण्डितों से शास्त्राध्ययन करने का उन्हें सुअवसर प्राप्त हुआ था। सनातन और रूप का पाण्डित्य, कवित्व और भक्ति-शास्त्रों का सम्यक् ज्ञान उन्हें पैतृक सम्पत्ति के समान उनसे उत्तराधिकार में प्राप्त हुआ था।

जीव गोस्वामी जैसे तीक्ष्ण बुद्धि सम्पन्न और मेधावी थे, वैसे ही सुयोग्य और भारत विख्यात पण्डितों से शास्त्राध्ययन करने का उन्हें सुअवसर प्राप्त हुआ था। सनातन और रूप का पाण्डित्य, कवित्व और भक्ति-शास्त्रों का सम्यक् ज्ञान उन्हें पैतृक सम्पत्ति के समान उनसे उत्तराधिकार में प्राप्त हुआ था। ग्रन्थ रचना-काल में उनकी सहायता करते समय भक्ति के क्षेत्र में उनके शीर्ष स्थानीय ग्रन्थों का हार्द उन्हें हस्तामलकवत् उपलब्ध हुआ था। उनका जो कार्य बाकी रह गया था उसे पूरा करने के लिए वे सब प्रकार से उपयुक्त थे। उनका सारा जीवन बीत गया था कृष्ण-लीला, रसतत्त्व वैष्णव-आचार और भक्तिपथ में विधि-निषेध सम्बन्धी ग्रन्थों

की रचना द्वारा वैष्णवमत की प्रतिष्ठा करने में। पर वैष्णवमत की प्रतिष्ठा दृढ़ रूप से उसकी दार्शनिक भित्ति सुदृढ़ किये बिना नहीं हो सकती थी। इस कार्य के लिए उनके पास अवकाश न रहा। इसलिए उन्होंने यह कार्य सौंपा जीव गोस्वामी को। उन्होंने षट्संदर्भ की रचना कर जिस दक्षता से इसे सम्पन्न किया, उससे वैष्णव धर्म जितना सम्पन्न और सुदृढ़ हुआ, उतना पहले कभी नहीं हुआ था।

सन्दर्भों के अतिरिक्त उन्होंने और भी अनेक ग्रन्थों की रचना की, अनेकों का संकलन किया, अनेकों की व्याख्या की। उन सबका न तो मुद्रण हुआ है, न सब उपलब्ध है। कुछ के प्राचीन ग्रन्थों में नाम मात्र देखने को मिलते हैं। जीव गोस्वामी के शिष्य कृष्णदास अधिकारी उनके ग्रन्थों की एक तालिका छोड़ गये है। जिसके आधार पर नरहरि चक्रवर्ती ने भक्तिरत्नाकर (1/833-842) में एक तालिका प्रस्तुत की है। कृष्णदास ने अपनी तालिका के अन्त में 'इत्यादि' शब्द जोड़ दिया है, जिससे स्पष्ट है कि उस तालिका के अतिरिक्त और भी ग्रन्थ है, जिनका उसमें नाम नहीं है। दो महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ, जिन्हें हम जानते हैं, उसमें छोड़ दिये गये है। वे हैं 'लघुतोषणी' और 'सर्वसम्वादिनी'।

सतीशचन्द्र मित्र ने उपरोक्त तालिका के आधार पर जीव गोस्वामी के ग्रन्थों को इस प्रकार श्रेणी-विभक्त किया है–

व्याकरण ग्रन्थ

(1) हरिनामामृत व्याकरण,
(2) सूत्र-मालिका,
(3) धातुसंग्रह।

संग्रह और स्तव-ग्रन्थ

(1) कृष्णार्च्चादीपिका,
(2) गोपाल विरूदावली,
(3) श्रीमाधव-महोत्सव,
(4) श्रीसंकल्प-कल्पवृक्ष,
(5) भावार्थचम्पू,
(6) रसामृत शेष,
(7) पद्मपुराणोक्त श्रीकृष्ण पद चिह्न और
(8) श्रीराधिका कर-पद्म-चिह्न।

लीला ग्रन्थ

श्रीगोपालचम्पू (पूर्व और उत्तर भाग)।

टीका ग्रन्थ

(1) ब्रह्मसंहिता की टीका,
(2) गोपालतापनी उपनिषद की टीका,
(3) भक्तिरसामृतसिन्धु की ('दुर्गम संगमनी') टीका,
(4) उज्ज्वल नीलमणि की (लोचन-रोचनी) टीका,
(5) योगसारस्तबकी टीका एवं
(6) अग्निपुराणोक्त श्रीगायत्री-विवृत्ति व भाष्य।

सन्दर्भ व विचार ग्रन्थ

(1) तत्त्व-सन्दर्भ,
(2) भगवत-सन्दर्भ
(3) परमात्म-सन्दर्भ,
(4) श्रीकृष्ण-सन्दर्भ,
(5) भक्ति-सन्दर्भ और
(6) प्रीति-सन्दर्भ।

सर्वसम्वादिनी को पृथक् ग्रन्थ न मानकर प्रथम चार ग्रन्थों की अनुव्याख्या या प्रपूर्ति मानना चाहिए। हम यहाँ जीव गोस्वामी के मुख्य-मुख्य ग्रन्थों का कुछ परिचय देने की चेष्टा करेंगे।

हरिनामामृत व्याकरण

यह एक अद्‌भुत ग्रन्थ है। इसका पाठ करते समय पाठकों को हरिनामामृत पान करने का अवसर मिलता है। इसके मंगलाचरण श्लोक में जीव गोस्वामी ने लिखा है कि जिस प्रकार श्री कृष्ण की उपासना करने वाले भक्त हरिनाम की माला की सहायता से नाम जप करते हैं, उसी प्रकार मैंने इस व्याकरण में सूत्रों की सहायता से भगवन नाम का उच्चारण या स्मरण होता है। सकेत, परिहास, पादपूरण या अनायास हरिनाम लेने से भी समस्त पापों का नाश होता है। इसलिए इस व्याकरण का अन्य व्याकरणों की अपेक्षा विशेष महत्त्व है। 'सूत्रमालिका' और 'धातुसंग्रह' स्वतन्त्र ग्रन्थ न होकर हरिनामामृत व्याकरण के ही दो अध्याय हैं।

षट-सन्दर्भ

षट् सन्दर्भ के अन्तर्गत पृथक-पृथक् छय सन्दर्भ हैं– तत्त्व, भगवत् परमार्थ, श्रीकृष्ण, भक्ति और प्रीति। इसलिए इसे षट्-सन्दर्भ कहते हैं। यह सभी सन्दर्भ श्रीमद्भागवत की तत्त्वव्याख्या स्वरूप हैं, इसलिए इन्हें 'भागवत-सन्दर्भ' कहते हैं।

ग्रन्थ के मंगलाचरर में जीव गोस्वामी की उक्ति है–'भगवान का तत्त्व प्रकाशित करने के लिए रूप सनातन ने मुझे इस ग्रन्थ की रचना में प्रवृत्त किया है। वृद्ध वैष्णादि द्वारा रचित ग्रन्थों का उनके किसी दाक्षिणात्य भट्ट बन्धुने सार संकलन कर एक ग्रन्थ प्रणयन किया है, जो कहीं-कहीं खण्डित है, कहीं क्रमानुसार है और कहीं बिना किसी क्रम के। उसी ग्रन्थ की पर्यालोचना कर क्षुद्र जीव ने उसे क्रमानुसार लिखा है।'

वृद्धवैष्णवों से जीव गोस्वामी का अभिप्राय श्रीमन्मध्वाचार्यय श्रीधर स्वामी आदि प्राचीन वैष्णवाचार्यों से है और दाक्षिणात्य भट्ट बन्धु से उनका अभिप्राय श्रीपाद गोपालभट्ट गोस्वामी से है, जैसा कि बलदेव विद्याभूषण ने तत्त्व-सन्दर्भ की टीका में कहा है। इससे स्पष्ट है कि मूल रूप से इस ग्रन्थ का प्रणयन किया श्रीगोपालभट्ट गोस्वामी ने। उसे पूर्ण कर क्रमबद्ध किया और उसकी पर्यालोचना कर उसे अन्तिम रूप श्रीजीव गोस्वामी ने दिया। श्रीजीव ने प्रत्येक सन्दर्भ के आरम्भ में यह लिखकर इस बात को दोहराया है–

तस्याद्यं ग्रन्थालेख्यं क्रान्तव्युत्क्रान्त खण्डितम्।
पर्यालाच्यात पर्यायं कृत्वा लिखित जीवकरू॥

जीव गोस्वामी द्वारा मंगलाचरण में गोपालभट्ट गोस्वामी का नाम न लिखे जाने और केवल रूप सनातन के बन्धु दाक्षिणात्य भट्ट लिखकर उनका संकेत किये जाने का कारण यह हो सकता है कि उन्होंने दैन्यवश अपना नाम लिखने के लिए जीव गोस्वामी को उसी प्रकार निषेध कर दिया हो, जिस प्रकार उन्होंने चैतन्य-चरितामृत के लेखक को अपने सम्बन्ध में कुछ भी लिखने का निषेध किया था।

तत्त्व-सन्दर्भ इस सम्बन्ध में जीव गोस्वामी ने प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमानादि, जितने भी प्रमाण हैं, उनमें से केवल शब्द प्रमाण को ग्रहण किया है, बाकघी सबको दोषयुक्त ठहराया है। शब्द प्रमाण में भी श्रीमद्भागवत का श्रेष्ठत्वं सिद्ध किया है। उसे ब्रह्मसूत्र का व्यासदेव द्वारा स्वरचित भाष्य माना है। इसलिए उन्होंने

ब्रह्मसूत्र के भाष्य की पृथकरूप से रचना का प्रयोजन अस्वीकार करते हुए भागवत सन्दर्भ की श्रीमद्भागत्के की भाष्यरूप में रचना की है।

भागवत सन्दर्भ

इस सन्दर्भ में परब्रह्म के स्वरूप का वर्णन किया गया है। परब्रह्म अद्वय है, अर्थात् स्वजातीय, विजातीय और स्वगत भेदरहित है। जीव और जगत् उसी की शक्ति का परिणाम है। उसकी अनन्त शक्तियाँ हैं, जिनमें तीन प्रधान हैं–चित्-शक्ति या स्वरूप-शक्ति, जीव-शक्ति और माया शक्ति। चित्-शक्ति का प्रकाश है उसके धाम, परिकर और लीलादि, जीव-शक्ति का प्रकाश है जीव, और माया-शक्ति का प्रकाश है जगत्।

ब्रह्म की स्वरूप

शक्ति के विकास-क्रम के अनुसार उसके अनन्त रूप हैं, जिनमें तीन मुख्य हैं–ब्रह्म, परमात्मा और भगवान। ब्रह्म में स्वरूप-शक्ति का न्यूनतम विकास है, केवल उतना ही, जितना सत्तामात्र की रक्षा के लिए आवश्यक है। उसमें ऐसा कोई विशेषत्व नहीं, जो अनुभव में आ सके। इसलिए उसे निर्विशेष कहते हैं। परमात्मा में स्वरूप-शक्ति का विकास ब्रह्म की अपेक्षा अधिक है। इसलिए वह मूर्त है। श्रुतियाँ उसे अगुष्ठ-प्रमाण कहती हैं। वह अन्तर्यामी रूप से सब जीवों के अन्त:करण में विद्यमान है।

भगवान् में स्वरूप शक्ति का पूर्णतम विकास है। ऐश्वर्य, माधुर्य और सौन्दर्य की उनमें पूर्ण अभिव्यक्ति है। वे रस स्वरूप हैं। उनके भी वासुदेव, राम, नारायण, नृसिंह आदि अनेक रूप हैं, जिनमें उनके ऐश्वर्य, माधुर्यदि के विकासक्रम का तारतम्य है। पर उनका श्रीकृष्ण रूप ही सर्वक्षेष्ठ है। वे स्वयं, भगवान् हैं। अन्य भगवद्-स्वरूप उनके अंश और कला हैं।

परमात्म-सन्दर्भ

इसमें परमात्मा के जीव और प्रकृति के साथ सम्बन्ध की आलोचना की गयी है। परमात्मा परब्रह्म का वह अंश है, जिसके द्वारा वह अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड की सृष्टि आदि का कार्य करता है और उनमें व्याप्त रहकर उनका संचालन करता हैं। परमात्मा का सम्बन्ध केवल जीव शक्ति और माया-शक्ति से है। जीव शक्ति

को तटस्था-शक्ति के जीव इसी शक्ति का परिणाम है। वे उसी प्रकार भगवान् के अंश हैं, जिस प्रकार स्फुलिंग अग्नि के।

माया

शक्ति को बहिरंगा शक्ति कहते हैं। इसकी परब्रह्म के स्वरूप में स्थिति नहीं है। अचेतन और अन्धकारमय है। इसका भगवान् से उसी प्रकार सम्बन्ध है, जिस प्रकार का धूम्र का अग्नि से। जगत् इसी का परिणाम है। जीव और जगत् का ब्रह्म से अचिंत्य-भेदाभेद का सम्बन्ध है।

श्रीकृष्ण-सन्दर्भ- इस सन्दर्भ में जीव गोस्वामी ने श्रीमद् भागवत के 'एते चांशकला पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयं' श्लोक के अनुसार सिद्ध किया है कि कृष्ण अवतार नहीं अवतारी हैं अन्य सभी अवतार उनके अंश हैं। कृष्ण के धाम, परिकर, लीलादि का भी उन्होंने इसमें विस्तार से वर्णन किया है। भगवद्धाम मायातीत है। पर जब भगवान् भूमण्डल पर अवतीर्ण होते हैं, तब पहले उनके धाम का अवतरण होता है। इस प्रकार भगवद्धाम के दो प्रकाश है–प्रकट प्रकाश और अप्रकट प्रकाश। अप्रकट प्रकाश भी दो प्रकार का है– गोलोक अर्थात् वैकुण्ठ के ऊपर स्थित अप्रकट प्रकाश और पृथ्वी पर स्थित अप्रकट प्रकाश। गोलोक के अन्तर्मण्डल को वृन्दावन कहते हैं।

भगवान् की लीला भी दो प्रकार की हैं–प्रकट लीला और अप्रकट लीला। जब लीला ब्रह्माण्ड में गोचरीभूत नहीं होती, तब उसे अप्रकटलीला कहते हैं। जब भगवान् की इच्छा से लीला ब्रह्माण्ड में गोचरीभूत होती है, तब उसी लीला को प्रकट लीला कहते हैं। प्रकट लीला में प्राकृत जगत् के जीवों के समान श्रीकृष्ण का जन्म होता है। जन्म के पश्चात् शैशव, वाल्य, कौमार, पोगण्ड और कैशोरावस्था का क्रम चलता है। अप्रकट लीला में कृष्ण नित्य-किशोर है। इसलिए बहुत सी मधुरलीलाएं, जिसका रसास्वादन श्रीकृष्ण को प्रकट लीला में होता है, अप्रकटलीला में सम्भव नहीं है। भगवान् के परिकर दो प्रकार के है– नित्य सिद्ध और साधन-सिद्ध। नित्य सिद्ध परिकर भगवान् या उनकी चिच्छक्ति के ही प्रकाश विशेष हैं उनका सेवाभाव स्वयं सिद्ध है। श्रीकृष्ण के परिकर हैं नन्द-यशोदा, वसुदेवदृदेवकी, व्रज की गोपियाँ, द्वारका की महिषियाँ, व्रज के गोप और द्वारका-मथुरा के यादवगण। नन्द-यशोदा का श्रीकृष्ण के प्रति वात्सल्यभाव अनादिकाल से स्वयं-सिद्ध है, जन्मजात नहीं। इसी प्रकार अन्य परिकारों का अपना-अपना भाव भी अनादिकाल से स्वयं-सिद्ध है।

श्रीकृष्ण रसस्वरूप हैं। रस आस्वाद्यं है। जो आस्वाद्य है वही मधुर है। इसलिए रस स्वरूप श्रीकृष्ण माधुर्य स्वरूप हैं। माधुर्य ही उनकी भगवत्ता का सार है। उनका ऐश्वर्य उनके माधुर्य से पूर्णतः आच्छादित है। श्रीकृष्ण का माधुर्य असीम है, राधा का प्रेम असीम है। असीम होते हुए भी कृष्ण का माधुर्य राधा के प्रेम से और राधा का प्रेम कृष्ण के माधुर्य से उच्छवसित होता है। इसीलिए श्रीकृष्ण का माधुर्य असीम होते हुए भी निरन्तर वर्धमान होने के कारण नित्य नवीन है। रस स्वरूप श्रीकृष्ण सर्वोत्कृष्ट भक्ति रस का आस्वादन करने के लिए सब प्रकार से स्वतन्त्र होते हुए भी भक्तों के अधीन हैं।

भक्ति-सन्दर्भ

इसमें भक्ति के स्वरूप, प्रकार, अंग और गोपानादि का वर्णन किया गया है। भक्ति है ईश्वर में परानुरक्ति। यह जीव की अपनी शक्ति नहीं, भगवान् की ह्लादिनी शक्ति की वृत्ति है। गुणातीत ह्लादिनी शक्ति की वृत्ति होने के कारण यह निर्गुण हैं, भगवान् इसे जीव के चित्त में निक्षिप्त कर उसे आनन्दित करते हैं और स्वयं भी आनन्दित होते हैं। भक्त्यानन्द भगवान् के स्वरूपानन्द से भी श्रेष्ठ है।

भक्ति कर्म, ज्ञान और योग से श्रेष्ठ है। भक्ति की प्रारम्भिक अवस्था में ज्ञान और योग सहायक हैं, क्योंकि वे सांसारिक विषयों की कामना से मुक्त हैं। भक्ति की उच्चतर अवस्था में वे बाधक हैं, क्योंकि मुक्ति की कामना से वे मुक्त नहीं हैं, पर किसी भी अवस्था में वे भक्ति का आवश्यक अंग नहीं है। कर्म, ज्ञान और योग फल की प्राप्ति के लिए भक्ति की अपेक्षा रखते हैं। भक्ति किसी अन्य साधन की अपेक्षा नहीं रखती। यह परम स्वतन्त्रता है।

वर्णाश्रम-धर्म भक्ति का अंग नहीं है। इससे स्वर्ग की प्राप्ति होती है, मुक्ति की नहीं। निष्काम-कर्म से मुक्ति की प्राप्ति होती है, श्रीकृष्ण की प्रेम सेवा की नहीं। कर्म के सम्यक् त्याग में भी भक्ति का आकार ही है, प्राण नहीं। भक्ति का प्राण है आत्यन्ति की श्रद्धा और श्रीकृष्ण की प्रेम सेवा की बलवती लालसा।

भगवत्-साक्षात्कार भक्ति से ही होता है, अन्य किसी साधन से नहीं। यदि हृदय में भक्ति न हो और साक्षात्कार हो तो वह साक्षात्कार भी असाक्षात्कार के समान है। उससे भगवान् के माधुर्य का आस्वादन नहीं होता, उसी प्रकार जिस प्रकार पित्त दूषित जिह्वा से मिसरी के मिठास का आस्वादन नहीं होता-

'निरूपाधि प्रीत्यास्पदतास्वभावस्य प्रियत्वधर्मानुभवं बिना तु साक्षात्कारोऽप्यासाक्षात्कार एव। माधुर्य बिना दुष्ट जिह्वया खण्डस्येव

भक्ति साधन भी है, साध्य भी। साधन-भक्ति साध्य-भक्ति की अपरिपक्वावस्था है। साधन-भक्ति के चौसठ अंग है, जिनका पर्यवसान नवधा-भक्ति में होता है। नवधा-भक्ति के अंग है—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्म-निवेदन। इनमें भी नाम कीर्तन सर्वप्रधान है। नाम कीर्तन के बगैर भक्ति का कोई भी अंग पूर्ण नहीं है।

भक्ति दो प्रकार की है—वैधी और रागानुगा। वैधी-भक्ति के साधक भजन में प्रवृत्त होते हैं शास्त्र-विधि के भय से और सांसारिक दुखों से परित्राण पाने के उद्देश्य से। रागमार्ग् के साधक भजन में प्रवृत्त होते हैं। श्रीकृष्ण में राग, प्रीति या आसक्ति के कारण उनकी सेवा के लोभ से।

रागानुगा-भक्ति रागात्मिका भक्ति की अनुगता है। रागात्मिका भक्ति के आश्रय हैं नन्द-यशोदा-राधा-ललितादि, जो श्रीकृष्ण की स्वरूप-शक्ति के मूर्त विग्रह हैं और अनादिकाल से व्रजधाम में व्रज-परिकरों के रूप में विराजमान हैं।

व्रज में श्रीकृष्ण के परिकर चार प्रकार के हैं—दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर। दास्य, सख्य वात्सल्यभाव के परिकरों की कृष्ण-सेवा उनके सम्बन्ध के अनुरूप होती है। इसलिए वह सम्बन्ध रूपा कहलाती है। परन्तु व्रजसुन्दरियों की रागात्मिका-भक्ति सम्बन्ध की कोई अपेक्षा नहीं रखती। वह एकमात्र श्रीकृष्ण-प्रीति की कामना की अपेक्षा रखती है। इसलिए वह कामरूपा कहलाती है।

रागात्मिका-भक्ति के समान रागानुगा भक्ति भी दो प्रकार की है—सम्बन्धानुगा और कामानुगा। कामानुगाओं की कामानुगा भक्ति भी दो प्रकार की है—सम्भोगेच्छामयी और तत्तद्भावेच्छामयी। सम्भोगेच्छामयी भक्ति में श्रीकृष्ण के साथ सम्भोग की इच्छा रहती है। सम्भोग की इच्छा रखने वाले भक्तों को व्रज में व्रजेन्द्रनन्दन की सेवा नहीं मिलती, क्योंकि व्रज में स्वसुख वासना है ही नहीं। उन्हें द्वारका की प्राप्ति होती है।

साधन दो प्रकार का है—अन्तर और बाह्य। अन्तर-साधन का सम्बन्ध मन से है, बाह्य-साधन का देह ओर बाह्य इन्द्रियों से। रागानुगा श्रवण अन्तर-साधन प्रधान है। लीला-स्मरण इसका मुख्य अंग है। पर श्रवण कीर्तनादि बाह्य-साधन इसमें उपेक्षनीय नहीं है। बाह्य-साधन से अन्तर साधन की पुष्टि होती है। अन्तर साधन होता है। अन्तश्चिन्तित सिद्ध देह से।

प्रीति-सन्दर्भ

प्रति सन्दर्भ में परमपुरुषार्थ का निरूपण किया गया है। परमतम पुरुषार्थ है। भगवत् प्रीति। प्रीति शब्द सुख और प्रियता दोनों का व्यंजक है। प्रियता में सुख

का धर्म विद्यमान है, पर सुख को प्रियता नहीं कहा जा सकता। सुख का तात्पर्य एकमात्र अपने उल्लास से है, प्रियता का तात्पर्य प्रीति के विषय या प्रियजन के उल्लास के कारण अपने हृदय में जो उल्लास होता है उससे है। सुख के मूल में किसी का आनुकूल्य या सुख विधान करने की स्पृहा नहीं रहती, इसलिए सुख का विषय नहीं होता। प्रियता के मूल में प्रियजन का सुख-विधान करने की स्पृहा रहती है, इसलिए उसका विषय होता है।

भगवत् प्रीति की प्रथम अवस्था में देहादि की आसक्ति जाती रहती है। भगवत् प्रीति के पूर्णाविर्भाव में भगवान् में परमावेश और परमानन्द पूर्णता की उत्पत्ति होती है। भक्त के चित्त में आविर्भूता प्रीति उसके चित्त में संस्कार-विशेष उत्पन्न कर उसे क्रमशः रति, प्रेम प्रणय, मान, स्नेह, राग, अनुराग और महाभाव के स्तर तक ले जाती है। रति में उल्लास की अधिकता होती है। रति के उत्पन्न होने पर केवल भगवान् में ही प्रयोजन-बुद्धि होती है। भगवान् के अतिरिक्त और सभी पदार्थ तुच्छ प्रतीत होने लगते हैं।

प्रेम में कृष्ण के प्रति ममता अधिक होती है। प्रेम उत्पन्न होने पर यदि प्रीति भंग होने का कारण भी उपस्थित हो तो उसके स्वरूप में किसी प्रकार की कमी नहीं आती। ममता किस प्रकार प्रीति को समृद्ध करती है इसका उदाहरण देते हुए मार्कण्डेय पुराण में कहा गया है कि ममतायुक्त पालतू मुर्गे को बिल्ली के खा जाने से उसके मालिक को जितना दुःख होता है, उतना ममता शून्य चूहे को चटक पक्षी के खा जाने से नहीं होता। प्रेम लक्षणा-भक्ति में ममता के आधिक्य के कारण ममता को ही भक्ति कहा गया है।

प्रणय में विश्वास की, विश्रंभ की प्रचुरता होती है। प्रणय में सम्भ्रम के लिए स्थान नहीं रहता, क्योंकि इसमें अपने मन, प्राण, बुद्धि, देह परिच्छदादि के प्रिय के मन, प्राण, बुद्धि, देह, परिच्छदादि से अभिन्न होने की बुद्धि होती है।

मान में प्रियतातिशय के कारण प्रणय कौटिल्याभासयुक्त वैचित्री धारण करता है। मान उपस्थित होने पर भक्त के प्रणय कोप से भगवान् भी प्रेममय भय को प्राप्त होते हैं-

'यस्मिन जाते श्रीभगवानपि तत्प्रणयकोपात् प्रेममयं भयं भजते।'

स्नेह में चित्त अत्यन्त द्रवित होता है। स्नेह के उदय होने पर भगवान् के सम्बन्धाभास में ही महावाष्पादि विकार, प्रिय-दर्शनादि से अतृप्ति और प्रियतम के अनन्त सामर्थ्यवान होते हुए भी किसी के द्वारा उनके अनिष्ट की आशंका का जन्म होता है।

राग में स्नेह अतिशय अभिलाषात्मक होता है। राग उत्पन्न होने पर प्रियतम का क्षणिक विरह अत्यन्त असह्य होता है। प्रियतम के संयोग में परम दु:ख भी सुख रूप में प्रतीत होता है और वियोग में परमसुख भी दु:ख रूप में प्रतीत होता है। अनुराग की अवस्था में राग प्रिय का नवीन नवीन रूप में अनुभव कराता है और स्वयं भी नवीन-नवीन होता है। अनुराग के उदय होने पर परस्पर का अत्यन्त वशीभाव, प्रेमवैचित्य कृष्ण सम्बन्धी अप्राणी में भी जन्म लेने की लालसा और विच्छेद में अतिशय स्फूर्ति का अनुभव होता है।

महाभाव में अनुराग असमोर्द्ध उन्मादक चमत्कारित्व को प्राप्त होता है। इस अवस्था में श्रीकृष्ण के संयोग में पलक का पड़ना भी असह्य हो जाता है और कल्प के बराबर समय क्षणभर जैसा प्रतीत होता है, वियोग में एक क्षण भी कल्प जैसा लगता है। योग-वियोग दोनों अवस्थाओं में महाउद्दीप्त सात्वि भाव उत्पन्न होते हैं। प्रीति भगवत् स्वभाव-विशेष की सहायता से प्रीतिमान व्यक्ति में अनुग्राह्याभिमान, अनुग्राहकाभिमान, मित्राभिमान या प्रियाभिमान उत्पन्न करती है।

अनुग्राह्याभिमान-विशिष्ट, भक्त भगवान् में ममताहीन होते हैं या ममतावान। ममताहीन भगवान् को ब्रह्म या परमात्मा के रूप में जानते हैं। इनकी प्राप्ति ज्ञान-भक्ति कहलाती है। इन्हें शान्त भक्त कहते हैं।

अनुग्राह्याभिमान- विशिष्ट ममतावान् भक्त भगवान् को अपना प्रभु मानते हैं। इनकी रति दास्य-रति कहलाती है।

अनुग्राहकाभिमान- विशिष्ट भक्तों का भगवान् में पुत्रादि-भाव होता है। इनकी रति वात्सल्य-रति कहलाती है।

मित्राभिमान भक्त भगवान् को अपना मित्र या सखा मानते हैं। इनकी रति सख्य रति कहलाती है।

प्रियाभिमानि भक्तों में भगवान् के प्रति कान्ताभाव होता है। इनकी रति को मधुरा रति कहते हैं।

शानत, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर पंचविध रति को स्थायीभाव कहते हैं। विभाव, अनुभाव सात्विक और व्याभिचारीभाव के सम्मिलन से इनकी रस में परिणति होती है। इसलिए शान्त, दास्य, सख्य,वात्सल्य, मधुर-भेद से रस पंचविध है। इसके अतिरिक्त हास्यादि भेद से रस के सात और प्रकार हैं।

शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य, मधुर-रस उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं। मधुर-रस सबसे श्रेष्ठ है। कृष्ण-प्रेयसी स्वकीया परकीया भेद से दो प्रकार की हैं। रुक्मिणी आदि स्वीयाकान्ता हैं। श्रीराधादि परमस्वीया होते हुए भी प्रकटलीला में

परकीयारूप में प्रतीयमान है। स्वकीया प्रेयसियों में विवाह विधि की अपेक्षा के कारण अनुराग होते हुए भी उतना प्रबल नहीं है, जितना परकीया कान्ताओं में। व्रज-सुन्दरियाँ प्रकटलीला में विवाह-विधि, इहलोक, परलोक और वेदधर्मादि की अपेक्षा न कर केवल श्रीकृष्ण के प्रति अपने अनुराग के वशीभूत हो उन्हें आत्मसमर्पण करती हैं।

6

निम्बार्काचार्य

निम्बार्काचार्य एक महत्त्वपूर्ण वैष्णव सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य के रूप में प्रख्यात रहे हैं। यह ज्ञातव्य है कि वैष्णवों के प्रमुख चार सम्प्रदायों में निम्बार्क सम्प्रदाय भी एक है। इसको 'सनकादिक सम्प्रदाय' भी कहा जाता है। ऐसा कहा जाता है कि निम्बार्क दक्षिण भारत में गोदावरी नदी के तट पर वैदूर्य पत्तन के निकट (पंडरपुर) अरुणाश्रम में श्री अरुण मुनि की पत्नी श्री जयन्ति देवी के गर्भ से उत्पन्न हुए थे। कतिपय विद्वानों के अनुसार द्रविड़ देश में जन्म लेने के कारण निम्बार्क को द्रविड़ाचार्य भी कहा जाता था।

जीवन परिचय

द्वैताद्वैतवाद या भेदाभेदवाद के प्रवर्तक आचार्य निम्बार्क के विषय में सामान्यतया यह माना जाता है कि उनका जन्म 1250 ई. में हुआ था। श्रीनिम्बार्काचार्य की माता का नाम जयन्ती देवी और पिता का नाम श्री अरुण मुनि था। इन्हें भगवान सूर्य का अवतार कहा जाता है। कुछ लोग इनको भगवान के सुदर्शन चक्र का भी अवतार मानते हैं तथा इनके पिता का नाम श्री जगन्नाथ बतलाते हैं। वर्तमान अन्वेषकों ने अपने प्रमाणों से इनका जीवन-काल ग्यारहवीं शताब्दी सिद्ध किया है। इनके भक्त इनका जन्म काल द्वापर का मानते हैं। इनका जन्म दक्षिण भारत के गोदावरी के तट पर स्थित वैदूर्यपत्तन के निकट अरुणाश्रम में हुआ था। ऐसा प्रसिद्ध है कि इनके उपनयन के समय स्वयं देवर्षि नारद ने

इन्हें श्री गोपाल-मन्त्री की दीक्षा प्रदान की थी तथा श्रीकृष्णोपासना का उपदेश दिया था। इनके गुरु देवर्षि नारद थे तथा नारद के गुरु श्रीसनकादि थे। इसलिये इनका सम्प्रदाय सनकादि सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध है। इनके मत को द्वैताद्वैतवाद कहते हैं।

निम्बार्क का जन्म भले ही दक्षिण में हुआ हो, किन्तु उनका कार्य क्षेत्र मथुरा रहा। मथुरा भगवान श्री कृष्ण की जन्म भूमि रही, अतः भारत के प्रमुख सांस्कृतिक केन्द्रों में मथुरा का अपना निजी स्थान रहता चला आया है। निम्बार्क से पहले मथुरा में बौद्ध और जैनों का प्रभुत्व हो गया था। निम्बार्क ने मथुरा को अपना कार्य क्षेत्र बनाकर यहाँ पुनः भागवत धर्म का प्रवर्तन किया।

द्वैताद्वैतवाद मत

श्रीनिम्बार्काचार्य के अनुसार इनका मत अत्यन्त प्राचीन काल से सम्बद्ध है, कोई नया मत नहीं है। इन्होंने अपने भाष्य में नारद और सनत्कुमार के नाम का उल्लेख करके यह सिद्ध किया है कि इनका मत सृष्टि के आदि से है। कहते हैं कि पहले इनका नाम नियमानन्द था। श्रीदेवाचार्य ने इसी नाम से इनको नमस्कार किया है। जब ये यमुना तटवर्ती ध्रुव क्षेत्र में निवास करते थे, तब एक दिन एक दण्डी संन्यासी इनके आश्रम पर आये। उनके साथ ये आध्यात्मिक विचार-विमर्श में इतने तल्लीन हो गये कि सूर्यास्त हो गया। सूर्यास्त होने पर जब इन्होंने अपने अतिथि संन्यासी से भोजन करने का निवेदन किया, तब उन्होंने सूर्यास्त की बात कहकर भोजन करने में अपनी असमर्थता व्यक्त की। दण्डी संन्यासी प्रायः सूर्यास्त के बाद भोजन नहीं करते हैं। अतिथि के बिना भोजन किये लौट जाने की बात पर श्रीनिम्बार्काचार्य को काफी चिन्ता हुई। भगवान ने इनकी समस्या के समाधान के लिये प्रकृति के नियमों में परिवर्तन की अद्‌भुत लीला रची। सभी लोगों ने आश्चर्यचकित होकर देखा कि इनके आश्रम के सन्निकट नीम के ऊपर सूर्यदेव प्रकाशित हो गये। भगवान की अपार करुणा का प्रत्यक्ष दर्शन करके आचार्य का हृदय गद्‌गद हो गया। भगवान की करुणा के प्रति शत-शत कृतज्ञता प्रकट करते हुए इन्होंने अपने अतिथि को भोजन कराया। अतिथि के भोजनोपरान्त ही सूर्यास्त हुआ। भगवान की इस असीम करुणा को लोगों ने श्रीनिम्बार्काचार्य की सिद्धि के रूप में देखा, तभी से इनका नाम निम्बादित्य अथवा निम्बार्क प्रसिद्ध हुआ। यद्यपि श्रीनिम्बार्काचार्य ने अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया, किन्तु वर्तमान में वेदान्त-कृष्ण की पूजा होती है। श्रीमद्‌भागवत

इस सम्प्रदाय का प्रधान ग्रन्थ है। इनके मत में ब्रह्म से जीव पृथक् भी है और एक भी है।

निम्बार्क सम्प्रदाय

निम्बार्क सम्प्रदाय का विकास दो श्रेणियों में हुआ, एक विरक्त और दूसरी गृहस्थ। आचार्य निम्बार्क के दो प्रमुख शिष्य थे, केशव भट्ट और हरि व्यास। केशव भट्ट के अनुयायी विरक्त होते हैं और हरि व्यास के अनुयायी गृहस्थ। निम्बार्क सम्प्रदाय में राधा और कृष्ण की पूजा होती है। ये लोग गोपीचन्दन का तिलक लगाते हैं और श्रीमद्भागवत इनका प्रमुख सम्प्रदाय ग्रन्थ है। भारत में अब भी इस सम्प्रदाय के अनुयायी पर्याप्त संख्या में हैं। सम्प्रदाय के रूप में निम्बार्क परम्परा को आगे बढ़ाने वाले उत्तरवर्ती आचार्यों में गोस्वामी श्री हित हरिवंश, श्री हरि व्यास और स्वामी हरिदास की गिनती प्रमुख रूप से की जाती है। उत्तरवर्ती आचार्यों में माधव मुकुन्द (1700- 1800 ई.) भी बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि निम्बार्क का गोलोकवास वृन्दावन या इसके आस-पास चौदहवीं शती में हुआ।

निम्बार्काचार्य के सिद्धांत

श्री निम्बार्काचार्य ने जीव, माया, जगत् आदि का ब्रह्म से द्वैताद्वैत स्थापित किया है, किन्तु इससे पहले कि हम 'जीव-ब्रह्म ऐक्य' या 'जीव-ब्रह्म पार्थक्य' की चर्चा करें, यह उचित होगा कि ब्रह्म आदि के सम्बन्ध में निम्बार्क के मत का पहले पृथक् पृथक् रूप से उल्लेख कर लिया जाये।

ब्रह्म

आचार्य निम्बार्क के अनुसार ब्रह्म जीव और जगत् से पृथक् भी है और अपृथक् भी। परिणाम के रूप में वे पृथक् हैं, किन्तु स्वरूप में अन्तर न होने के कारण वे ब्रह्म से अपृथक् भी हैं। ब्रह्म जगत् रूप में परिणत होने पर निर्विकार है। प्रलयावस्था में समस्त जगत् उसमें लीन हो जाता है। परन्तु लीन होने पर भी ब्रह्म में विकार उत्पन्न नहीं होता। गुण और गुणी में अभेद होता है। अभेद मानने के कारण ही निम्बार्क ने ब्रह्म को निर्गुण माना है, किन्तु सृष्टि के रूप में ब्रह्म सगुण है, निम्बार्क ब्रह्म को चतुष्पाद मानते हैं। यह दृश्यमान संसार ब्रह्म का प्रथम चरण है। विश्व के समस्त पदार्थों को विभिन्न रूपों देखने वाला जीवात्मा द्वितीय

चरण है। समस्त ब्रह्माण्ड के पदार्थों का नित्य द्रष्टा ईश्वर तृतीय चरण है। इन तीनों से ऊपर आनन्द मात्र का अधिष्ठान अक्षर ब्रह्म चतुर्थ चरण है। इस प्रकार सम्पूर्ण विश्व और जीव समुदाय भी ब्रह्म ही है। जगत् और जीव ब्रह्म के अंश मात्र हैं और अंश तथा अंशी में भेदाभेद सम्बन्ध है। साधक जीव जब चिदेश के साथ एकाकार होकर आनन्द की प्राप्ति करता है तो उसे ही मुक्ति कहते हैं, जिस प्रकार सूर्य अपनी रश्मियों से समग्र विश्व को प्रकाशित करता है, वैसे ही ब्रह्म भी अपने आनन्दमय रूप से सम्पूर्ण जगत् को आनन्दित करता है। किन्तु जिस प्रकार सूर्य कि किरण और सूर्य में भेद भी है और अभेद भी उसी प्रकार जीवगत आनन्द और ब्रह्मगत आनन्द में भेद भी है और अभेद भी। ब्रह्म समग्र आनन्द की अनुभूति करता है। अत: यह ईश्वर और सर्वज्ञ कहलाता है। उसकी तुलना में जीव आनन्द के एक विशेष अंश का ही अनुभव या ज्ञान करता है। अत: जीव विशेषज्ञ माना जा सकता है, सर्वज्ञ नहीं। सर्वज्ञ न होने के कारण ही जीव ब्रह्म के अधीन है। ईश्वर ब्रह्म, जीव ब्रह्म और जगत् ब्रह्म, इन तीनों का अधिष्ठान अक्षर ब्रह्म है। किन्तु जगत् का निमित्त और उपादान कारण होने के कारण वह सगुण भी कहलाता है। ब्रह्म जिस स्थिति में समग्र आनन्द की अनुभूति करता है, उस स्थिति में वह ईश्वर कहलाता है। ब्रह्म का ईश्वर रूप ही सर्वज्ञ सर्वप्रकाशक तथा सृष्टि स्थिति और लय का कारण माना जाता है।

निम्बार्क ने ईश्वर और ब्रह्म को एक माना है। ब्रह्म जगत् का उपादान कारण होते हुए भी विकारी नहीं है। निम्बार्क ने ब्रह्म को व्यूह कहा है। वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध ये चार व्यूह हैं। निम्बार्क मतानुयायी पुरुषोत्तम ने ईश्वर के अवतारों को तीन वर्गों में विभाजित किया है– गुणावतार, पुरुषावतार और लीलावतार। ब्रह्मा रजोगुण के आधार पर संसार का निर्माण करता है। विष्णु सत्वगुण के द्वारा संसार का रक्षण करता ह$ै$ और शिव तमो गुण के माध्यम से संसार का विनाश करता है। क्षीर सागर शायी विष्णु पुरुषावतार हैं। लीलावतार दो प्रकार के होते हैं– आवेशावतार और स्वरूपावतार। नर और नारायण इस कोटि में आते हैं। निम्बार्क का विचार है कि ब्रह्म श्रुति के माध्यम से जाना जा सकता है।

आत्मा

निम्बार्क के कथनानुसार आत्मा ज्ञाता है। अपने अस्तित्त्व के लिए ब्रह्म पर निर्भर करता है। यह अणु रूप है। यद्यपि यह ज्ञानमय है फिर भी ज्ञान का आश्रय कहा जाता है। आत्मा परमात्मा के अधीन होने के कारण उससे भिन्न है, किन्तु

आत्मा की सत्ता स्वरूप और गति का स्रोत परमात्मा ही है और परमात्मा से भिन्न आत्मा का कोई अस्तित्त्व नहीं है। अतः वह अभिन्न भी है। 'तावमसि' जैसे वाक्यों का निम्बार्क ने जो विश्लेषण किया है, उससे भी ब्रह्म, आत्मा और जगत् में भेदाभेदवाद की पुष्टि होती है।

जीव

निम्बार्क के अनुसार निरूपाधिक चिन्मात्र ब्रह्म परमात्मा है। जीव की प्रवृत्ति विषयोपभोग की ओर होती है। सुख और दुःख का अनुभव भी जीव ही करता है–

अहमित्थेव यो वेद्यः स जीव इति कीर्तितः।
स दुःखी स सुखी चौव स पात्रं बन्धमोक्षयोः॥

अविद्योपाधिक वासना बद्ध जीव को ही स्थूलारून्धती न्याय से अहंकार भी कहा जाता है। भूमासाधना द्वारा मन की वृत्तियों को अन्तर्मुखी करके यानी अहम् (मैं) को सूक्ष्म अहम् (अस्मिता मैं कर्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ) मैं लय करके तथा सूक्ष्म अहम् को भी अस्मि (हूँ) में लय करके जीव ब्राह्मी स्थिति में पहुँच जाता है। इस स्थिति में निरन्तर रहने के अनन्तर ही जीव का मोक्ष होता है। इसी भाव को निम्बार्क ने इस तरह से भी प्रस्तुत किया है कि हृदयस्थ वृन्दावन में प्रिया, प्रियतम और प्रेम इन तीनों की समवेत स्थिति का चिन्तन ही उपासना है। इस स्थिति की चरमावस्था में जब साधक, साध्य और साधन का भेद मिट जाता है, तो जीव नित्य कान्ताभाव से अखंड प्रेमरस का आस्वादान करता है।

निम्बार्क के अनुसार जीवात्मा परमात्मा के समान ज्ञान स्वरूप है, परन्तु वासना से ग्रस्त होने के कारण वह परमात्मा के अधीन माना जाता है। इसलिए वह जन्म, मरण, क्षय, वृद्धि, परिणाम आदि विकारों से ग्रस्त रहता है। वह अणु है, किन्तु प्रतिदेह से भिन्न होने के कारण अनन्त (असंख्य) है।

ज्ञानस्वरूपं च हरेरधीनं शरीरसंयोगवियोगयोग्यम्।
अणुंहि जीवं प्रतिदेहभिन्नं ज्ञातृत्ववन्तं यमनन्तमाहुः॥

अनादि माया से ग्रस्त होने के कारण जीव अपने नित्य, शुद्ध, बुद्ध मुक्त स्वरूप को नहीं समझ पाता। केवल भगवत् प्रसाद से ही वह अपने स्वरूप की प्राप्ति (वासनाराहित्य) कर सकता है। भगवत प्रसाद का साधन भक्ति योग है। मुक्त अवस्था में जीव ब्रह्म के साथ अपने और जगत् के अभिन्नत्व का अनुभव करता है। वह अपने को और जगत् को ब्रह्म रूप में ही देखता है, जबकि

वृद्धावस्था में जीव अपनी ब्रह्मस्वरूपता और जगत् की ब्रह्मस्वरूपता की उपलब्धि नहीं कर सकता। यह ज्ञातव्य है कि व्यास ने भी ज्ञान कर्म और भक्ति ये तीन योग मनुष्य के कल्याण के लिए बताए हैं। इसमें से ज्ञान योग सन्न्यासियों के लिए, कर्म योग सकाम संसारी मनुष्यों के लिए और भक्ति योग निष्काम मनुष्यों के लिए बताया गया है।

मोक्ष

निम्बार्क का विचार है कि 'अहं' तत्त्व को परमात्मरूप से श्रवण करने पर सारूप्य, महत्तत्व को परमात्मरूप से दर्शन करने से सालौक्य, मनस्तत्त्व को परमात्मरूप से मनन करने से सामीप्य तथा जीवतत्त्व को परमात्मरूप से निदिध्यासन करने से सार्ष्टि (अर्थात् परमात्मा के समान सुख और ऐश्वर्य रूप) मुक्ति मिलती है। वासना का आत्यंतिक क्षय ही मोक्ष है। ब्रह्म विद्या की उपासना द्वारा ही वासना का क्षय सम्भव है। ब्रह्मसूत्रवाक्यार्थ के चतुर्थ अध्याय में निम्बार्क ने यह भी कहा है कि अहंकार को मन से, मन की जीव से और जीव की परमात्मा से संलग्नता मोक्ष का साधन है। चार्वाक ने अङ्गनालिंगनजन्य सुख को पुरुषार्थ कहा था, किन्तु निम्बार्क का यह विचार है कि ऐसे सुख को प्रियावत भाव से परमात्मा के शाश्वत सुख से संयुक्त कर दिया जाये तो वह भी आत्मोद्धार में बाधक नहीं होगा। ज्ञानमार्गीय दृष्टि से ऐहिक सुखों का त्याग आवश्यक है, किन्तु प्रेममार्गी दृष्टि से सुख को परमात्मा से युक्त कर देना अधिक श्रेयस्कर है। निम्बार्क की ऐसी उदार मान्यताओं के कारण ही उनके मत को प्रवृत्तिमार्गीय भागवत धर्म भी कहा जाता है। निम्बार्क का विचार है कि आत्मा और शरीर को एक समझना ही बन्ध का सबसे बड़ा कारण है। मोक्ष का आशय है– जीव का ब्रह्म के समान हो जाना। एकमात्र भक्ति की तुलना में निम्बार्क ज्ञानपूर्विका भक्ति को मोक्ष का अधिक अच्छा साधन मानते हैं। जीवात्मा कर्म के अधीन है। कर्म अविद्या का परिणाम है। कर्म बन्धन अनादि हैं, किन्तु परमात्मा के अनुग्रह से जीव को मुक्ति मिल जाती है। परमात्मा में सर्वात्मसमर्पण कर देने से परमात्मा का अनुग्रह प्राप्त होता है। भक्ति द्वारा ही परमात्मा का अनुग्रह प्राप्त होता है।

जगत

निम्बार्क के विचार में जगत् भ्रम या मिथ्या नहीं, अपितु ब्रह्म का स्वाभाविक परिणाम है। जगत् का उद्भव ब्रह्म की अभिलाषा से होता है। ब्रह्म

ही सृष्टि का उपादान तथा निमित्त कारण है। सर्वप्रथम ब्रह्म से आकाश तत्त्व का उद्‌भव होता है। तदनन्तर आकाश से वायु, तेज, जल और पृथ्वी का विकास होता है। ब्रह्म मकड़ी की तरह जगत् का सृजन और स्वयं में ही संहार कर लेता है। जगत ब्रह्म से भिन्न भी है और अभिन्न भी। भिन्न तो इस रूप में है कि ब्रह्म का स्वतंत्र अस्तित्त्व है और जगत् उसके नियंत्रण में है। जगत् सीमित है, जबकि ब्रह्म असीमित है। जगत् ब्रह्म से अभिन्न भी है, क्योंकि जगत् को ब्रह्म से अलग नहीं किया जा सकता। निम्बार्क रामानुज के समान सत्कार्यवाद के आधार पर ही जगत् की व्याख्या करते हैं। जगत् प्रकृति में अव्यक्त रूप से विद्यमान रहता है। प्रकृति को ईश्वर की शक्ति मानते हैं।

निम्बार्क सतख्यातिवाद को मानते हैं। उनका तर्क यह है कि सभी ज्ञान ब्रह्ममय है, अतः वे सत् हैं। निम्बार्क के कथन पर यह आपत्ति की जा सकती है कि इस तरह तो भ्रम सन्देह आदि का कोई स्थान ही नहीं रहेगा, जबकि वे अनुभव में आते हैं। निम्बार्क स्वतः प्रामाण्यवाद के पक्षपाती हैं, किन्तु दोषाभाव को प्रामाण्य के तत्त्वों में समाविष्ट करने के कारण उनके सिद्धांतों में परमः प्रामाण्य के बीच भी दिखाई दे सकते हैं। देवाचार्य और सुन्दरभट्ट के ग्रन्थों में निम्बार्क रचित दो श्लोकों का उल्लेख मिलता है, जिनमें कि निम्बार्क मत का सार दिया हुआ है। श्लोक इस प्रकार से है–

ज्ञानस्वरूपं च हरेरधीनं शरीरसंयोगवियोगयोग्यम्।
अणुं हि जीवं प्रतिदेहभिन्नं ज्ञातृत्ववन्तं यमनन्तमाहुः॥
सर्वं हि विज्ञानमती यथार्थकम्, श्रुतिस्मृतिभ्यो निखिलस्य वस्तुनः।
ब्रंह्मात्मकत्वादिति वेदविन्मतं, त्रिरूपतापिश्रुतिसूत्रसाधिता॥

द्वैताद्वैतवाद का तुलनात्मक विश्लेषण

श्री शंकराचार्य ईश्वर तत्त्व एवं धर्म तत्त्व दोनों का सामंजस्य करते हैं। उनके मतानुसार जो निर्गुण तथा ज्ञान स्वरूप है, वही व्यावहारिक रूप में सगुण सक्रिय और सृष्टि तथा लय का कर्ता है। ईश्वर एवं धर्मतत्त्व के द्वारा विवेक, वैराग्य, शम, दम, तितिक्षा और उपरति आदि छः साधनों के बाद ब्रह्म तत्त्व की जिज्ञासा होती है। निम्बार्क के मत में ब्रह्म जगत् का उपादान कारण और निमित्त कारण है। इसीलिए भिन्न भी है और अभिन्न भी। जगत् ब्रह्म की स्थूल अभिव्यक्ति है। जगत् के तीन उपादान कारण हैं–

- चैतन्य
- गति
- जड़।

शंकर ने भी कई जगह यह स्वीकार किया है कि जड़ शक्ति की परिणति है तथा शक्ति चैतन्य का रूपान्तर है। बृहदारण्य उपनिषद के भाष्य में शंकर ने यहाँ तक कहा है कि जगत् को यदि नामरूपात्मक न माना जाये तो ब्रह्म भी अज्ञेय हो जायेगा (यदि हि नामरूपे न व्याक्रियेते, ब्रह्मणो प्रज्ञानघनाख्यां रूपं न प्रतिज्ञायेत)। तात्पर्य यह है कि जगत् को ब्रह्म से भिन्न नहीं किया जा सकता। क्योंकि उस व्यवस्था में ब्रह्म शून्य हो जायेगा। इसके अतिरिक्त नाम रूप कभी चैतन्य से रहित नहीं हो सकता। उसके मूल में चैतन्य अवश्य रहता है। इस बात का उल्लेख कई विद्वानों ने किया है कि दर्शन शास्त्र की दो आधारभूत प्रवृत्तियाँ हैं, एक तो वह जो तर्क पर आश्रित है और दूसरी वह जो अनुभूति पर निर्भर करती है। अधिकतर दर्शन बुद्धिवादी है। किन्तु निम्बार्क की गणना समन्वयवादी दार्शनिकों में की जा सकती है। उनके द्वारा प्रवर्तित भक्तियोग में समन्वय के दर्शन किये जा सकते हैं। उपनिषदों में मन की निष्काम अवस्था को ब्रह्मसंस्था या ब्रह्म निर्वाण कहा गया है। महात्मा बुद्ध ने प्रज्ञातत्त्व और उपायतत्त्व को निर्वाण का आधार माना था। बुद्ध के अनुयायियों ने प्रज्ञा और उपाय इन दोनों के संयोग से की जाने वाली उपासना से सहज सिद्धि मानी– 'प्रज्ञा रहितोपायो बंधरू। उपायरहिता प्रज्ञाबंधरू। तादात्म्यं चानयोः सद्गुरुपदेशतः प्रदीपलोकयोरिव सहजसिद्धिमेबाधिगम्यते' (अद्वयवज्रसंग्रह)। जबकि निम्बार्क ने ब्रह्मभूतत्त्व तथा निर्वाण का समन्वय कर ब्रह्मात्मभाव नामक मुक्ति का उल्लेख किया है। रामानुजाचार्य दास्यभाव की दैन्ययुक्त शरणापत्ति से कृपा की आकांक्षा, श्री मध्वाचार्य सख्यभाव के प्रीतियुक्त साहचर्य से आनन्द की अभिलाषा तथा श्री वल्लभाचार्य वात्सल्याभाव के स्नेहयुक्त सामीप्य से पोषण की लालसा अभिव्यक्त करते हैं, जबकि निम्बार्क प्रियावत् भाव से श्री कृष्ण के साथ नित्य विहार की चर्चा करते हैं।

निम्बार्काचार्य का भक्तिपरक मत

महर्षि पतंजलि ने अष्टांग योग और ईश्वर प्रणिधान– ये दो मार्ग आत्मोद्धार के लिए निर्दिष्ट किये थे। निम्बार्क ने इन तीनों मार्गों को दो मार्ग न कह करके इनके सहभाव से सम्पन्न भक्ति योग का प्रवर्तन किया, जिसमें चिदानन्द

सम्बलित प्रेमभाव का प्राधान्य है। इस प्रेमभाव से द्वैत और अद्वैत दोनों अवस्थाओं का सामंजस्य होता है। प्रेमी, प्रेमपात्र और प्रेम तीनों का ऐक्य हो जाना ही अद्वैत अवस्था है। जो लोग केवल चिदंश पर ही बल देते हैं, वे ज्ञानमार्गी कहलाते हैं। चिद् अंश ही ज्ञान का भाव है। आनन्द अंश पर बल देने वाले लोग भक्त कहलाते हैं। ज्ञान और आनन्द दोनों भावों का जो सामंजस्य होता है, उसमें चित् और आनन्द का तथा ज्ञान और भक्ति का सामंजस्य हो जाता है। पातंजल योग दर्शन की साधना ज्ञान मार्ग की है, उसमें समाधि के माध्यम से चिदंश साक्षात्कार की विधि बतलाई गई है। पतंजलि ने ईश्वर प्रणिधान के माध्यम से जो साधना बताई है, उसमें आत्म समर्पण के द्वारा आनन्द अंश की उपलब्धि रहती है। महामोपाध्याय गोपीनाथ कविराज ने की भूमिका में यह लिखा है कि भक्त दो प्रकार के हुए हैं– एक वे जो भक्ति को केवल भावरूप से जानते हैं और दूसरे वे जो रस रूप से उसकी अनुभूति करते हैं। जिसका उद्देश्य भगवद धाम में प्रविष्ट होकर भागवत सेवा का आनन्द लेना है, उनके लिए राम मार्ग ही श्रेयस्कर है। तात्पर्य यह है कि सांसारिक राग जब भगवत चिन्तन का माध्यम बन जाता है तो वह राग ही प्रेम रस के रूप में परिणत हो जाता है। निम्बार्क सम्प्रदाय के भक्त कवि जयदेव के गीत गोविन्द का भी इसी परिप्रेक्ष्य में समझना चाहिए।

निम्बार्क के मतानुसार

निम्बार्क के मतानुसार निरूपाधिक चिन्नमात्र ब्रह्म ही परमात्मा है। औपाधिक ब्रह्म ब्रह्मा है और जीव अहंकार है। अज्ञान और मोह से बद्ध जीव अहंकार कहलाता है। क्योंकि इसकी प्रवृत्ति विषयोपभाग की ओर होती है। अहंकार को ही भूमा में मग्न कर देने से सम्पूर्ण विश्व भूमामय दीखने लगता है। कभी-कभी तो साधक अपने आप को ही भगवान समझने लगता है, क्योंकि तन्मयता में उसे स्व और पर का ध्यान भी नहीं रहता। बाह्य और आभ्यन्तर दोनों में ही वह हरि की अनुभूति करने लगता है, जैसा कि कहा गया है–

स एवाधंस्तादहमेवाधस्तादात्मैवाधस्तात्॥
स एवेदं सर्वम् अहमेवेदं सर्वम् आत्मैवेदंसर्वम्॥

श्री निम्बार्क ने कर्म रूपी वैराग्य को ही साधनावस्था माना है। भक्ति से ही कर्म और ज्ञान को पोषण तत्त्व प्राप्त होता है। भक्ति के द्वारा जो अन्त:करण का द्रवण होता है, वही रस स्वरूप ब्रह्मानुभूति है। किसी भी क्रिया में प्रेम और ज्ञान दोनों की संगति आवश्यक है। भक्ति की साधना द्वैतवाद की द्योतक है और

ज्ञान साधना अद्वैतवाद की। भक्ति, ज्ञान और कर्म की समवेत साधना द्वैतभाव की द्योतक है। इस उपासना से निस्त्रैगुण्य भाव की प्राप्ति होती है।

निम्बार्क ने वेदान्त कामधेनु में उपासना के स्वरूप का भी यत् किंचित उल्लेख किया है। भक्ति मार्ग में गुरु का अत्यधिक महत्त्व है, ऐसा उनका मत है। प्रेमाभक्ति के संदर्भ में गोपीश्वरी राधा ही गुरु रूप में भी मान्य हैं। राधा को उपास्या के साथ-साथ आचार्य मानने की परम्परा का सूत्रपात निम्बार्क ने ही किया है। बाद में श्री हरिव्यास गोस्वामी, श्री हित हरिवंश आदि ने भी श्री राधा को अपना गुरु मानने की परम्परा का निर्वाह किया। यह ज्ञातव्य है कि निम्बार्क ने राधा को गुरु मानकर प्रकारान्तर से यह भी माना है कि अज्ञान का निवारण भी राधा के ही मार्ग दर्शन से हो सकता है। यह भावना गुरु की निम्नलिखित परिभाषा से भी मेल खाती है–

गुशब्दस्त्वंधकारारव्यः सशब्दस्तन्निरोधकः।
अहंकार विशेधित्वाद् सदा स्मरेस देवीं सकलेष्टकामदाम्॥

निम्बार्क का यह कथन राधिका तापनीयोपनिषद के कथन से भी मेल खाता है कि- येयं राधा यश्च कृष्णे रसाधि देहश्चौकः क्रीडनार्थ द्विधाऽभूत्। निम्बार्क रागात्मिका भक्ति को श्रेष्ठ मानते हैं। रागात्मिका भक्ति को वह रसमय मानते हैं। इसमें यम, नियम आदि उद्दीपन विभाग, समाहित चित्तता अनुभाव, ध्यान संचारी भाव और समाधि ही रस निष्पत्ति है।

भक्ति और ज्ञान योग

निम्बार्क ने भक्ति के क्षेत्र में भी ज्ञान की अपेक्षा का निरसन नहीं किया। वह भक्ति योग के साथ ज्ञान योग को भी महत्त्व देते हैं और उसे ब्रह्म योग का सहायक मानते हैं। क्रिया शक्ति (माया या अविद्या) का ज्ञान शक्ति (विद्या) से निरसन कर देना ही ज्ञान योग है। ज्ञान योग में सर्वसमर्पण? (भगवद्भक्ति) का संयोग कर देना ही ब्रह्मयोग है। इस संदर्भ में यह भी ज्ञातव्य है कि निम्बार्क के अनुसार श्री कृष्ण ब्रह्म हैं। रुक्मिणी ज्ञान शक्ति और सत्यभामा क्रियाशक्ति हैं। इन दोनों की समाविष्ट पराशक्ति श्री राधा हैं। रुक्मिणी और सत्यभामा से भिन्न-भिन्न रूप में जब परमात्मा का संयोग होता है, तो वह शक्तियों की भिन्नता का द्योतक है और जब राधा के रूप में दोनों का संयोग होता है तो वह अभिन्नता का प्रतीक है। इस प्रकार रुक्मिणी और सत्यभामा का श्री कृष्ण के साथ जो संयोग है, वह भेद कोटि में आता है और राधा के साथ जो संयोग है, वह अभेद

कोटि में आता है। यही वह भेदाभेदोपासना है, जो निम्बार्क के भक्तिपरक मत का मुख्य आधार है। वैसे श्री कृष्ण राधा के सम्बन्ध में निम्बार्क का मत बहुत कुछ स्कन्द पुराण के इस कथन से मिलता-जुलता है या प्रभावित प्रतीत होता है कि-

आत्मा तु राधिका तस्य तयैव रमणादसौ।
आत्माराम इति प्रोक्तो मुनिभिर्गूढवेदिभिः।।

निम्बार्क ने प्रेमा भक्ति को ही उत्तमा भक्ति कहा है और उसमें भक्त की जो स्थिति होती है, उसका स्वरूप इस प्रकार बताया है-

नान्त् गतिःकृष्णपदारविंदाया संदृश्यते ब्रह्मशिवादिवंवितात्।
भक्तेच्छयोपात्तसुचिंत्यविग्रहात् अचिंत्यशाक्तेरविचिंत्य साशयात्।।

भक्ति योग से अन्तःकरण में जो विशेष स्थिति घटित होती है, उसको निम्बार्क ने परमात्मा की अह्लादिनी शक्ति का विलास कहा है। जीव गोस्वामी ने शुद्ध भक्ति योग को कर्मयोगसमान्वित और ज्ञानयोगसमन्वित भक्ति से श्रेष्ठ माना है, किन्तु निम्बार्क ने ज्ञानपूर्विका भक्ति को अधिक महत्त्व दिया है और उसको ईश्वरीय वरदान जैसा माना है।

7

आलवार

आलवार तमिल भाषा के इस शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है– अध्यात्म ज्ञान के समुद्र में गोता लगाने वाला व्यक्ति। आलवार वैष्णव सम्प्रदाय के सन्त थे, जिन्होंने ईसा की सातवीं-आठवी शताब्दी में दक्षिण भारत में 'भक्तिमार्ग' का प्रचार किया। इनका हृदय नारायण की भक्ति से आप्लावित था और ये लक्ष्मीनारायण के सच्चे उपासक थे। इनके जीवन का एक ही उद्देश्य था-विष्णु की प्रगाढ़ भक्ति में स्वत: लीन होना और अपने उपदेशों से दूसरे साधकों को लीन करना। इनकी मातृभाषा तमिल थी जिसमें इन्होंने सहस्रों सरस और भक्तिस्निग्ध पदों की रचना कर सामान्य जनता के हृदय में भक्ति की मंदाकिनी बहा दी।

इन संतों का आविर्भावकाल सप्तम शतक और दशम शतक के अंतर्गत माना जाता है। इन आलवारों में गोदा स्त्री थी, कुलशेखर केरल के राजा थे, जिन्होंने राजपाट छोड़कर अपना अंतिम समय श्रीरंगम के आराध्यदेव श्रीरंगनाथ जी की उपासना में बिताया। इनका मुकुंदमाला नामक संस्कृत स्तोत्र नितांत प्रख्यात है। आंडाल आलवार विष्णुचित्त की पोष्य पुत्री थी और जीवन भर कौमार्य धारण कर वह रंगनाथ को ही अपना प्रियतम मानती रही। उसे हम तमिल देश की मीरा कह सकते हैं। दोनों के जीवन में एक प्रकार की माधुर्यमयी निष्ठा तथा स्नेहमय जीवन इस समता का मुख्य आधार है। और शेष भक्तों में कई अछूत तथा चोरी डकैती कर जीवनयापन करनेवाले व्यक्ति भी थे।

अन्य नाम

आलवारों के दो प्रकार के नाम मिलते हैं–एक तमिल, दूसरे संस्कृत नाम। इनकी स्तुतियों का संग्रह नालायिरप्रबंधम् (4,000 पद्य) के नाम से विख्यात है, जो भक्ति, ज्ञान, प्रेम सौंदर्य तथा आनंद से ओतप्रोत आध्यात्मिकता की दृष्टि से यह संग्रह "तमिलवेद" की संज्ञा से अभिहित किया जाता है।

श्रीवैष्णव आचार्य पराशर भट्ट ने इन भक्तों के संस्कृत नामों का एकत्र निर्देश इस प्रख्यात पद्य में किया है–

भूतं सरश्च महादाहवय-भट्टनाथ-
श्रीभक्तिसार-कुलशेखर-योगिवाहान्।
भक्तांघ्रारेण-परकाल-यतींद्रमिश्रान्
श्रीमत्परांकुशमुनिं प्रणतोऽस्मि नित्यम्॥

आलवारों के दोनों प्रकार के नाम हैं–(1) सरोयोगी (पोयगैआलवार), (2) भूतयोगी (भूततालवार), (3) महत्योगी (पेय आलवार), (4) भक्तसागर (तिरुमडिसै आलवार), (5) शठकोप या परांकुश मुनि (नम्म आलवार), (6) मधुर कवि, (7) कुलशेखर, (8) विष्णुचित्त (परि आलवार), (9) गोदा या रंगनायकी (आंडाल), (10) विप्रनारायण या भक्तपदरेणु (तोंडर डिप्पोलि), (11) योगवाह या मुनिवाहन (तिरुप्पन), (12) परकाल या नीलन्द (तिरुमंगैयालवार)।

धर्म रक्षक

जब कभी भी भारत में विदेशियों के प्रभाव से धर्म के लिए खतरा उत्पन्न हुआ, तब-तब अनेक सन्तों ने लोक मानस में धर्म की पवित्र धारा बहाकर उसकी रक्षा करने का प्रयत्न किया। दक्षिण भारत के आलवार सन्तों की भी यही भूमिका रही है। 'आलवार' का अर्थ होता है कि 'जिसने अध्यात्म-ज्ञान रूपी समुद्र में गोता लगाया हो।' आलवार संत 'गीता' की सजीव मूर्ति थे। वे उपनिषदों के उपदेश के जीते जागते उदाहरण थे।

संख्या

आलवर विष्णु भक्तों की संख्या पर्याप्त रूप से अधिक थी, परंतु उनमें से 12 भक्त ही प्रधान और महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं। इन सन्तों में नाथमुनि,

यामुनाचार्य और रामानुजाचार्य आदि प्रमुख थे। रामानुज ने 'विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त' का प्रतिपादन किया था, जो शंकराचार्य के 'अद्वैतवाद' का संशोधित रूप था।

रचनाएँ

आलवर संतों में प्रथम तीनों व्यक्ति अत्यंत प्राचीन और समकालीन माने जाते हैं। इनके बनाए 300 भजन मिलते हैं जिन्हें श्रीवैष्णव लोग ऋग्वेद का सार मानते हैं। आचार्य शटकोप अपनी विपुल रचना, पवित्र चरित्र तथा कठिन तपस्या के कारण आलवारों में विशेष प्रख्यात हैं। इनकी ये चारों कृतियां श्रुतियों के समकक्ष अध्यात्ममयी तथा पावन मानी जाती हैं–(क) तिरुविरुत्तम्, (ख) तिरुवाशिरियम्, (ग) पेरिय तिरुवंताति तथा (घ) तिरुवायमोलि। वेदांतदेशिक (1269 ई.-1369 ई.) जैसे प्रख्यात आचार्य ने अंतिम ग्रंथ का उपनिषदों के समान गूढ़ तथा रहस्यमय होने से 'द्रविडोपनिषत्', नाम दिया है और उसका संस्कृत में अनुवाद भी किया है। तमिल के सर्वश्रेष्ठ कवि कंबन की रामायण रंगनाथ जी को भी तभी स्वीकृत हुई, जब उन्होंने शठकोप की स्तुति ग्रंथ के आरंभ में की। इस लोकप्रसिद्ध घटना से इनका माहात्म्य तथा गौरव आंका जा सकता है। आलवर संतों ने भगवान नारायण, श्रीराम और श्रीकृष्ण आदि के गुणों का वर्णन करने वाले हजारों पदों की रचना की थी। इन पदों को सुनकर व गाकर आज भी लोग भक्ति रस में डूब जाते हैं। आलवार संत प्रचार और लोकप्रियता से दूर ही रहते थे। ये इतने सरल और सीधे स्वभाव के संत होते थे कि न तो किसी को दु:ख पहुँचाते थे और न ही किसी से कुछ अपेक्षा करते थे। आलवारों के पद भाषा की दृष्टि से भी ललित और भावपूर्ण माने जाते हैं। भक्ति से स्निग्ध हृदय के ये उद्‌गार तमिल भाषा की दिव्य संपत्ति हैं तथा भक्ति के नाना भावों में मधुर रस की भी छँटा इन पदों में, विशेषत: नम्म आलवार के पदों में, कम नहीं है।

8

गुरु नानक

नानक (कार्तिक पूर्णिमा 1469–22 सितंबर 1539) सिखों के प्रथम (आदि) गुरु हैं। इनके अनुयायी इन्हें नानक, नानक देव जी, बाबा नानक और नानकशाह नामों से संबोधित करते हैं। नानक अपने व्यक्तित्त्व में दार्शनिक, योगी, गृहस्थ, धर्मसुधारक, समाजसुधारक, कवि, देशभक्त और विश्वबंधु–सभी के गुण समेटे हुए थे।

आरंभिक जीवन

इनका जन्म रावी नदी के किनारे स्थित तलवंडी नामक गाँव में कार्तिकी पूर्णिमा को एक खत्रीकुल में हुआ था। कुछ विद्वान इनकी जन्मतिथि 15 अप्रैल, 1469 मानते हैं। किंतु प्रचलित तिथि कार्तिक पूर्णिमा ही है, जो अक्टूबर–नवंबर में दीवाली के 15 दिन बाद पड़ती है। इनके पिता का नाम कल्याणचंद या मेहता कालू जी था, माता का नाम तृप्ता देवी था। तलवंडी का नाम आगे चलकर नानक के नाम पर ननकाना पड़ गया। इनकी बहन का नाम नानकी था। बचपन से इनमें प्रखर बुद्धि के लक्षण दिखाई देने लगे थे।

लड़कपन ही से ये सांसारिक विषयों से उदासीन रहा करते थे। पढ़ने लिखने में इनका मन नहीं लगा। 7–8 साल की उम्र में स्कूल छूट गया क्योंकि भगवत्प्राप्ति के संबंध में इनके प्रश्नों के आगे अध्यापक ने हार मान ली तथा वे इन्हें ससम्मान घर छोड़ने आ गए। तत्पश्चात् सारा समय वे आध्यात्मिक चिंतन

और सत्संग में व्यतीत करने लगे। बचपन के समय में कई चमत्कारिक घटनाएं घटी जिन्हें देखकर गाँव के लोग इन्हें दिव्य व्यक्तित्त्व मानने लगे।

बचपन के समय से ही इनमें श्रद्धा रखने वालों में इनकी बहन नानकी तथा गाँव के शासक राय बुलार प्रमुख थे। अपने बाल्य काल में श्री गुरु नानक जी नें कई प्रादेशिक भाषाएँ सिखा जैसे फारसी और अरबी। उनका विवाह वर्ष 1487 में हुआ और उनके दो पुत्र भी हुए, एक वर्ष 1491 में और दूसरा 1496 में हुआ। वर्ष 1485 में अपने भैया और भाभी के कहने पर उन्होंने दौलत खान लोधी के स्टोर में अधिकारी के रूप में निकुक्ति ली जो की सुल्तानपुर में मुसलमानों का शासक था। वही पर उनकी मुलाकात एक मुस्लिम कवि के साथ हुई जिसका नाम था मिरासी।

गुरु नानक जी नें अपने मिशन की शुरुवात मरदाना के साथ मिल के किया। अपने इस सन्देश के साथ साथ उन्होंने कमजोर लोगों के मदद के लिए जोरदार प्रचार किया। इसके साथ उन्होंने जाती भेद, मूर्ति पूजा और छद्म धार्मिक विश्वासों के खिलाफ प्रचार किया। उन्होंने अपने सिद्धांतो और नियमों के प्रचार के लिए अपने घर तक को छोड़ दिया और एक सन्यासी के रूप में रहने लगे। उन्होंने हिन्दू और मुस्लमान दोनों धर्मों के विचारों को सम्मिलित करके एक नए धर्म की स्थापना की जो बाद में सिख धर्म के नाम से जाना गया।

वे हिन्दू-मुस्लिम एकता के भारी समर्थक थे। धार्मिक सदभाव की स्थापना के लिए उन्होंने सभी तीर्थों की यात्रायें की और सभी धर्मों के लोगों को अपना शिष्य बनाया। उन्होंने हिन्दू धर्म और इस्लाम, दोनों की मूल एवं सर्वोत्तम शिक्षाओं को सम्मिश्रित करके एक नए धर्म की स्थापना की जिसके मिलाधर थे प्रेम और समानता। यही बाद में सिख धर्म कहलाया। भारत में अपने ज्ञान की ज्योति जलाने के बाद उन्होंने मक्का मदीना की यात्रा की और वहां के निवासी भी उनसे अत्यंत प्रभावित हुए। 25 वर्ष के भ्रमण के पश्चात् नानक कर्तारपुर में बस गये और वहीं रहकर उपदेश देने लगे। उनकी वाणी आज भी 'गुरु ग्रंथ साहिब' में संगृहीत है।

गुरू नानक जी का जन्म स्थान इस समय पाकिस्तान में है जिसे अब ननकाना के नाम से जाना जाता है. गुरू नानक देव जी का विवाह सौलह वर्ष की अवस्थ्था में सुलक्खनी नाम की कन्या के साथ हुआ था। नानक जी ने वर्ष 1507 में अपने परिवार का भार अपने सुसर के ऊपर छोड़कर यात्रा के लिए निकल गये। जब नानक जी यात्रा के लिए निकले तब उनके साथ उनके चार

साथी मरदाना, लहना, बाला और रामदास भी उनके साथ यात्रा के लिए गये थे। इसके बाद 1521 ई. तक नानक जी ने तीन यात्राचक्र पूरे किए जिसमें भारत, अफगानिस्तान, फारस और अरब के मुख्य मुख्य स्थानों का भ्रमण किया। गुरू नानक जी की इन यात्राओं को पंजाबी में 'हनतन' कहा जाता है।

बचपन से ही गुरु नानक जी में आध्यात्मिक, विवेक और विचारशील जैसी कई खूबियां मौजूद थीं। उन्होंने सात साल की उम्र में ही हिन्दी और संस्कृत सीख ली थी। 16 साल की उम्र तक आते-आते वह अपने आस-पास के राज्य में सबसे ज्यादा पढ़े लिखे और जानकार बन चुके थे। इस्लाम, ईसाई धर्म और यहूदी धर्म के शास्त्रों के बारे में भी नानक जी को जानकारी थी। नानक देव जी की दी हुई शिक्षाएं गुरुग्रंथ साहिब में मौजूद हैं। गुरु नानक साहिब का मानना था कि प्रत्येक व्यक्ति के समीप भगवान का निवास होता है इसलिए हमें धर्म, जाति, लिंग, राज्य के आधार पर एक दूसरे से भेदभाव नहीं करना चाहिए।

उन्होंने बताया कि सेवा-अर्पण, कीर्तन, सत्संग और एक सर्वशक्तिमान परमेश्वर ही सिख धर्म की बुनियादी धारणाएं हैं। नानक जी ने समझाया- जिसका कोई नहीं होता उसका ईश्वर होता है, जो हमें जन्म दे सकता है वो पाल भी सकता है। किस बात का गुरुर? किस बात का घमंड? तुम्हारा कुछ नहीं है सब कुछ यहीं रह जायेगा, तुम खाली हाथ आये थे खाली हाथ ही जाओगे। अगर तुम दुनियाँ के लिए कुछ करके जाओगे तो मरकर भी लोगों के दिलों में जिन्दा रहोगे।

गुरु नानक देव, जब, लगभग 5 वर्ष के हुए तब पिता ने एक मौलवी के पास पढ़ने के लिए भेजा। मौलवी, उनके चेहरे का नूर देखकर हैरान रह गया। जब उसने गुरु नानक देव जी की पट्टी पर "ऊँ" लिखा, तब उसी क्षण उन्होंने "1ऊँ" लिखकर संदेश दे दिया कि ईश्वर एक है और हम सब उस एक पिता की सन्तान हैं। मौलवी, उनके पिता कालू जी के पास जा कर बोला कि उनका पुत्र तो एक अलाही नूर है, उसको वह क्या पढ़ाएगा, वह तो स्वयं समस्त संसार को ज्ञान देगा। भविष्यवाणी सत्य सिद्ध हुई।

थोड़ा बड़े होने पर जब पिता ने गुरु नानक को धनार्जन के लिए प्रोत्साहित किया, तो उनका मन नहीं लगा। फिर लगभग सोलह वर्ष की आयु में उनका विवाह हो गया। दो पुत्र हुए लेकिन परिवार का मोह उन्हें बाँध न सका। जिस उद्देश्य के लिए उन्होंने अवतार लिया था, उसकी पूर्ति हेतु निकल पड़े घर से और साथ चले उनके दो साथी-पहला बाला और दूसरा मरदाना। मरदाना मुस्लिम था। गुरु नानक ने समाज को संदेश दिया कि जाति-पाति और सम्प्रदाय से

अधिक महत्त्वपूर्ण होता है 'मानव का मानव से प्रेम' क्योंकि "एक पिता एकस के हम बारिक"।

मक्के में मुसलमानों का एक प्रसिद्ध पूजा स्थान है जिसे काबा कहते हैं। गुरु जी रात के समय काबे की तरफ विराज गए तब जिओन ने गुस्से में आकर गुरु जी से कहा कि तू कौन काफिर है, जो खुदा के घर की तरफ पैर पसारकर सोया हुआ है? गुरु जी ने बड़ी नम्रता के साथ कहा, मैं यहाँ सरे दिन के सफर से थककर लेटा हूँ, मुझे नहीं मालूम की खुदा का घर किधर है तू हमारे पैर पकड़कर उधर करदे जिधर खुदा का घर नहीं है। यह बात सुनकर जिओन ने बड़े गुस्से में आकर गुरु जी के चरणों को घसीटकर दूसरी ओर कर दिया और जब चरणों को छोड़कर देखा तो उसे काबा भी उसी तरफ ही नजर आने लगा। इस प्रकार उसने जब फिर चरण दूसरी तरफ किए तो काबा उसी और ही घुमते हुआ नजर आया।

जिओन ने जब यहे देखा कि काबा इनके चरणों के साथ ही घूम जाता है तो उसने यह बात हाजी और मुलानो को बताई जिससे बहुत सारे लोग वहाँ एकत्रित हो गए। गुरु जी के इस कौतक को देखकर सभी दंग रह गए और गुरु जी के चरणों पर गिर पड़े, उन्होंने गुरु जी से माफी भी माँगी, जब गुरु जी ने वहाँ से चलने की तैयारी की तो काबे के पीरों ने विनती करके गुरु जी की एक खड़ाव निशानी के रूप में अपने पास रख ली।

एक कथा के अनुसार गुरु नानक नित्य प्रातः बेई नदी में स्नान करने जाया करते थे। एक दिन वे स्नान करने के बाद वन में ध्यान लगाने के लिए गए और उन्हें वहां परमात्मा का साक्षात्कार हुआ। परमात्मा ने उन्हें अमृत पिलाया और कहा-मैं सदैव तुम्हारे साथ हूं, मैंने तुम्हें आनन्दित किया है। जो तुम्हारे सम्पर्क में आएंगे, वे भी आनन्दित होंगे। जाओ नाम में रहो, दान दो, उपासना करो, स्वयं नाम लो और दूसरों से भी नाम स्मरण कराओ। इस घटना के पश्चात वे अपने परिवार का भार अपने ससुर मूला को सौंपकर विचरण करने निकल पड़े और धर्म का प्रचार करने लगे।

गुरु जी ने इन उपदेशों को अपने जीवन में अमल में लाकर स्वयं एक आदर्श बन सामाजिक सद्भाव की मिसाल कायम की। उन्होंने लंगर की परंपरा चलाई, जहां अछूत लोग, जिनके सामीप्य से उच्च जाति के लोग बचने की कोशिश करते थे, ऊंची जाति वालों के साथ बैठकर एक पंक्ति में बैठकर भोजन करते थे। आज भी सभी गुरुद्वारों में गुरु जी द्वारा शुरू की गई यह लंगर परंपरा

कायम है। लंगर में बिना किसी भेदभाव के संगत सेवा करती है। इस जातिगत वैमनस्य को खत्म करने के लिए गुरू जी ने संगत परंपरा शुरू की।

रचनाएँ और शिक्षाएँ

'श्री गुरु-ग्रन्थ साहब' में उनकी रचनाएँ 'महला 1' के नाम से संकलित हैं। गुरु नानक की शिक्षा का मूल निचोड़ यही है कि परमात्मा एक, अनन्त, सर्वशक्तिमान, सत्य, कर्तृता, निर्भय, निर्वर, अयोनि, स्वयंभू है। वह सर्वत्र व्याप्त है। मूर्ति-पूजा आदि निरर्थक है। बाह्य साधनों से उसे प्राप्त नहीं किया जा सकता। आन्तरिक साधना ही उसकी प्राप्ति का एक मात्र उपाय है। गुरु-कृपा, परमात्मा कृपा एवं शुभ कर्मों का आचरण इस साधना के अंग हैं। नाम-स्मरण उसका सर्वोपरि तत्त्व है, और 'नाम' गुरु के द्वारा ही प्राप्त होता है। गुरु नानक की वाणी भक्ति, ज्ञान और वैराग्य से ओत-प्रोत है। उनकी वाणी में यत्र-तत्र तत्कालीन राजनीतिक, धार्मिक एवं सामाजिक स्थिति की मनोहर झाँकी मिलती है, जिसमें उनकी असाधारण देश-भक्ति और राष्ट्र-प्रेम परिलक्षित होता है। उन्होंने हिंन्दूओं-मुसलमानों दोनों की प्रचलित रूढ़ियों एवं कुसंस्कारों की तीव्र भर्त्सना की है और उन्हें सच्चे हिन्दू अथवा सच्चे मुसलमान बनने की विधि बतायी है। सन्त-साहित्य में गुरु नानक ही एक ऐसे व्यक्ति हैंय जिन्होंने स्त्रियों की निन्दा नहीं की, अपितु उनकी महत्ता स्वीकार की है। गुरुनानक देव जी ने अपने अनुयायियों को जीवन की दस शिक्षाएँ दी-

(i) ईश्वर एक है।
(ii) सदैव एक ही ईश्वर की उपासना करो।
(iii) ईश्वर सब जगह और प्राणी मात्र में मौजूद है।
(iv) ईश्वर की भक्ति करने वालों को किसी का भय नहीं रहता।
(v) ईमानदारी से और मेहनत कर के उदरपूर्ति करनी चाहिए।
(vi) बुरा कार्य करने के बारे में न सोचें और न किसी को सताएँ।
(vii) सदैव प्रसन्न रहना चाहिए। ईश्वर से सदा अपने लिए क्षमा माँगनी चाहिए।
(viii) मेहनत और ईमानदारी की कमाई में से जरूरतमंद को भी कुछ देना चाहिए।
(ix) सभी स्त्री और पुरुष बराबर हैं।
(x) भोजन शरीर को जिंदा रखने के लिए जरूरी है पर लोभ-लालच व संग्रहवृत्ति बुरी है।

भक्त कवि गुरु नानक

पंजाब में मुसलमान बहुत दिनों से बसे थे जिससे वहाँ उनके कट्टर 'एकेश्वरवाद' का संस्कार धीरे-धीरे प्रबल हो रहा था। लोग बहुत से देवी देवताओं की उपासना की अपेक्षा एक ईश्वर की उपासना को महत्त्व और सभ्यता का चिह्न समझने लगे थे। शास्त्रों के पठन पाठन का क्रम मुसलमानों के प्रभाव से प्रायः उठ गया था जिससे धर्म और उपासना के गूढ़ तत्त्व को समझने की शक्ति नहीं रह गई थी। अतः जहाँ बहुत से लोग जबरदस्ती मुसलमान बनाए जाते थे। वहाँ कुछ लोग शौक से भी मुसलमान बनते थे। ऐसी दशा में कबीर द्वारा प्रवर्तित 'निर्गुण संत मत' एक बड़ा भारी सहारा समझ पड़ा।

निर्गुण उपासना

गुरुनानक आरंभ से ही भक्त थे अतः उनका ऐसे मत की ओर आकर्षित होना स्वाभाविक था, जिसकी उपासना का स्वरूप हिंदुओं और मुसलमानों दोनों को समान रूप से ग्राह्य हो। उन्होंने घर-बार छोड़ बहुत दूर-दूर के देशों में भ्रमण किया जिससे उपासना का सामान्य स्वरूप स्थिर करने में उन्हें बड़ी सहायता मिली। अंत में कबीरदास की 'निर्गुण उपासना' का प्रचार उन्होंने पंजाब में आरंभ किया और वे सिख संप्रदाय के आदिगुरु हुए। कबीरदास के समान वे भी कुछ विशेष पढ़े-लिखे न थे। भक्तिभाव से पूर्ण होकर वे जो भजन गाया करते थे उनका संग्रह (संवत् 1661) ग्रंथसाहब में किया गया है। ये भजन कुछ तो पंजाबी भाषा में हैं और कुछ देश की सामान्य काव्य भाषा हिन्दी में हैं। यह हिन्दी कहीं तो देश की काव्यभाषा या ब्रजभाषा है, कहीं खड़ी बोली जिसमें इधर उधर पंजाबी के रूप भी आ गए हैं, जैसे चल्या, रह्या। भक्त या विनय के सीधे-सादे भाव सीधी-सादी भाषा में कहे गए हैं, कबीर के समान अशिक्षितों पर प्रभाव डालने के लिए टेढ़े-मेढ़े रूपकों में नहीं। इससे इनकी प्रकृति की सरलता और अहंभावशून्यता का परिचय मिलता है। संसार की अनित्यता, भगवद्भक्ति और संत स्वभाव के संबंध में उन्होंने कहा हैं–

इस दम दा मैनूँ कीबे भरोसा, आया आया, न आया न आया।
यह संसार रैन दा सुपना, कहीं देखा, कहीं नाहि दिखाया।
सोच विचार करे मत मन मैं, जिसने ढूँढा उसने पाया।
नानक भक्तन दे पद परसे निसदिन राम चरन चित लाया
जो नर दुःख में दुःख नहिं मानै।

सुख सनेह अरु भय नहिं जाके, कंचन माटी जानै
नहिं निंदा नहिं अस्तुति जाके, लोभ मोह अभिमाना।
हरष सोक तें रहै नियारो, नाहि मान अपमाना
आसा मनसा सकल त्यागि कै जग तें रहै निरास।
काम, क्रोध जेहि परसे नाहि न तेहिं घट ब्रह्म निवासा
गुरु किरपा जेहि नर पै कीन्हीं तिन्ह यह जुगुति पिछानी।
नानक लीन भयो गोबिंद सो ज्यों पानी सँग पानी।

प्रकृति चित्रण

गुरु नानक की कविता में कहीं-कहीं प्रकृति का बड़ा सुन्दर चित्रण मिलता है। 'तखारी' राग के बारहमाहाँ (बारहमासा) में प्रत्येक मास का हृदयग्राही वर्णन है। चौत्र में सारा वन प्रफुल्लित हो जाता है, पुष्पों पर भ्रमरों का गुंजन बड़ा ही सुहावना लगता है। वैशाख में शाखाएँ अनेक वेश धारण करती हैं। इसी प्रकार ज्येष्ठ-आषाढ़ की तपती धरती, सावन-भादों की रिमझिम, दादर, मोर, कोयलों की पुकारें, दामिनी की चमक, सर्पों एवं मच्छरों के दर्शन आदि का रोचक वर्णन है। प्रत्येक ऋतु की विशेषताओं की ओर संकेत किया गया है।

पंजासाहब

पंजासाहब सिक्ख धर्म के प्रसिद्ध धार्मिक स्थलों में से एक है। यह तीर्थ स्थान पेशावर जाने वाले मार्ग पर तक्षशिला से एक स्टेशन आगे तथा हसन अब्दाल से दो मील दक्षिण में स्थित है।

पंजासाहब नाम की एक विचित्र कहानी है। एक समय वली कन्धारी नामक फकीर ने इस जगह के आस-पास के सारे जल को अपनी शक्ति से खींचकर पहाड़ के ऊपर अपने कब्जे में कर लिया। यह कष्ट गुरु नानक से न सहा गया। अन्त में उन्होंने अपनी शक्ति से सम्पूर्ण जल खींच लिया। जल को जाता देखकर वली कन्धार पीर ने एक विशाल पर्वतखण्ड ऊपर से गिरा दिया। पर्वत को आता देखकर गुरु नानक ने अपने हाथ का पंजा लगाकर उस पर्वतखण्ड को वहीं पर रोक दिया। आज भी वह हाथ के पंजे का निशान इस तीर्थ में विद्यमान है।

वैशाख की प्रतिपदा को यहाँ पर मेला लगता है।

राग और रस

गुरु नानक की वाणी में शान्त एवंशृंगार रस की प्रधानता है। इन दोनों रसों के अतिरिक्त, करुण, भयानक, वीर, रौद्र, अद्‌भुत, हास्य और वीभत्स रस भी मिलते हैं। उनकी कविता में वैसे तो सभी प्रसिद्ध अलंकार मिल जाते हैं, किन्तु उपमा और रूपक अलंकारों की प्रधानता है। कहीं-कहीं अन्योक्तियाँ बड़ी सुन्दर बन पड़ी हैं। गुरु नानक ने अपनी रचना में निम्नलिखित उन्नीस रागों के प्रयोग किये हैं– सिरी, माझ, गऊड़ी, आसा, गूजरी, बडहंस, सोरठि, धनासरी, तिलंग, सही, बिलावल, रामकली, मारू, तुखारी, भरेउ, वसन्त, सारंग, मला, प्रभाती।

भाषा

भाषा की दृष्टि से गुरु नानक की वाणी में फारसी, मुल्तानी, पंजाबी, सिंधी, ब्रजभाषा, खड़ीबोली आदि के प्रयोग हुए हैं। संस्कृत, अरबी और फारसी के अनेक शब्द ग्रहण किये गये हैं। 1521 तक इन्होंने तीन यात्राचक्र पूरे किए, जिनमें भारत, फारस और अरब के मुख्य-मुख्य स्थानों का भ्रमण किया।

मृत्यु

गुरु नानक की मृत्यु सन् 1539 ई। में हुई। इन्होंने गुरुगद्दी का भार गुरु अंगददेव (बाबा लहना) को सौंप दिया और स्वयं करतारपुर में 'ज्योति' में लीन हो गए। गुरु नानक आंतरिक साधना को सर्वव्यापी परमात्मा की प्राप्ति का एकमात्र साधन मानते थे। वे रूढ़ियों के कट्‌टर विरोधी थे। गुरु नानक अपने व्यक्तित्त्व में दार्शनिक, योगी, गृहस्थ, धर्मसुधारक, समाजसुधारक, कवि, देशभक्त और विश्वबंधु-सभी के गुण समेटे हुए थे।

9

स्वामी हरिदासजी

स्वामी हरिदासजी सखी सम्प्रदाय के प्रवर्तक थे। कहा जाता है कि यह निम्बार्क सम्प्रदाय की एक शाखा भी है। इस सम्प्रदाय के लोग प्रेम के सिद्धान्त को प्रमुख मानते हैं। ईश्वर का प्रेम-दर्शन ही इस सम्प्रदाय के लिए प्रमुख है।

सखी सम्प्रदाय प्रेम को ही जीवन का सत्य मानता है। प्रेम की इस क्रीड़ा के लिए राधा और हरि दो रूपों का जन्म हुआ। इसके तीसरे रूप उनके सखीजन हैं। इस लीला के आनन्द को प्राप्त करने वाले चौथे रूप उनके भक्तगण हैं।

हरिदासजी का जीवन वृत्त

स्वामी हरिदासजी का जन्म वृन्दावन के निकट राजपुर नामक ग्राम में हुआ था। वे सनाढ्य जाति के थे। उनके पिता गंगाधर, माता चित्रादेवी मानी जाती हैं। वे अचानक दीपक से पत्नी के जलकर मर जाने पर विरक्त होकर वृन्दावन चले आये। कहा जाता है कि उन्हीं की उपासना के फलस्वरूप बांकेबिहारी की मूर्ति का प्राकट्य हुआ, जो आज भी वृन्दावन में विराजमान है। हरिदासजी महान संगीतज्ञ थे। तानसेन उन्हीं के शिष्य माने जाते हैं। उनकी आयु 95 वर्ष बतायी जाती है। उनका जन्मकाल 1478 से 1573 के आस-पास माना जा सकता है।

वृन्दावन प्रस्थान

विक्रम सम्वत् 1560 में पच्चीस वर्ष की अवस्था में हरिदास वृन्दावन पहुँचे। वहां उन्होंने निधिवन को अपनी तपोस्थली बनाया। हरिदास जी निधिवन

में सदा श्यामा-कुंजबिहारी के ध्यान तथा उनके भजन में तल्लीन रहते थे। स्वामीजी ने प्रिया-प्रियतम की युगल छवि श्री बांकेबिहारीजी महाराज के रूप में प्रतिष्ठित की। हरिदासजी के ये ठाकुर आज असंख्य भक्तों के इष्टदेव हैं। वैष्णव स्वामी हरिदास को श्रीराधा का अवतार मानते हैं। श्यामा-कुंजबिहारी के नित्य विहार का मुख्य आधार संगीत है। उनके रास-विलास से अनेक राग-रागनियां उत्पन्न होती हैं। ललिता संगीत की अधिष्ठात्री मानी गई हैं। ललितावतार स्वामी हरिदास संगीत के परम आचार्य थे। उनका संगीत उनके अपने आराध्य की उपासना को समर्पित था, किसी राजा-महाराजा को नहीं। बैजूबावरा और तानसेन जैसे विश्व-विख्यात संगीतज्ञ स्वामी जी के शिष्य थे। मुगल सम्राट अकबर उनका संगीत सुनने के लिए रूप बदलकर वृन्दावन आया था। विक्रम सम्वत 1630 में स्वामी हरिदास का निकुंजवास निधिवन में हुआ।

सखी-सम्प्रदाय

स्वामी जी ने एक नवीन पंथ सखी-सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया। उनके द्वारा निकुंजोपासना के रूप में श्यामा-कुंजबिहारी की उपासना-सेवा की पद्धति विकसित हुई, यह बडी विलक्षण है। निकुंजोपासना में जो सखी-भाव है, वह गोपी-भाव नहीं है। निकुंज-उपासक प्रभु से अपने लिए कुछ भी नहीं चाहता, बल्कि उसके समस्त कार्य अपने आराध्य को सुख प्रदान करने हेतु होते हैं। श्री निकुंजविहारी की प्रसन्नता और संतुष्टि उसके लिए सर्वोपरि होती है। राधाष्टमी के पावन पर्व में स्वामी हरिदास का पाटोत्सव (जन्मोत्सव) वृन्दावन में बड़े धूमधाम के साथ मनाया जाता है। सायंकाल मंदिर से चाव की सवारी निधिवन में स्थित उनकी समाधि पर जाती है। ऐसा माना जाता है कि ललितावतार स्वामी हरिदास की जयंती पर उनके लाडिले ठाकुर बिहारीजी महाराज उन्हें बधाई देने श्रीनिधिवन पधारते हैं। देश के सुप्रसिद्ध संगीतज्ञ निधिवन में स्वामीजी की समाधि के समक्ष अपना संगीत प्रस्तुत करके उनका आशीर्वाद लेते हैं।

हरिदास सम्प्रदाय

वृन्दावन के आधुनिक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सम्प्रदायों में से एक उल्लेखनीय सम्प्रदाय है, हरिदास सम्प्रदाय जिसकी संस्थापना स्वामी हरिदास द्वारा हुई थी। वृन्दावनस्थ आधुनिक मन्दिरों में विशिष्ट एक प्रख्यात मन्दिर है, जो श्री बाँके बिहारी जी के मन्दिर के नाम से लोक विश्रुत है। यह गुंसाई जी तथा उनके

वंशधरों के आधिपत्य में है। इस वंश परम्परा के लोगों की संख्या 19 वीं सदी में लगभग 500 थी। श्रीकृष्ण को समर्पित यह मन्दिर हरिदासी संप्रदाय का मुख्यावास मात्र ही नहीं, वरन् सम्पूर्ण भारत में यह एक मात्र मन्दिर है, जिस पर गोस्वामियों का एकाधिकार है। सत्तर हजार रुपयों की धनरशि से इनका पुनर्निर्माण निकट अतीत में ही हुआ। यह निधि दूर पास के यजमानों से तेरह वर्ष के अन्तराल में एकत्र की थी। सामान्य किन्तु अत्यन्त सारभूत स्वरूप के लाल पत्थर से निर्मित इस विशद वर्गाकार मन्दिर का प्रमुख केन्द्रीय द्वार संगमरमर से बना हुआ है, जो अत्यन्त प्रभावशाली है। यह भवन निर्माण शिल्प का एक प्रसन्न आदर्श प्रस्तुत करता है। यह सभ्य संसार के ऐसे कतिपय स्थानों में से एक है, जहाँ भारतीय शिल्प मृत अतीत की परिश्रम साध्य प्रति कृति मात्र न होकर एक जीवन्त कला है, जो निरन्तर स्वत: ही विकास की प्रक्रिया में प्रबर्द्धमान है। गुसाइयों के वंशानुक्रमानुसार यह सम्पत्ति दो भागों में विभक्त हुई। उसका एक भाग स्वयं एक ब्रह्मचारी का था, किन्तु उसके भ्राता जगन्नाथ के मेघश्याम, मुरारीदास और गोपीनाथदास नामक तीन पुत्र थे, जिनमें से तीसरे नि:सन्तान दिवंगत हो गये। शेष दोनों भाई वर्त्तमान वंश परम्परा के पूर्वज थे। जैसा कि ऐसे प्रकरणों में सामान्यत: होता है दोनों परिवार परस्पर संघर्षरत रहने लगे। एकाधिक बार शान्तिभंग होने की गम्भीर स्थिति के निवारणार्थ शासन को कानून की सहायता लेने को विवश होना पड़ा। अपने पूर्वज की महानता के परे कतिपय गुंसाई ही सम्मान के अधिकारी होने का दावा कर सकते थे। या तो अपने वैदुष्य के कारण या अपनी नैतिकता की सटीकता के कारण, क्योंकि उनमें से बहुसंख्यक पढ़-लिख नहीं सकते थे। सामान्यत: उसके दो दावेदार थे। प्रत्येक 'बट' के लिये एक-एक। ये थे गुसाई जगदीश और किशोर चन्द्र। सम्प्रदाय के साहित्य की संकीर्ण सीमाओं में ये दोनों ही पक्ष अच्छे पढ़े-लिखे थे।

हरिदास के सन्दर्भ में नाभा जी के मूल भक्तमाल में निम्नोक्त छन्द है–

आशधीर उद्योत कर रसिक छाप हरिदास की।
जुगल नाम सौं नैम जपत नित कुंज बिहारी।
अविंलोकित रहैं केलि सखी सुख को अधिकारी।
गान कला गंधर्व श्याम श्यामा को तोषें।
उत्तम भोग लगाय मोर मरकट तिमि पोषें।
नृपति द्वार ठाड़े रहें दरशन आशा जासकी।
आशधीर उद्योत कर रसिक छाप हरिदास की।

इसके पश्चात् प्रियादास की टिप्पणिका या अनुपूरक इस प्रकार है–

एटीका।

श्री स्वामी हरिदास रास राशि को बषांनि सकै
रसिकता की छाप कोई जाप मधि पाई है।
ल्यायौ कोऊ चोवा ताकौ अति मन भोवा वामै
डारयौ लै पुलनि यह खोवा हिय आइयै।
जानि के सुजान कही लै दिषावौ लाल प्यारे
नैसिकु उघारे पट सुगन्ध बुड़ाइयै।
पारस पषांन करि जल डरबाइ दियौ
कियौ तब शिष्य अंसैं नाना विधि गाइयै।

अन्य तथ्य

अकबर, तानसेन और हरिदास

कोल (अलीगढ़ का प्राचीन नाम) के समीपस्थ एक गाँव में, जो अब हरिदासपुर कहलाता है, एक सनाढ्य ब्राह्मण ब्रह्मधीर के जानधीर नामक एक सुपुत्र था। जिसके हृदय में गिरि धारण करने वाले श्रीकृष्ण के गिरधारी स्वरूप के प्रति विशेष समर्पण (भक्ति) भाव जाग्रत था और इस प्रकार उसने गोवर्धन के पावन पर्वत की अनेक तीर्थ यात्रायें की थी। इसी प्रकार के एक अवसर पर उसने आशधीर रखा। अन्ततः आशधीर ने वृन्दावन के समीप स्थित एक छोटे से गाँव राजपुर के गंगाधर ब्राह्मण की आत्मजा से विवाह किया, जिसने संवत 1441 विक्रमी के भाद्रपद मास के कृष्ण पक्ष की अष्टमी को हरिदास को जन्म दिया। अपनी निपट शैशवावस्था से ही उसने अपनी भावी पवित्रता के संकेत दिये और अन्य बालकों के साथ खेलने के स्थान पर वह निरन्तर प्रार्थना और ध्यान में लगा रहता था। अपने माता पिता के अनुरोधों के परे उसने ब्रह्मचर्य का व्रत ले लिया और 25 वर्ष की आयु में वृन्दावन के सामने यमुना के बायें किनारे स्थित एक प्राकृतिक झील मानसरोवर पर एक एकान्तिक कुटी में रहने लगा। हरिदास तदनन्तर वृन्दावनस्थ निधिवन में चले गये और यहाँ उन्होंने विट्ठलविपुल को औपचारिक रूप से अपना शिष्य बनाया, जो उनके स्वयं के मातुल थे। शीघ्रमेव हरिदास जी की ख्याति दूर-दूर तक फैल गई और उनके अनेक दार्शनार्थियों में से दिल्ली से दयालदास नामक एक खत्री एक दिन आया, जिसे अनायास दार्शनिक का पत्थर प्राप्त हुआ, जो सम्पर्क में आई प्रत्येक वस्तु को सोने में

रूपान्तरित कर देता था। उसने यह पत्थर एक महान् निधि के रूप में स्वामी जी को भेंट किया। स्वामी जी ने वह यमुना में फेंक दिया। दाता के प्रवोधन को देखकर स्वामी जी उसे यमुना किनारे ले गये और उसे मुट्ठी भर रेती जल में से निकालने का आदेश दिया। जब उसने वैसा ही किया तो प्रत्येक कण उसी तरह की प्रतिकृति प्रतीत हुई, जो फेंक दिया गया था और जब परीक्षण किया तो वह उन्हीं गुणों से सम्पन्न पाया गया। तब खत्री की समझ में आया कि सन्तों को भौतिक सम्पदा की कोई आवश्यकता नहीं है, लेकिन वे स्वयमेव परिपूर्ण होते हैं। तदनन्तर वह स्वामी हरिदास के शिष्यों में सम्मिलित हो गया।

यह सुनकर कि साधु को दार्शनिक का पत्थर भेंट किया गया है। एक दिन जब स्वामी जी स्नान कर रहे थे, कुछ चोरों ने शालिग्राम को चुराने का अवसर पा लिया। उन्होंने सोचा कदाचित यही वह (पत्थर) हो। अपने उद्देश्य हेतु व्यर्थ जानकर उन्होंने (चोरों ने) उसे एक झाड़ी में फेंक दिया। जैसे ही सन्त उसकी खोज में उस स्थान से होकर निकले शालिग्राम की वाणी सुनाई दी कि मैं यहाँ हूँ। उसी समय से प्रत्येक प्रातःकाल किसी चामत्कारिक माध्यम से स्वामी जी को नित्य एक स्वर्ण-मुद्रा प्राप्त होने लगी जिससे वे मन्दिर का भोग लगाते और जो बचता था, उससे वे अन्न क्रय करते, जिसे वे यमुना में मछलियों को और तट पर मोर और वानरों को खिलाते थे।

एक दिन एक कायस्थ ने एक सहस्त्र रुपये मूल्य के 'अतर' की बोतल भेंट की और यह देखकर जड़ीभूत हो गया कि स्वामी जी ने उपेक्षा भाव से उसे भूमि पर पटक दिया, जिससे बोतल टूट गई और बहुमूल्य 'अतर' सब नष्ट हो गया। परन्तु जब उसे मन्दिर ले जाया गया तो उसने पाया कि भेंट भगवान द्वारा स्वीकृत हो गई है, क्योंकि पूरा मन्दिर भवन इत्र की सुगन्धि से महक रहा था।

दिल्ली के सम्राट् के एक बिगड़ा हुआ मूर्ख बेटा था, जो अपमानपूर्वक वहाँ से निकाल दिया गया था। अपनी घुमक्कड़ी में संयोगवश वह वृन्दावन आ निकला और वहाँ सड़क पर सो गया। उषाकाल में स्वामी जी जब निधिबन से स्नानाथ जा रहे थे, तो उससे टकरा गये और उसकी कहानी सुनकर उसका तानसेन नाम रख दिया और मात्र अपनी इच्छा शक्ति के प्रयोग से उसे एक अप्रतिम संगीतज्ञ के रूप में परिवर्तित कर दिया। उसके दिल्ली लौटने पर सम्राट् उसकी विलिक्षणता पर आश्चर्य चकित रह गया और उसने वृन्दावन यात्रा की तथा उस गुरु के दर्शन करने की ठान ली, जिससे उसने शिक्षा ग्रहण की थीं तदनुसार, जब वह आगरा आया, तो वह मथुरा चला गया तथा भतरौंद तक आधे

मार्ग घोड़े पर और वहाँ से पैदल निधिबन तक गया। अन्ततः जब सम्राट् ने निरन्तर कुछ करने योग्य सेवा की अभ्यर्थन की तो उसे वह समीपस्थ बिहारी घाट ले गये, जो वर्त्तमान में ऐसा लग रहा था जैसे कि प्रत्येक सीढ़ी बहुमूल्य स्वर्ण जड़ित पत्थर की हो और एक सीढ़ी में कुछ कमी दिखाते हुए सम्राट् से कहा कि उसके स्थान पर दूसरी रखवा दें। यह कार्य महान् सम्राट् की भी शक्ति से परे था। सम्राट् ने पवित्र वानरों और मयूरों के पोषणार्थ छोटा-सा अनुदान देकर तुष्टि पाई और वह प्रभूत सदुपदेश प्राप्त करके अपने मार्ग चला गया।

स्वामी हरिदास के जीवन में अन्य किसी घटना का उल्लेख अभिलिखित नहीं मिलता। उनके अनन्तर उनके उत्तराधिकारी उनके मातुल विट्ठल विपुल और उनके पश्चात् बिहारीदास हुए। बिहारीदास प्रेम उन्माद में इतने निमग्न हो गये कि मन्दिर के प्रशासनार्थ जगन्नाथ नामक एक पंजाबी सारस्वत ब्राह्मण बुलाया गया। उसकी मृत्यु के उपरान्त उसके अनेक उत्तराधिकारी आते गये, जिसे लिखना अनावश्यक प्रतीत होता है।

अन्य विषयों में स्वामी जी के उत्तराधिकारियों द्वारा स्वीकृत परम्पराओं से यह मेल नहीं खाता। क्योंकि उनका कथन है कि वह सनाढ्य नहीं प्रत्युत सारस्वत थे, यह कि उनका परिवार कोल या जलेसर से नहीं, प्रत्युत मुलतान के पास ऊछ से आया था और यह कि वह चार शताब्दी पूर्व नहीं, प्रत्युत अधिक-से-अधिक मात्र तीन शताब्दी पूर्व हुए थे। प्रतीत होता है कि भक्तसिन्धु का लेखक जाति में संघभेद का पक्षधर था, पचास वर्ष पूर्व या आस-पास हुआ था। उसने तथ्यों को तदनुसार तोड़ मरोड़ लिया है। क्योंकि जगन्नाथ, जिसे वह कोल से बुलाता है, उसका नाम महन्तों की मूल तालिका में नहीं है, जो बाद में दी जायगी। तिथियों के सम्बन्ध में वह नितान्त असफल रहा है संवत 1441-संवत 1537 विक्रमी। वह स्पष्ट है, क्योंकि जिस सम्राट ने वृन्दावन यात्रा की थी, वह निश्चय ही अकबर था और वह संवत 1612 तक सिंहासनारूढ़ नहीं हुआ था। यह ठीक है कि प्रोफेसर विलसन अपने ग्रन्थ 'हिन्दुओं के धार्मिक सम्प्रदाय' में वर्णन करते हैं कि हरिदास चैतन्य के शिष्य और सत्यनिष्ठ साथी थे। चैतन्य का जन्म सन् 1485 ई. और शरीरान्त सन् 1527 ई. में हुआ। लेकिन, यद्यपि हरिदास ने चैतन्य के उपदेशों की भावना का समाहार किया था, फिर भी इस धारणा का कोई कारण नहीं कि उन दोनों के मध्य कोई वार्त्तालाप हुआ होगा। यदि ऐसा होता तो यह तथ्य भक्तमाल या उसके आधुनिक व्याख्याकारों से शायद ही छूट पाता।

संप्रदाय के संस्थापक की 'साधारण सिद्धान्त' और 'रास के पद' शीर्षक 41 पृष्ठों की केवल दो छोटी रचनाएँ हैं। पहली अपने मूल पाठ में नीचे उद्धृत की जाती है। मन्दिर के सभी भक्तों को इसका बहुलांश कंठस्थ है, यद्यपि निश्वयपूर्वक जान लिया गया कि उनमें से विरले ही इसके सामान्य अर्थ से आगे अधिक जानते हैं। किशोरचन्द्र जैसे बहुज्ञ पुजारी ने इसका अवलोकन किया और उसके कुछ अंशों के अर्थ किये। अन्य पंडितों का अभिमत लेने पर वे अर्थ अपर्याप्त पाये गये और विवशत: छोड़ने पड़े।

राग विभास

ज्यौंही ज्यौंही तुम राषत हौ त्यौंही त्यौंही रहियत है हों हरि।
और तौ अचरचे पाय धरौं सु तौ कहौं कौन के पेंड भरि।
जद्यपि हौं अपनौ भायौ कियौ चाहौं कैसे करि सकौं जो तु राखौ पकरि।
हरिदास के स्वामी श्याम कुंज बिहारी
पिजरा के जनावर लौं तरफराय रहौ उड़िवे कौ कितौक करि ।।
काहूकौ बस नांहि तुम्हारी कृपा ते सब होय श्री बिहारी बिहारिन।
और मिथ्या प्रपंच काहे कौं भाषिये सो तौ है हारिनि।
जाहि तुम सौं हित तासौं तुम हित करौ सब सुख कारनि।
हरिदास के स्वामी श्यामा कुंजबिहारी प्राँननि के आधारनि ।।
कबहूँ कबहूँ मन इत उत जातैं यातें अब कौन है अधिक सुष।
बहुत भाँति नयत आंनि राष्यौ नाहितौ पावतौ दुष।
कोटि कमलावन्य बिहारी तातै मुहा चुहीं सब सुष लियें रहत रुष।
हरिदास के स्वामी श्यामा कुंज बिहारी दिन देषत रहौ विचित्र मुष।।
हरि भजि हरि भजि छांड़िन मान नर तन कौ।
जिन बंछैरे जिन बंछैरे तिल तिल धनकौं ।
अनमागैं आगैं आवैगौ ज्यौं पल लागैं पलकौं ।
कहि हरिदास मीच ज्यौं आवै त्यौं धन आपुन कौ ।।

राग बिलावल

हे हरि मोसौं न बिगारन कौं तोसौं न संम्हारन कौं मोहि तांहि परी होड़।
कौंन धौं जी तै कौंन धौं हारै परि बादी न छोड़।
तुम्हारी मायाबाजी पसारी विचित्र मोहे मुनि काके भूले कोउ।

कहि हरिदास हम जीते हारे तुम तहु न तोड़।।
वंदे अषत्यार भला।
चित न डुलाव आव समाधि भीतर न होहु अगला।
न फिर दर दर पदर पद न होहु अधला।
कहि हरिदास करता किया सो हुवा सुमेर अचल चला ।।
हित तौ कीजै कमल नैन सों जा हित के आगैं और हित के लागै फीकौ।
कै हित कीजैं साधु संगत सौं ज्यौं कलमषि जाय जीकौ।
हरि कौ हित ऐसौ जैसौ रंग मजीठ।
संसार हिंत असौ जैसौ रंग कसूम दिन दुती कौ।
कहि हरिदास हित कीजै बिहारी सौं और निवाहू जी कौ ।।
तिनका बयार बस।
ज्यौं भावै त्यौं उड़ाय ले जाय आपने रस ।
ब्रह्म लोक शिवलोक और लोक अस।
कहे हरिदास विचार देषौ विना बिहारी नाहिं जस ।।
संसार समुद्र मनुष्य मीन नक्र मगर और जीब बहु बंदसि ।
मन बयार प्रेरे स्नेह फंद फदसि ।
लोभ पिंजरा लोभी मरजिया पदारथ चारि षंदषंदसि।
कहि हरिदास तेई जीव पराभये जे गहि रहे चरन आनन्द नन्दसि ।।
हरि के नाम कौ आलस कित करत है रे काल फिरत सर सांधे ।
बेर कुबेर कछू नहि जानत कढ्यौ फिरत है कांधे।
हीरा बहुत जवाहिर सच्चे राँचे कहा भयौ हस्ती दर बाँधे ।
कहि हरिदास महल में बनिता बनठाढ़ी भई।
तव कछु न चलत जब आवत अन्त की आँधे ।।
देषौ इनि लोगन की लावनि ।
बूझत नाँहिं हरिचरनकमल कौं मिथ्या जन्म गवावनि
जब जमदूत आय घेरत हैं करत आप मनभावनि ।
कहै हरिदास तबहीं चिरजीवै कुंजबिहारी चितवनि।।
मन लगाय प्रीति कीजै करवासों ब्रज बीचिन न दीजे सोहनी।
वृन्दावन सो बन उपबन सौं गुंजमाल हाथ पोहनी ।
गो गोसुतन सों मृगी मृगसुतन सौं और तन नेंक न जोहनी ।
हरिदास के स्वामी श्यामां कुंज बिहारी सोचित ज्यों सिर पर दोहनी।।

राग कल्यान
हरि कौ असोई सब खेल ।
मृग तृष्णा जग ब्यापि रह्यों है कहूँ बिजौरौ न बेलि।
धन मद जोवन मद राज मद ज्यौं पंछिन में डेल ।
कहै हरिदास यहै जिय जानौ तीरथ को सौ मेल ।।
माई धनि वे मृगी जे कमल नैन कों पूजित अपनें अपनैं भरतारन सहित।
धनिवे गाइ वछ वेई जे वशरस पीवत श्रवन दोना ज्यौं जाई न बहत ।
पंछी न होंहिं मुनि जन जेते केते सेवहि दिन काम क्रोध लोभ रहित।
सुनि हरिदास हमारे पति ते कठिन जान दे हये राखत गहत।।
राग बरारी
लाल मेरे दूध की दोहनी।
मारग जात माहि रह्यौ री अंचरा मेरौ जाहिन दंत हो बिना बोहना।
नागरि गूजरि ठगि लीनों मेरौं लाल गोरोचन कौ तिलक भावै मोहना।
हरिदास के स्वामी इहां असोई न्याव है या नगरी जिन बसोरी सोहनी।।
राग कान्हरो
झूठी बात सांची करि दिषावत हौ हरि नागर।
निसि दिन बुनत उधेरत हौ जाय प्रपंच कौ सागर।
ठाठ बनाय धरयौ मिहरी कौ है पुरुषतें आगर।
सुनि हरिदास यहै जिय जानों सुपनें कौ सौ जागर।।
जगत प्रीति करि देवी नाहि नेंग टीकौ कोऊ।
छत्रपति रंक लौ देषै प्रकृति विरोध न बन्यौ कोऊ।
दिन जु गये बहुत जन्मन के ऐसौ जावौं जिन कोऊ।
सुनि हरिदास मीत भलौ पायौ विहारी ऐसौ पावौ सब कोऊ।।
लोग तौ भूल्यौ भलै भूल्यों तुम मति भूलौ मालाधारी।
आपनौ पति छाँड़ि आरनि सौं राति ज्यौं दारिन में दारी।
स्याम कहत जे जीव मोते विमुख जोको जिन दूसरी कर डारी।
कहि हरिदास जज्ञ देवता पितरन कौ शरधा भारी ।।
जौलौ जीवै तौलौ हरि मज रे मन और बात सब बादि ।
द्यौस चार के हलभला में तू कहा लेगौ लादि।
धनमद जोवनमद राजमद भूल्यौ नगर विवादि।
कहि हरिदास लोभ चरपट भयौ काहेकी लगै फिरादि।।

प्रेम समुद्र रूप रस गहिरे कैसे लागै घाट।
बेकार्यौं दै जानि कहावत जानि पन्यौ को कहा परी वाट।
काहू कौ सर सूधौ न परै मारत गाल गली गली हाट।
कहि हरिदास जानि ठाकुर बिहारी तकत न ओट पाट।।

सम्बंधित प्रसंग

एक बार हरिदास भगवती यमुना की रेती में बैठे हुए थे। वसन्त-ऋतु का यौवन अपनी पराकाष्ठा पर था। चारों ओर कोयल की सुरीली और मीठी कण्ठाध्वनि कुंज-कुंज में अनुपम उद्दीपन का संचार कर रही थी। लताएं कुसुमित होकर पादपों के गाढ़ालिंगन में शयन कर रही थीं। वृन्दावन के मन्दिरों में धमार की धूम थी। रसिक हरिदास का मन डोल उठा। उनके प्राणप्रिय रास-बिहारी की मनोरम दिव्यता उनके नयनों में समा गयी। वृन्दावन की चिन्मयता की आरसी में अपने उपास्य की झांकी करके वे ध्यानस्थ हो गये। उन्हें तनिक भी बाह्य ज्ञान नहीं था। वे मानस-जगत की सीमा में भगवदीय कान्ति का दर्शन करने लगे। भगवान राधारमण रंगोत्सव में प्रमत्त होकर राधारानी के अंग-अंग को कर में कनक पिचकारी लेकर सराबोर कर रहे थे। ललिता, विशाखा आदि रासेश्वरी की ओर से नन्दनन्दन पर गुलाल और अबीर फेंक रही थीं। यमुना-जल रंग से लाल हो चला था। बालुका में गुलाल और बुक्के के कण चमक रहे थे। भगवान होली खेल रहे थे। हरिदास के प्राणों में रंगीन चेतनाएं लहराने लगीं। नन्दनन्दन के हाथ की पिचकारी छूट ही तो गयी। हरिदास के तन-मन भगवान के रंग में शीतल हो गये। उनका अन्तर्देश गहगहे रंग में सराबोर था। भगवान ने भक्त को ललकारा। हरिदास ने भगवान के पीताम्बर पर इत्र की शीशी उड़ेल दी। इत्र की शीशी जिसने भेंट की थी, वह तो उनके इस चरित्र से आश्चर्यचकित हो गया। जिस वस्तु को उसने इतने प्रेम से प्रदान किया था, उसे उन्होंने रेती में छिड़ककर अपार आनन्द का अनुभव किया। रसिक हरिदास की आँखें खुलीं। उन्होंने उस व्यक्ति की मानसिक वेदना की बात जान ली और शिष्यों के साथ श्रीबिहारी जी के दर्शन के लिये भेजा। उस व्यक्ति ने बिहारी जी का वस्त्र इत्र से सराबोर देखा, और देखा कि पूरा मन्दिर विलक्षण सुगन्ध से परिपूर्ण था। वह बहुत लज्जित हुआ, पर भगवान ने उसकी परम प्यारी भेंट स्वीकार कर ली, यह सोचकर उसने अपने सौभाग्य की सराहना की।

एक बार एक धनी तथा कुलीन व्यक्ति ने हरिदास से दीक्षित होने की इच्छा प्रकट की और उन्हें पारस भेंट स्वरूप दिया। हरिदास ने पारस को पत्थर कहकर यमुना में फेंक दिया और उसे शिष्य बना लिया।

अपने दरबारी गायक भक्तवर तानसेन से एक बार अकबर ने पूछा– 'क्या तुमसे बढ़कर भी कोई गाने वाले व्यक्ति हैं।' तानसेन ने विनम्रतापूर्वक स्वामी हरिदास जी का नाम लिया। अकबर ने उन्हें राजसभा में आमन्त्रित करना चाहा, पर तानसेन ने निवेदन किया कि वे कहीं आते-जाते नहीं। निधिवन जाने का निश्चय हुआ। हरिदास जी तानसेन के संगीत-गुरु थे। उनके सामने जाने में तानसेन के लिये कुछ भी अड़चन नहीं थी। रही अकबर की बात, सो उन्होंने वेष बदलकर एक साधारण नागरिक के रूप में उनका दर्शन किया। तानसेन ने जान-बूझकर एक गीत गलत राग में गाया। स्वामी हरिदास ने उसे परिमार्जित और शुद्ध करके कोकिल कण्ठ से जब अलाप भरना आरम्भ किया, तब अकबर ने संगीत की दिव्यता का अनुभव किया। तानसेन ने कहा– 'स्वामी जी सम्राटों के सम्राट भगवान श्रीकृष्ण के गायक हैं।'

एक बार श्रीकृष्ण चैतन्य गौरांग महाप्रभु से वे बात कर रहे थे। ठीक उसी समय राधाकुण्ड निवासी रघुनाथदास मानसिकशृंगार में खोयी हुई प्रियाजी की पुष्प-वेणी खोजते उनके निकट आ पहुँचे। स्वामी जी ने अश्वत्थ वृक्ष के नीचे पता लगाकर उनकी मानसिक सेवा की, समस्त व्यवस्था का निरूपण कर दिया। स्वामी हरिदास ने रस की प्रीति-रीति चलायी, जिस पथ पर यती, योगी, तपी और संन्यासी ध्यान लगाकर भगवान के दर्शन से अपनी साधना सफल करते हैं और फिर भी उनके रूप-रस की कल्पना नहीं कर पाते, उसी को स्वामी हरिदास ने अपनाकर भगवान 'रसो वै सरू' को मूर्तिमान पा लिया। स्वामी हरिदास जी 'निम्बार्क सम्प्रदाय' के अन्तर्गत 'टट्टी सम्प्रदाय' के संस्थापक थे। संवत 1630 विक्रमी तक वे निधिवन में विद्यमान थे। वृन्दावन की नित्य नवीन भगवल्लीलामीय चिन्मयता के सौन्दर्य में उनकी रसोपासना ने विशेष अभिवृद्धि की।

10

रामानुजाचार्य

रामानुजाचार्य विशिष्टाद्वैत वेदान्त के प्रवर्तक थे। वह ऐसे वैष्णव सन्त थे जिनका भक्ति परम्परा पर बहुत गहरा प्रभाव रहा।

वैष्णव आचार्यों में प्रमुख रामानुजाचार्य की शिष्य परम्परा में ही रामानन्द हुए जिनके शिष्य कबीर, रैदास और सूरदास थे। रामानुज ने वेदान्त दर्शन पर आधारित अपना नया दर्शन विशिष्ट अद्वैत वेदान्त लिखा था।

रामानुजाचार्य ने वेदान्त के अलावा सातवीं-दसवीं शताब्दी के रहस्यवादी एवं भक्तिमार्गी आलवार सन्तों के भक्ति-दर्शन तथा दक्षिण के पंचरात्र परम्परा को अपने विचारों का आधार बनाया।

जीवन परिचय

वैष्णव मत की पुनः प्रतिष्ठा करने वालों में रामानुज या रामानुजाचार्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनका जन्म 1017 ई. में मद्रास के समीप पेरुबुदूर गाँव में हुआ था। श्रीरामानुजाचार्य के पिता का नाम केशव भट्ट था। जब श्रीरामानुजाचार्य की अवस्था बहुत छोटी थी, तभी इनके पिता का देहावसान हो गया। इन्होंने कांची में यादव प्रकाश नामक गुरु से वेदाध्ययन किया। इनकी बुद्धि इतनी कुशाग्र थी कि ये अपने गुरु की व्याख्या में भी दोष निकाल दिया करते थे। फलतः इनके गुरु ने इन पर प्रसन्न होने के बदले ईर्ष्यालु होकर इनकी हत्या की योजना बना डाली, किन्तु भगवान की कृपा से एक व्याध और उसकी पत्नी ने इनके प्राणों

की रक्षा की। इन्होंने कांचीपुरम जाकर वेदांत की शिक्षा ली। रामानुज के गुरु ने बहुत मनोयोग से शिष्य को शिक्षा दी। वेदांत का इनका ज्ञान थोड़े समय में ही इतना बढ़ गया कि इनके गुरु यादव प्रकाश के लिए इनके तर्कों का उत्तर देना कठिन हो गया। रामानुज की विद्वत्ता की ख्याति निरंतर बढ़ती गई। वैवाहिक जीवन से ऊब कर ये संन्यासी हो गए। अब इनका पूरा समय अध्ययन, चिंतन और भगवत-भक्ति में बीतने लगा। इनकी शिष्य-मंडली भी बढ़ने लगी। यहाँ तक कि इनके पहले के गुरु यादव प्रकाश भी इनके शिष्य बन गए। रामानुज द्वारा प्रतिपादित सिद्धांत 'विशिष्टाद्वैत' कहलाता है।

श्रीरामानुचार्य गृहस्थ थे, किन्तु जब इन्होंने देखा कि गृहस्थी में रहकर अपने उद्देश्य को पूरा करना कठिन है, तब इन्होंने गृहस्थ आश्रम को त्याग दिया और श्रीरंगम जाकर यतिराज नामक संन्यासी से सन्न्यास धर्म की दीक्षा ले ली। इनके गुरु यादव प्रकाश को अपनी पूर्व करनी पर बड़ा पश्चात्ताप हुआ और वे भी सन्न्यास की दीक्षा लेकर श्रीरंगम चले आये और श्रीरामानुजाचार्य की सेवा में रहने लगे। आगे चलकर आपने गोष्ठीपूर्ण से दीक्षा ली। गुरु का निर्देश था कि रामानुज उनका बताया हुआ मन्त्र किसी अन्य को न बताएं। किंतु जब रामानुज को ज्ञात हुआ कि मन्त्र के सुनने से लोगों को मुक्ति मिल जाती है तो वे मंदिर की छत पर चढ़कर सैकड़ों नर-नारियों के सामने चिल्ला-चिल्लाकर उस मन्त्र का उच्चारण करने लगे। यह देखकर क्रुद्ध गुरु ने इन्हें नरक जाने का शाप दिया। इस पर रामानुज ने उत्तर दिया- यदि मन्त्र सुनकर हजारों नर-नारियों की मुक्ति हो जाए तो मुझे नरक जाना भी स्वीकार है।

चरित्र

श्रीरामानुजाचार्य बड़े ही विद्वान, सदाचारी, धैर्यवान और उदार थे। चरित्रबल और भक्ति में तो ये अद्वितीय थे। इन्हें योग सिद्धियाँ भी प्राप्त थीं। ये श्रीयामुनाचार्य की शिष्य-परम्परा में थे। जब श्रीयामुनाचार्य की मृत्यु सन्निकट थी, तब उन्होंने अपने शिष्य के द्वारा श्रीरामानुजाचार्य को अपने पास बुलवाया, किन्तु इनके पहुँचने के पूर्व ही श्रीयामुनाचार्य की मृत्यु हो गयी। वहाँ पहुँचने पर इन्होंने देखा कि श्रीयामुनाचार्य की तीन अंगुलियाँ मुड़ी हुई थीं। श्रीरामानुजाचार्य को समझ लिया कि श्रीयामुनाचार्य इनके माध्यम से 'ब्रह्मसूत्र', 'विष्णुसहस्त्रनाम' और अलवन्दारों के 'दिव्य प्रबन्धम्' की टीका करवाना चाहते हैं। इन्होंने श्रीयामुनाचार्य के मृत शरीर को प्रणाम किया और कहा- 'भगवन्! मैं आपकी इस अन्तिम इच्छा को अवश्य पूरी करूँगा।'

रामानुज के द्वारा चलाये गये सम्प्रदाय का नाम भी श्रीसम्प्रदाय है। इस सम्प्रदाय की आद्यप्रवर्ति का श्रीमहालक्ष्मी जी मानी जाती हैं। श्रीरामानुजाचार्य ने देश भर में भ्रमण करके लाखों नर-नारियों को भक्तिमार्ग में प्रवृत्त किया। इनके चौहत्तर शिष्य थे। इन्होंने महात्मा पिल्ललोका चार्य को अपना उत्तराधिकारी बनाकर एक सौ बीस वर्ष की अवस्था में इस संसार से प्रयाण किया। इनके सिद्धान्त के अनुसार भगवान विष्णु ही पुरुषोत्तम हैं। वे ही प्रत्येक शरीर में साक्षी रूप से विद्यमान हैं। भगवान नारायण ही सत हैं, उनकी शक्ति महा लक्ष्मी चित हैं और यह जगत उनके आनन्द का विलास है। भगवान श्रीलक्ष्मीनारायण इस जगत के माता-पिता हैं और सभी जीव उनकी संतान हैं।

रामानुज की रचनाएँ

रामानुज ने श्रीरंगम् नामक स्थान पर रहकर भी शास्त्रों का अध्ययन किया और वहाँ पर अपने जीवन के परवर्ती वर्ष बिताकर ग्रंथों की रचना की। श्रीरामानुजाचार्य ने भक्तिमार्ग का प्रचार करने के लिये सम्पूर्ण भारत की यात्रा की। इन्होंने भक्तिमार्ग के समर्थ में गीता और ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखा। वेदान्त सूत्रों पर इनका भाष्य श्रीभाष्य के नाम से प्रसिद्ध है।

रामानुज-विरचित सर्वप्रथम ग्रंथ 'वेदान्त संग्रह' है, जिसमें उन्होंने उन श्रंति वाक्यों की रचना की है, जो अद्वैतवादियों के अनुसार अभेद की स्थापना करते हैं। इसके बाद उन्होंने अपने प्रमुख ग्रन्थ 'श्रीभाष्य' की रचना की जो ब्रह्मसूत्र पर भाष्य है। तत्पश्चात् उन्होंने ब्रह्मसूत्र पर 'वेदान्त द्वीप' और 'वेदान्त सार' नामक दो छोटी टीकाएं लिखी, जो 'श्रीभाष्य' पर आधारित हैं। अन्त में उन्होंने 'गीता भाष्य' की रचना की। उन्होंने प्रस्थानत्रयी में से उपनिषदों पर कोई स्वतंत्र टीकाएं नहीं लिखी, परन्तु प्रमुख औपनिवेशिक वाक्यों की वेदार्थ संग्रह में व्याख्या की है। इन ग्रन्थों के अलावा दो अन्य ग्रन्थ- 'गद्यत्रयम' और 'नित्य ग्रन्थ' रामानुज के नाम से सम्बद्ध हैं, परन्तु इनकी प्रामाणिकता संदिग्ध है। वे दार्शनिक न होकर भक्तिपरक रचनाएं हैं।

रामानुज की समस्त रचनाओं में उनके पांडित्य का उत्कृष्ट प्रदर्शन मिलता है। ये उनके प्रौढ़ मस्तिष्क की उपज तथा सूक्ष्म चिन्तन, गहन अध्ययन एवं प्रगाढ़ अनुभव के प्रमाण हैं। इनमें मुख्यत: उन्होंने पहले अद्वैतवाद के इन आधारभूत सिद्धांतों का खंडन किया कि ब्रह्म निर्विशेष चिन्मात्र है, एक्मेव सत्ता है और नानात्वमय जगत् मिथ्या है। इसके उपरान्त उन्होंने बड़े विद्वत्तापूर्ण ढंग से अपने

दार्शनिक पक्ष का निरूपण किया है और साथ ही यह भी बताया है कि किस तरह वह श्रुति-सम्मत है।

शंकराचार्य और रामानुज

शंकर के निर्विशेषाद्वैत की इस तात्विक स्थापना का मूल आधार यह मान्यता है कि सत् और चित् (संवित्) में पूर्ण तादात्म्य है और मूलतः चित् निर्विशेष है। परन्तु रामानुज का कहना है कि चित् का निर्विशेषत्व किसी भी प्रमाण के द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता है, क्योंकि सभी प्रमाण अनुभूति पर आधारित होते हैं और अनुभूति सदैव सविशेष होती है। निर्विशेषाद्वैत के प्रवर्तक भी चित् में 'स्वयं प्रकाशता' आदि के विशेषणों को स्वीकार करते हैं। वे ये तर्क नहीं कर सकते कि ये विशेषण मूलतः चित् ही हैं, क्योंकि इनमें मौलिक भेद हैं। चित् का सत् से तादात्म्य मानना भी अप्रामाणिक है। चित् अनिवार्यतः ज्ञाता और ज्ञेय को अपने से पृथक् मानकर चलता है। यदि चित् एवं ज्ञेय में पूर्ण तादात्म्य होता तो समस्त ज्ञान निरर्थक एवं पुनरावृत्ति मात्र होता। यह सही है कि ज्ञान संबंध दो पूर्णतः पृथक् पदों में स्थापित नहीं हो सकता, पर दो तादात्म्युक्त पदों में ऐसे संबंधों की चर्चा करना भी निरर्थक है। यद्यपि प्रत्येक अभिकथन अभेद का निरूपक है, तथापि यह विशुद्ध तादात्म्य न होकर भिन्नत्व से अनुस्युत है। ज्ञान सत्ता का विशेषण है और उससे अभेद एवं भेद दोनों के समन्वित रूप से संबंधित है। रामानुज ने इस मान्यता को सुव्यवस्थित एवं प्रभावक रूप से प्रतिपादित किया कि समस्त ज्ञान सविशेष होते हैं।

अविशिष्टग्राही ज्ञान होता ही नहीं। ज्ञान की ही तरह ज्ञेय सत्ता भी निर्विशेष एकत्व नहीं बल्कि ऐसा एकत्व है, जिसमें नानात्व के अंश विशेषण रूप से अंतर्निहित हैं। ज्ञान के समस्त उपकरण प्रत्यक्ष, अनुमानादि सविशेष एकत्व, या विशिष्टाद्वैत का ही बोध कराते हैं। प्रत्यक्ष चाहे वह निर्विकल्पक हो या सविकल्पक सन्मात्रग्राही नहीं होता, बल्कि उन्हीं विषयों को ग्रहण करता है, जो सविशेष हैं। निर्विकल्प प्रत्यक्ष अनिश्चित एवं अस्पष्ट होता है, पर निर्विशेष नहीं। अनुमित ज्ञान की सविशेषता तो सुस्पष्ट है ही। श्रुति भी निर्विशेषत्व का प्रतिपादन नहीं करती है। जिन श्रुति वाक्यों से चरम तत्त्व से गुणों का निषेध हुआ है, वे यथार्थ में हेय गुणों का ही निषेध करते हैं। समस्त गुणों का नहीं। इस तरह रामानुज ने ज्ञान एवं सत्ता के क्षेत्र में एकत्व एवं नानात्व में समन्वय स्थापित कर वेदान्त में नई मान्यताएं स्थापित की हैं। रामानुज शंकर की ही तरह अद्वैतवादी हैं, परन्तु

जगत् के नाना जड़-चेतन तत्त्वों को मायिक माने बिना उसी उद्वय तत्त्व ब्रह्म के अंश मानते हैं। समस्त नानात्वमय परिणामी जगत् ब्रह्म में ही समाविष्ट है। ब्रह्म चित् और अचित् दोनों से विशिष्ट है और उसकी अद्वैतावस्था सविशिष्ट है। वह एक ऐसा विशिष्ट है, जो संश्लिष्ट स्वरूप में एकत्व और नानात्व को समाविष्ट करता है। इस तरह जहाँ शंकर के केवलाद्वैत में पारमार्थिक दृष्टि से ब्रह्म के अतिरिक्त सब कुछ का निषेध किया गया है। वहाँ रामानुज के विशिष्टाद्वैत में ब्रह्म में ही सब कुछ को स्वीकार किया गया है। वे शंकर की ही तरह इस बात पर जोर देते हैं कि ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कोई तत्त्व नहीं है, पर उनका 'अन्य' से तात्पर्य केवल विजातीय एवं सजीतीय भेद है, स्वगत नहीं है। रामानुज के द्वारा मान्य एक एकानेकरूप इस चरम तत्त्व की तुलना एक ऐसे सजीव देह से की जा सकती है, जो भेदविहीन विशुद्ध एकत्व न होकर एक ऐसा एकत्व है, जिसमें नानात्व निहित है और जो नानात्व में ही अपनी अभिव्यक्ति करता है। इस दार्शनिक स्थिति की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें जीव के पृथक् व्यक्तित्त्व और जगत् की सत्यता को पूर्णतः स्वीकार किया गया है तथा सर्वव्यापी चरमतत्त्व में उसकी पूर्णता को हानि पहुँचाए बिना उनको समुचित स्थान एवं मूल्य प्रदान किया गया है।

देहात्म भाव

यदि ब्रह्म एक विशिष्ट है, जिसमें जीव और जगत् विशेषण रूप से स्थित हैं तो प्रश्न यह उपस्थित होता है कि इनका पारस्परिक संबंध किस प्रकार का है। इसकी व्याख्या के लिए रामानुज देहात्म भाव की सहायता लेते हैं। ब्रह्म आत्मा या केन्द्रीभूत तत्त्व है। जीव और जगत् ब्रह्म के देह हैं। ब्रह्म, जीव और जगत् तीनों सत्य हैं, भिन्न हैं, परन्तु केवल ब्रह्म स्वाधीन है तथा जीव और जगत् ब्रह्मधीन एवं ब्रह्म नियंत्रित हैं। जीव और जगत् किस अर्थ में ब्रह्म के देह हैं, यह स्पष्ट करने के लिए रामानुज देह की निम्नलिखित परिभाषा देते हैं–

'देह वह द्रव्य है, जिसे एक चेतन आत्मा अपने प्रयोजन हेतु धारण करती है, नियंत्रित करती है, कार्य में प्रवृत्त करती है और जो पूर्णतया उस आत्मा के अधीनस्थ रहती है।'

इस दृष्टि से समस्त जीव-जगत् ब्रह्म के देह हैं, क्योंकि वे ब्रह्म पर आधारित, ब्रह्म के द्वारा नियंत्रित एवं ब्रह्म के अधीनस्थ रहते हैं। ब्रह्म और जीव-जगत् के इस विशिष्ट संबंध को रामानुज अपृथक्सिद्ध के नाम से पुकारते

हैं, जिसमें पूर्ण तादात्म्य और पूर्ण भेद दोनों का निषेध किया गया है। इसमें संबंधियों के तादात्म्य पर जोर तो दिया ही गया है, पर यह तादात्म्य संबंध और फलतः किसी एक संबंधी को ही समाप्त न कर दे, इस दृष्टि से भेद पर भी बल देकर संबंध के अस्तित्त्व की रक्षा की गई है।

सामानाधिकरण्य के सिद्धांत

सामानाधिकरण्य के आधार पर ही रामानुज उपनिषदों के 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों की व्याख्या करते हैं। इसमें 'त्वं' शब्द, जो साधारणतः जीव के लिए आता है, वस्तुतः ब्रह्म का बोधक है, जो जीव में अंतर्यामी रूप से स्थित है और जिसका जीव अंश रूप है। 'तत्' शब्द भी ब्रह्म का ही द्योतक है, परन्तु यह उसके उस पक्ष का ही द्योतक है, जो जगत् का कारण रूप है। इस तरह इस महावाक्य में ब्रह्म के दो पृथक् पक्षों की एकता का निरूपण है। इसका फलितार्थ यह है कि यद्यपि जीव जगत वास्तविक एवं भिन्न है, तथापि जिस ब्रह्म में अंतर्भूत हैं, वह एक ही हैं।

एकत्व और नानात्व

रामानुज से पूर्व शंकर ने एकत्व एवं नानात्व को परस्पर विरुद्ध स्वभाव वाले मानकर विशुद्ध चैतन्य के एकत्व को ही चरम तत्त्व के रूप में स्वीकार किया था और पारस्परिक दृष्टि से जगत् के नानात्व को मिथ्या घोषित कर दिया था। रामानुज ने शंकर द्वारा प्रतिपादित निर्विशैषाद्वैत के इन आधारभूत सिद्धांतों का सबल प्रतिवाद कर कि चरम तत्त्व निर्विशेष चिन्मात्र है तथा नानात्वमय जगत् मायाजनित एवं मिथ्या है, वेदान्त की सगुणवादी धारा को तार्किक आधार पर पुष्ट करने का प्रयास किया है।

एक चरम तत्त्व किस तरह नानात्वमय जगत् से अपृथक् रूपेण संबंधित होता है और किस तरह वह अनेक बिन्दुओं में व्यक्त होते हुए भी एकत्व को बनाये रख सकता है, इस मान्यता का समाधान रामानुज व्याकरण में प्रयुक्त सामानाधिकरण्य के सिद्धांत की सहायता से करते हैं। उन्होंने अद्वैत के एकत्व में ही अनुस्युत भेद का सजीव तत्त्व स्वीकार किया, जिसमें नानात्व को एकत्व का विरोधी नहीं बल्कि विशेषण माना गया। जिस तरह एक वाक्य में भिन्नार्थक शब्दों का समुच्चय एकीकृत हो एकार्थ का द्योतक होता है, उसी तरह एकत्व और नानात्व मिलकर एक समन्वयात्मक एकता में समाविष्ट होते हैं। इस सिद्धांत के

द्वारा रामानुज न केवल ब्रह्म एवं जीव जगत् के संबंध की ही व्याख्या करते हैं, अपितु इसके साथ-साथ ब्रह्म के सविशेष स्वरूप तथा जीव जगत् की वास्तविकता की भी सिद्धि करते हैं।

रामानुज द्वारा मान्य इस अपृथक्सिद्ध संबंध को अंगीय एकता की अवधारणा से समझा जा सकता है, जिसमें ब्रह्म प्रधान तत्त्व है और जीव जगत् उस पर आश्रित गौण तत्त्व है। एकता की इस अवधारणा को 'नीलकमल' इस संयुक्त पद के अर्थ-बोध से जाना जा सकता है। यहाँ 'नील' गुण 'कमल' द्रव्य से भिन्न है, लेकिन साथ ही 'नील' गुण अपने अस्तित्त्व के लिए 'कमल' पर आश्रित है और उससे पृथक् उसका अस्तित्त्व नहीं है। कमल नामक पदार्थ को इस अर्थ में एकत्व कहा गया है कि उसमें नीलत्व का गुण अंतर्भूत है। नील गुण और कमल द्रव्य में वास्तविक भेद है। मात्र आभास रूप नहीं, पर यह भेद बाह्य न होकर आंतरिक है।

दृष्टिकोण

रामानुज चरम तत्त्व को अनन्त गुण सम्पन्न परम पुरुष के रूप में स्वीकार करते हैं। शंकर ने ब्रह्म या चरम तत्त्व के निर्गुण परक और सगुण परक, द्विविध वर्णन कर एक को पारमार्थिक दृष्टि और दूसरे को व्यावहारिक दृष्टि कहकर दोनों में वैचारिक भेद किया है। सगुण ब्रह्म की सत्ता औपाधिक तथा जागतिक प्रपंच तक ही सीमित मानी गई है। रामानुज इस वर्गीकरण के पूर्ण विरोधी हैं। उनके अनुसार ब्रह्म के सम्बन्ध में एक ही दृष्टिकोण हो सकता है और वह है सगुणता का। ब्रह्म में गुणों का बाहुल्य उनके स्वरूप के नानात्व का बोध नहीं कराता, क्योंकि पृथक् होते हुए भी समस्त गुण एक ही ब्रह्म में अस्तित्त्व रखते हैं और उसकी उद्वयता को हानि नहीं पहुँचाते।

वेदान्त दर्शन

जगत की तात्विक प्रस्थिति के बारे में वेदान्त दर्शन में मायावाद एवं लीलावाद की दो पृथक् एवं पूर्णत: विरोधी परम्पराएं रही हैं। इन दोनों परम्पराओं में मौलिक भेद सत्ता के प्रति दृष्टिकोण में है। दोनों यह मानते हैं कि सृष्टि प्रक्रिया का मूल सृजन की चाह है और उस चाह को चरमतत्त्व (ब्रह्म) पर आरोपित एवं मिथ्या माना गया है, जबकि लीलावाद में उसे ब्रह्म की स्वाभाविक शक्ति एवं

वास्तविक माना गया है। दोनों के अनुसार जगत् ब्रह्म की ही अभिव्यक्ति है, पर एक में वह आभास मात्र है, जबकि दूसरे में वास्तविक। रामानुज मायावाद का प्रबल प्रतिवाद कर लीलावाद का समर्थन करते हुए जगत् के प्रति वास्तवलक्षी दृष्टिकोण अपनाते हैं। वे जगत् को उतना ही वास्तविक मानते हैं, जितना की ब्रह्म है। ब्रह्म जगत की सृष्टि का निमित्त एवं उपादान कारण है। किन्तु इस प्रक्रिया में ब्रह्म निर्विकार रहता है। क्रिया शक्ति उसकी सत्ता या स्वरूप में बाधा नहीं पहुँचाती। प्रलय की अवस्था में चित् और अचित् अव्यक्त रूप में ब्रह्म में रहते हैं। ब्रह्म को इस अवस्था में 'कारण-ब्रह्म' कहते हैं। जब सृष्टि होती है, तब ब्रह्म में चित् एवं अचित् व्यक्त रूप में प्रकट होते हैं। इस अवस्था को कार्य ब्रह्म कहते हैं। ब्रह्म अपनी दोनों विशिष्ट अवस्थाओं में अद्वैत रूप है। केवल भेद यह है कि पहले में अद्वैत एकविध है तो दूसरे में अनेकविध हो जाता है। दोनों अवस्थाएं समान रूप से सत्य हैं। अभेद-श्रुतियां कारण-ब्रह्म की बोधक हैं और और भेद-श्रुतियां कार्य-ब्रह्म की।

मायावाद का खंडन

अद्वैत वेदांत में सत्ता के प्रति जो दृष्टिकोण अपनाया गया है, उसमें यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि ब्रह्म एकमेव सत्ता है तो वैविध्यमय जगत की, जिसका हम अनुभव करते हैं, कैसे व्याख्या की जाये। इसका उत्तर माया के सिद्धांत को प्रस्तुत कर अवश्य दिया गया, परन्तु माया अपने आप में अनिर्वचनीय है, जो वास्तविक समाधान की अपेक्षा वैचारिक रहस्य या पहेली-सी लगती है। यह एकत्व और नानात्व के विरोध को दूर करने के लिए प्रस्तुत की गई है। परन्तु स्वयं इसमें सत् और असत् के निषेध का आत्मविरोध है। रामानुज सत्ता के प्रति सजीव दृष्टिकोण रखते हैं। अतः उनके लिए एकत्व और नानात्व के समन्वय का प्रश्न ही नहीं उठता। वे इन दोनों को विभक्त न मानकर मात्र पृथक् या एक ही तत्त्व के दो पक्ष मानते हैं। उनके मतानुसार एकमेव सत्ता अपने सविशेष स्वरूप में जगत के नाना चराचर तत्त्वों का अंग के रूप में समावेश कर लेती हैं। तार्किक दृष्टि से यह आवश्यक भी है कि यदि ब्रह्म में अभिव्यक्ति को स्वीकार कर लिया जाये, चाहे वह अभिव्यक्ति आरोपित हो या वास्तविक, तो उन नाना रूपों को भी ब्रह्म में स्वीकार करना पड़ेगा, जिनमें ब्रह्म की अभिव्यक्ति हुई है। अद्वैतवादी इस अभिव्यक्त नानात्व को मिथ्या घोषित करते हैं और मायावाद का प्रवर्तन करते हैं, जो रामानुज को पूर्णतः श्रुति, युक्ति एवं अनुभव के साक्ष्य के

विपरीत लगता है। अत: वे सात तर्कों को प्रस्तुत कर मायावाद का खंडन करने का प्रयास करते हैं, जो निम्नलिखित हैं–

आश्रयानुपपत्ति

रामानुज यह प्रश्न उपस्थित करते हैं कि जिस अविद्या से संसार की उत्पत्ति होती है, उसका आधार क्या है। यदि यह कहा जाये कि वह जीवाश्रित है, तो यह शंका होती है कि जब जीव स्वयं अविद्या का कार्य है तो फिर जो कारण है, वह कार्य पर कैसे निर्भर रह सकता है। यदि यह कहा जाये कि अविद्या ब्रह्माश्रित है, तो फिर ब्रह्म को विशुद्ध चैतन्य कैसे कह सकते हैं और न अविद्या को एक पृथक् स्वाश्रयी तत्त्व ही माना जा सकता है, क्योंकि इससे अद्वैत के सिद्धांत की हानि होती है।

तिरोधानानुपपत्ति

अद्वैत के अनुसार अविद्या ब्रह्म को आच्छादित कर अध्यारोपण द्वारा जगत को अभिव्यक्त करती है। परन्तु ब्रह्म, जो प्रकाश है, अध्यारोप का अधिष्ठान या विषय कैसे हो सकता है। यदि फिर भी उसे ऐसा माना गया तो इससे ब्रह्म के स्वप्रकाशत्व की हानि होगी।

स्वरूपानुपपत्ति

यदि हम अविद्या की सत्ता और उसमें अध्यारोप की क्षमता स्वीकार करें भी, तो यह प्रश्न उपस्थित होता है कि उसका स्वरूप क्या है। उसके स्वरूप को न तो सत् माना जा सकता है और न ही असत्। अद्वैतवादी उसे सत् मानते ही नहीं। पर उसे असत् भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि तब यह प्रश्न होगा कि क्या वह सत् (दृशि) रूप में असत् है या चित् (दृष्टा) रूप में असत् है। वह सत् रूप में असत् नहीं हो सकती, क्योंकि ब्रह्म ही सत् है और वह नित्य है। यदि उसे चित् रूप में असत् माना जाये तो सत् चित् (ब्रह्म) के अलावा असत् चित् की कल्पना करनी होगी। इसके अलावा इस प्रस्थापना में अनवस्था दोष होगा, क्योंकि यदि असत् जगत के कारण के रूप में अविद्या को माना जाए और अविद्या स्वयं भी असत् हो तो इसके भी कारण के रूप में किसी अन्य सत् तत्त्व को मानना पड़ेगा। यदि इस दोष के निवारण हेतु यह माना जाए कि सत् चित् जो स्वयं ब्रह्म है, अविद्या है तो इसका अर्थ यह होगा कि ब्रह्म स्वयं ही कारण

है। ऐसी स्थिति में ब्रह्मेतर किसी तत्त्व को मानना आवश्यक होगा। फिर ब्रह्म शाश्वत होने से उसका कार्यरूप जगत भी शाश्वत होगा। अतः अविद्या को ब्रह्म से पृथक् तथा सत् माने बिना जगत की व्याख्या नहीं हो सकती।

अनिर्वचनीयानुपपत्ति

अविद्या को न तो सत् और न ही असत् मानते हुए अद्वैत वेदान्ति उसे अनिर्वचनीय कहते हैं। इसके स्वरूप को वे भावरूप अज्ञान मानते हैं। परन्तु ऐसा कहने का कुछ अर्थ नहीं निकलता। अज्ञान का अर्थ ज्ञान का अभाव है। तब फिर वह भावरूप कैसे माना जा सकता है। अविद्या का ज्ञान न तो प्रत्यक्ष और न अनुमान होता है। कोई भी अनुभव भ्रामक नहीं होता है। भ्रम में भी अर्धज्ञान ही होता है। उसे अज्ञान नहीं कहा जा सकता। इस तरह न तो सिद्धांततः और न व्यवहार से अविद्या की सिद्धि होती है।

प्रमाणानुपपत्ति

अविद्या की सिद्धि के लिए शास्त्रों में भी कोई प्रमाण नहीं है। प्रकृति को 'माया' कहकर उपनिषदों ने उल्लेख किया है, परन्तु वहाँ माया का तात्पर्य अज्ञान नहीं बल्कि ब्रह्म की विशिष्ट शक्ति है।

निवर्तकानुपपत्ति

अविद्या का कोई निवर्तक नहीं हो सकता, क्योंकि अद्वैतवादियों के अनुसार निर्विशेष ज्ञान ही अविद्या का निवारण कर सकता है और ऐसा ज्ञान कदापि संभव नहीं, क्योंकि सभी ज्ञान अनिवार्यतः सविशेष होते हैं।

निवर्त्यापपत्ति

अविद्या का निवारण भी संभव नहीं है, क्योंकि वह भाव रूप है और भाव रूप सत्ता का कभी विनाश नहीं होता। इस तरह मायावाद का खंडन कर रामानुज यह प्रतिपादित करते हैं कि सृष्टि वास्तविक है। जगत के पदार्थ परिणामी हैं, नश्वर हैं। पर इस आधार पर उन्हें मिथ्या नहीं माना जा सकता।

रामानुज के दार्शनिक विचार

रामानुज के अनुसार समस्त भौतिक पदार्थ अचित् या प्रकृति के ही परिणाम हैं। यह मान्यता सांख्य दर्शन में भी है। परन्तु उससे रामानुज का यह मतभेद है

कि ये प्रकृति को ब्रह्म का अंश एवं ब्रह्म द्वारा परिचालित मानते हैं। ब्रह्म की इच्छा (विमर्श) से प्रकृति तेज, जल एवं पृथ्वी में विभक्त होती है, जो क्रमशः सत्य, रजस् एवं तमस् रूप हैं। इन्हीं तीन तत्त्वों के नाना प्रकार के सम्मिश्रण से जगत के स्थूल पदार्थों की उत्पत्ती होती है। यह सम्मिश्रण क्रिया त्रिवृतकरण कहलाती है।

ब्रह्म

यदि ब्रह्म को जगत का कारण माना जाए तो यह प्रश्न उठता है कि पूर्ण एवं निर्विकारी ब्रह्म इस अपूर्ण एवं विकारशील जगत को क्यों उत्पन्न करता है। इसी तरह चित् एवं अचित् ब्रह्म के वास्तविक अंश है तो क्या उनके दोष एवं विकार अंशी ब्रह्म में दोष एवं विकार उत्पन्न नहीं करते। इस विषम स्थिति से बचने के लिए रामानुज देहात्म संबंध को अधिक स्पष्ट करते हैं। जिस तरह यथार्थ में शरीरिक विकारों से आत्मा प्रभावित नहीं होती। उसी तरह देह रूपी जगत के विकारों से ब्रह्म प्रभावित नहीं होता है। परन्तु यह विचारणीय है कि क्या इस तरह की व्याख्या संतोषजनक है। रामानुज जगत और ब्रह्म के संबंध को द्रव्य-गुण भाव के आधार पर भी समझाने का प्रयास करते हैं। उनके अनुसार द्रव्य सदैव गुणयुक्त होता है। द्रव्य गुण संबंध द्रव्य और उसके गुणों से ही नहीं अपितु दो द्रव्यों के बीच भी होता है। उदाहरण के तौर पर किसी दंडधारी व्यक्ति के प्रसंग में व्यक्ति गुणी है और दंड उसका गुण है, परन्तु दंड अपने आप में भी एक द्रव्य है, जिसके अपने विशिष्ट गुण हैं। द्रव्य का गुण से भेद भी है और अभेद भी। भेद के ही कारण ब्रह्म की निर्विकारता एवं जगत की सविकारता सिद्ध की जा सकती है, क्योंकि कोई भी वस्तु किसी द्रव्य का गुण होती है तो इस आधार पर नहीं कि वह द्रव्य के समान स्वभाव वाली है, बल्कि इस आधार पर कि वह द्रव्य पर पूर्णतया आधारित होती है। इस तरह रामानुज जगत का ब्रह्म से पार्थक्य भी सिद्ध करते हैं और जगत की ब्रह्म पर निर्भरता भी प्रतिपादित करते है।

जीव

रामानुज के अनुसार जीव ब्रह्म का अंश है, ब्रह्म पर पूर्णतः आश्रित है और ब्रह्म उसमें अंतर्यामी के रूप में स्थित है। मोक्ष की दशा में जीव ब्रह्म से एकाकार नहीं होता बल्कि एकरूप होता है। अर्थात् जीव अपना पृथक् अस्तित्त्व रखते हुए

ब्रह्म की तरह अनंत ज्ञान और अनंत आनन्द से युक्त हो जाता है। यह जीव की पूर्णता की स्थिति है, पर यह ब्रह्म के प्रभुत्व का हनन नहीं करती, क्योंकि तब भी वह ब्रह्म के पर्याय एवं अंश के रूप में ही रहता है।

मोक्ष

मोक्ष के साधन के रूप में रामानुज कर्म, ज्ञान एवं भक्ति के समुच्चय का सिद्धांत प्रस्तुत करते हैं। ये तीनों एक दूसरे के पूरक एवं अंतरंग रूप से संबंधित हैं। वे भक्ति की इस साधना में सर्वाधिक महत्त्व देते हैं, पर यह भाव प्रधान न होकर चिंतन प्रधान है, जिसे वे 'ध्रुवानुस्मृति' से पुकारते हैं। वे भक्ति और ज्ञान को अभिन्न मानते हैं। उनके अनुसार सच्चा ज्ञान भक्तिरूप है और सच्ची भक्ति ज्ञानरूप।

रामानुज दर्शन की सबसे बड़ी विशेषता समन्वयवादी दृष्टिकोण है। ईश्वरवाद एवं ब्रह्मवाद, धार्मिक भावना एवं नानात्व आदि की एकांगी स्थापनाओं के व्यवस्थित समन्वय का प्रयास यहाँ मिलता है। इसके अलावा लीलावाद का सशक्त समर्थन तथा मायावाद का प्रबल विरोध कर जीव जगत की वास्तविकता की स्थापना करना उनके दर्शन की एक अन्य विशेषता है।

11

संत एकनाथ

सन्तों की भूमि महाराष्ट्र में महात्मा एकनाथजी का नाम भी अत्यन्त श्रद्धा से लिया जाता है। ब्राहमण कुल में जन्मे इस सन्त ने कभी भी जाति के नाम पर किसी से भेदभाव नहीं किया, बल्कि उस समय की जातिवादी कट्टर भावना को लोगों के मन से निकालने का यथासम्भव प्रयास किया। एक अर्थो में वे सन्त के साथ-साथ समाजसुधारक भी थे।

जन्म परिचय

एकनाथजी का जन्म संवत् 1590 में महाराष्ट्र के औरंगाबाद में गोदावरी के निकट पैठण गांव में हुआ था। उनके पिता सूर्यनारायण और माता रुक्मणीबाई का उनके बचपन में ही स्वर्गवास हो गया था, जिसके कारण उनकी दादी चक्रवाणि मैं उन्हें प्यार से "एकमा" कहकर पाला-पोसा। छह वर्ष की अवस्था में यज्ञोपवीत होने के साथ ही उनकी बुद्धिमत्ता और तर्कशक्ति से बड़े-बड़े विद्वान् चकित रह जाते थे।

बारह वर्ष की अवस्था में ही वे वैदिक धर्मशास्त्रों में पारंगत हो गये थे। गुरु की आज्ञा से उन्होंने धर्मपरायण, सेवाभावी गिरिजाबाई से विवाह किया था। आजीवन ईश्वर की साधना में लीन रहते हुए 1656 को उनकी देह पंचतत्त्व में लीन हो गयी।

उनका चमत्कारिक जीवन

ईश्वर के परमभक्त एकनाथजी के जीवन से अनेक चमत्कारिक घटनाएं जुड़ी हैं। कहा जाता है कि वे जिस रास्ते से होकर गोदावरी स्नान को जाते थे, उसी रास्ते एक दुष्ट मौलवी उन्हें नहाकर लौटते समय उन पर कुल्ला करके अपवित्र कर देता था। एकनाथ कुछ न कहते, चुपचाप पुनः स्नान कर लौट जाते।

एक दिन तो उस दुष्ट ने उन पर 108 बार कुल्ले किये। आखिर जब उसका मुंह थक गया, तो वह एकनाथजी के पैरों पर गिरकर बोला: "मैं आपका अपराधी हूं।" एकनाथ बोले: "तुम्हारी वजह से मैंने एक ही दिन में 108 बार गोदावरी स्नान का पुण्य कमाया।"

कुछ दुष्ट ब्राह्मणों ने उनकी सज्जनता की परीक्षा लेने के लिए एक बार एक व्यक्ति को उन्हें क्रोधित करने हेतु घर भेजा। एकनाथजी भगवद् भक्ति में रमे हुए थे। वह व्यक्ति उनकी पीठ पर चढ़ बैठा।

एकनाथ हंसकर बोले: "तुम्हारी इतनी उतत्मीयता देखकर मैं बहुत प्रसन्न हुआ।"

अब उस व्यक्ति ने उन्हें क्रोध दिलाने के लिए गिरिजाबाई की पीठ की सवारी भी कर डाली। वे गिरिजाबाई से बोले: "इस बालक को ठीक से पकड़े रहना, अन्यथा गिरकर उसे चोट लग जायेगी।" गिरिजाबाई बोली: "मुझे ऐसे बच्चों को संभालने का अच्छा अभ्यास है।" सन्तों को भला क्रोध कैसे आता। एक बार हरिद्वार से रामेश्वर में गंगाजल चढ़ाने हेतु वे तीर्थयात्रा से लौट रहे थे।

रास्ते में एक मरणासन्न प्यासे गधे को देखकर घड़े का सारा जल उसे पिला दिया। उनके साथियों ने इसका काफी विरोध किया। बाद में सभी को उसी गधे में रामेश्वरम् भगवान् के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

अछूतों के प्रति उनके मन में ऐसा प्रेमभाव था कि उनके पिता के वार्षिक श्राद्ध पर घर में बन रहे पकवानों की गन्ध पाकर कुछ अछूतों द्वारा भोजन की इच्छा प्रकट करते ही उन्हें सन्तुष्ट होने तक अपने घर बिठाकर भोजन कराया।

ब्राह्मणों ने उनके इस कार्य की काफी निन्दा की। ब्राह्मणों ने भोजन करने से इनकार कर दिया। एकनाथजी ने भक्तिभाव से पितरों का आवाहन किया। पितृगण सशरीर वहां उपस्थित हुए। यह देखकर ब्राह्मणों की आंखें फटी की फटी रह गयी थीं। एक वेश्या के निमन्त्रण पर उसके घर जाकर एकनाथजी ने उसके हृदय में ईश्वर-भक्ति की ऐसी लगन लगायी कि उसने अपने जीवन को धन्य कर लिया।

कृतियाँ

एकनाथ की रचनाएँ निम्नलिखित मानी जाती हैं–

1. चतुश्लोकी भागवत,
2. पौराणिक आख्यान और संतचरित्र,
3. भागवत,
4. रुक्मिणी स्वयंवर,
5. भावार्थ रामायण,
6. मराठी एवं हिंदी में कई सौ 'अभंग',
7. हस्तामलक शुकाष्टक, स्वात्मसुख, आनंदलहरी, चिरंजीव पद इत्यादि आध्यात्मिक विवेचन पर कृतियाँ,
8. लोकगीतों (भारुड) की रचनाएँ इत्यादि।

भागवत इनकी सर्वोत्कृष्ट रचना है, जिसका संम्मान वाराणसी के पंडितों ने भी किया था। ये प्रथम मराठी कवि थे जिन्होंने लोकभाषा में रामायण पर बृहत् ग्रंथ रचा। लोकरंजन करते हुए, लोक जागरण करना इनका ध्येय था और इसमें शत-प्रतिशत सफल रहे, इसीलिए इनको युगप्रवर्तक कवि कहते हैं। इन्होंने ज्ञानेश्वरी की अनेक पांडुलिपियों का सूक्ष्म अध्ययन तथा शोध करके ज्ञानेश्वरी की शुद्ध एवं प्रामाणिक प्रति तैयार की और अन्य विद्वानों के सम्मुख साहित्य के शोधकार्य का आदर्श उपस्थित किया।

उपसंहार

सन्त एकनाथ का विचार था कि केवल पूजा-पाठ से व्यक्ति ब्राह्मण नहीं होता। व्यक्ति के सत्कर्म और उसकी शुद्ध आत्मा ही उसे महान् बनाती है। जो लोग जाति के नाम पर भेदभाव करते हैं, वे ढोंगी, पाखण्डी और अल्पज्ञानी हैं। पतितों और पीड़ितों की सेवा के साथ-साथ ईश्वर-भक्ति में रमे रहकर सन्त एकनाथजी ने सन् 1656 को गोदावरी नदी के तट पर महासमाधि लगा ली।

12

समर्थ रामदास

समर्थ रामदास महाराष्ट्र के प्रसिद्ध सन्त थे। वे छत्रपति शिवाजी के गुरु थे। उन्होंने 'दासबोध' नामक एक ग्रन्थ की रचना भी की थी, जो मराठी भाषा में है। 'हिन्दू पद पादशाही' के संस्थापक शिवाजी के गुरु रामदासजी का नाम भारत के साधु-संतों व विद्वत समाज में सुविख्यात है। महाराष्ट्र तथा सम्पूर्ण दक्षिण भारत में तो प्रत्यक्ष भगवान हनुमान के अवतार के रूप में उनकी पूजा की जाती है।

जीवन चरित

समर्थ रामदास का मूल नाम 'नारायण सूर्याजीपंत कुलकर्णी' (ठोसर) था। इनका जन्म महाराष्ट्र के जालना जिले के जांब नामक स्थान पर रामनवमी के दिन मध्यान्ह में जमदग्नी गोत्र के देशस्थ ऋग्वेदी ब्राह्मण परिवार में शके 1530 सन् 1608 में हुआ। समर्थ रामदास जी के पिता का नाम सूर्याजी पन्त था। वे सूर्यदेव के उपासक थे और प्रतिदिन 'आदित्यहृदय' स्तोत्र का पाठ करते थे। वे गाँव के पटवारी थे लेकिन उनका बहुत-सा समय उपासना में ही बीतता था। उनकी माता का नाम राणुबाई था। वे संत एकनाथ जी के परिवार की दूर की रिश्तेदार थी। वे भी सूर्य नारायण की उपासिका थीं। सूर्यदेव की कृपा से सूर्याजी पन्त को दो पुत्र गंगाधर स्वामी और नारायण (समर्थ रामदास) हुए। समर्थ रामदास जी के बड़े भाई का नाम गंगाधर था। उन्हें सब 'श्रेष्ठ' कहते थे। वे अध्यात्मिक सत्पुरुष थे।

उन्होंने 'सुगमोपाय' नामक ग्रन्थ की रचना की है। मामा का नाम भानजी गोसावी था। वे प्रसिद्ध कीर्तनकार थे।

रामदास जी का बालपन

एक दिन माता राणुबाई ने नारायण (यह उनके बचपन का नाम था) से कहा, 'तुम दिनभर शरारत करते हो, कुछ काम किया करो। तुम्हारे बड़े भाई गंगाधर अपने परिवार की कितनी चिंता करते हैं!' यह बात नारायण के मन में घर कर गई। दो-तीन दिन बाद यह बालक अपनी शरारत छोड़कर एक कमरे में ध्यानमग्न बैठ गया। दिनभर में नारायण नहीं दिखा तो माता ने बड़े बेटे से पूछा कि नारायण कहाँ है।

उसने भी कहा, 'मैंने उसे नहीं देखा।' दोनों को चिंता हुई और उन्हें ढूँढने निकले पर, उनका कोई पता नहीं चला। शाम के वक्त माता ने कमरे में उन्हें ध्यानस्थ देखा तो उनसे पूछा, 'नारायण, तुम यहाँ क्या कर रहे हो?' तब नारायण ने जवाब दिया, 'मैं पूरे विश्व की चिंता कर रहा हूँ।'

इस घटना के बाद नारायण की दिनचर्या बदल गई। उन्होंने समाज के युवा वर्ग को यह समझाया कि स्वस्थ एवं सुगठित शरीर के द्वारा ही राष्ट्र की उन्नति संभव है। इसलिए उन्होंने व्यायाम एवं कसरत करने की सलाह दी एवं शक्ति के उपासक हनुमानजी की मूर्ति की स्थापना की। समस्त भारत का उन्होंने पद-भ्रमण किया। जगह-जगह पर हनुमानजी की मूर्ति स्थापित की, जगह-जगह मठ एवं मठाधीश बनाए ताकि पूरे राष्ट्र में नव-चेतना का निर्माण हो।

तपश्चर्या

12 वर्ष की अवस्था में अपने विवाह के समय 'शुभमंगल सावधान' में 'सावधान' शब्द सुनकर वे विवाहमंडप से निकल गए और टाकली नामक स्थान पर श्रीरामचंद्र की उपासना में संलग्न हो गए। उपासना में 12 वर्ष तक वे लीन रहे। यहीं उनका नाम 'रामदास' पड़ा।

गृहत्याग करने के बाद 12 वर्ष के नारायण नासिक के पास टाकली नाम के गाव को आए। वहाँ नंदिनी और गोदावरी नदियों का संगम है। इसी भूमि को अपनी तपोभूमि बनाने का निश्चय करके उन्होंने कठोर तप शुरू किया। वे प्रातः ब्राह्ममुहूर्त को उठकर प्रतिदिन 1200 सूर्यनमस्कार लगाते थे। उसके बाद गोदावरी नदी में खड़े होकर राम नाम और गायत्री मंत्र का जाप करते थे। दोपहर में केवल

5 घर की भिक्षा मांग कर वह प्रभु रामचंद्र जी को भोग लगाते थे। उसके बाद प्रसाद का भाग प्राणियों और पंछियों को खिलने के बाद स्वयं ग्रहण करते थे। दोपहर में वे वेद, वेदांत, उपनिषद्, शास्त्र ग्रन्थों का अध्ययन करते थे। उसके बाद फिर नाम जप करते थे। उन्होंने 13 करोड़ राम नाम जप 12 वर्षों में किया। ऐसा कठोर तप उन्होंने 12 वर्षों तक किया। इसी समय में उन्होंने स्वयं एक रामायण लिखा। यही पर प्रभु रामचन्द्र की जो प्रार्थनायें उन्होंने रची हैं, वह वह 'करुणाष्टक' नाम से प्रसिद्ध है। तप करने के बाद उन्हें आत्म साक्षात्कार हुआ, तब उनकी आयु 24 वर्षों की थी। टाकली में ही समर्थ रामदास जी प्रथम हनुमान का मंदिर स्थापित किया।

तीर्थयात्रा और भारतभ्रमण

आत्मसाक्षात्कार होने के बाद समर्थ रामदास तीर्थयात्रा पर निकल पड़े। 12 वर्ष तक वे भारतवर्ष का भ्रमण करते रहे। घुमते-घुमते वे हिमालय आये। हिमालय का पवित्र वातावरण देखने के बाद मूलतः विरक्त स्वभाव के रामदास जी के मन का वैराग्यभाव जागृत हो गया। अब आत्मसाक्षात्कार हो गया, ईश्वर दर्शन हो गया, तो इस देह को धारण करने की क्या जरुरत है? ऐसा विचार उनके मन में आया। उन्होंने खुद को 1000 फीट से मंदाकिनी नदी में झोंक दिया। लेकिन उसी समय प्रभुराम ने उन्हें ऊपर ही उठा लिया और धर्म-कार्य करने की आज्ञा दी। अपने शरीर को धर्म के लिए अर्पित करने का निश्चय उन्होंने कर दिया। तीर्थ यात्रा करते हुए वे श्रीनगर आए।

वहाँ उनकी भेंट सिखों के छठे गुरु श्री गुरु हरगोविंद जी महाराज से हुई। गुरु हरगोविंद जी महाराज ने उन्हें धर्म रक्षा हेतु शस्त्र सज्ज रहने का मार्गदर्शन किया। इस प्रवास में उन्होंने जनता की जो दुर्दशा देखी उससे उनका हृदय संतप्त हो उठा। उन्होंने मोक्षसाधना के साथ ही अपने जीवन का लक्ष्य स्वराज्य की स्थापना द्वारा आततायी शासकों के अत्याचारों से जनता को मुक्ति दिलाना बनाया। शासन के विरुद्ध जनता को संगठित होने का उपदेश देते हुए वे घूमने लगे। इसी प्रयत्न में उन्हें छत्रपति श्री शिवाजी महाराज जैसे योग्य शिष्य का लाभ हुआ और स्वराज्य स्थापना के स्वप्न को साकार होते हुए देखने का सौभाग्य उन्हें अपने जीवनकाल में ही प्राप्त हो सका। उन्होंने शके 1603 में 73 वर्ष की अवस्था में महाराष्ट्र में सज्जनगढ़ नामक स्थान पर समाधि ली।

शिष्यमंडळ

- कल्याण स्वामी
- उद्धव स्वामी
- दत्तात्रय स्वामी
- आचार्य गोपालदास
- भीम स्वामी
- दिनकर स्वामी
- केशव स्वामी
- हणमंत स्वामी
- रघुनाथ स्वामी
- रंगनाथ स्वामी
- भोळाराम
- वेणा बाई
- आक्का बाई
- अनंतबुवा मेथवडेकर
- दिवाकर स्वामी
- वासुदेव स्वामी
- गिरिधर स्वामी
- मेरु स्वामी
- अनंत कवी
- वैष्णव दास
- प्रभु दर्शन।

बचपन में ही उन्हें साक्षात प्रभु रामचंद्रजी के दर्शन हुए थे। इसलिए वे अपने आपको रामदास कहलाते थे। रामदास स्वामी ने बहुत से ग्रंथ लिखे। इसमें 'दासबोध' प्रमुख है। इसी प्रकार उन्होंने हमारे मन को भी संस्कारित किया 'मनाचे श्लोक' द्वारा।

अंतिम समय

अपने जीवन का अंतिम समय उन्होंने सातारा के पास परळी के किले पर व्यतीत किया। इस किले का नाम सज्जनगढ़ पड़ा। तमिलनाडु प्रान्त के तंजावर ग्राम में रहने वाले 'अरणिकर' नाम के अंध कारीगर ने प्रभु श्री रामचंद्र जी, माता

सीता जी, लक्ष्मण जी कि मूर्ति बनाकर सज्जनगढ़ को भेज दी। इसी मूर्ति के सामने समर्थजी ने अंतिम पांच दिन निर्जल उपवास किया। और पूर्वसूचना देकर माघ वद्य नवमी शालिवाहन शक 1603 सन् 1682 को रामनाम जाप करते हुए पद्मासन में बैठकर ब्रह्मलीन हो गए। वहीं उनकी समाधि स्थित है। यह समाधी दिवस 'दासनवमी' के नाम से जाना जाता हैं। यहाँ पर दास नवमी पर 2 से 3 लाख भक्त दर्शन के लिए आते हैं।

प्रतिवर्ष समर्थ रामदास स्वामी के भक्त भारत के विभिन्न प्रांतों में 2 माह का दौरा निकालते हैं और दौरे में मिली भिक्षा से सज्जनगढ़ की व्यवस्था चलती है।

व्यक्तित्त्व

समर्थ जी का व्यक्तित्त्व भक्ति ज्ञान वैराग्य से ओतप्रोत था। मुखमण्डल पर दाढ़ी तथा मस्तक पर जटाएं, भालप्रदेश पर चन्दन का टिका रहता था। उनके कंधे पर भिक्षा के लिए झोली रहती थी। एक हाथ में जपमाला और कमण्डलु तथा दूसरे हाथ में योगदण्ड (कुबड़ी) होती थी। पैरोंमें लकड़ी की पादुकाएँ धारण करते थे। योगशास्त्र के अनुसार उनकी भूचरी मुद्रा थी। मुख में सदैव रामनाम का जाप चलता था और बहुत कम बोलते थे। वे संगीत के उत्तम जानकार थे। उन्होनें अनेको रागो में गायी जानेवाली रचनाएं की हैं। आप प्रतिदिन 1200 सूर्यनमस्कार लगाते थे, इस कारण शरीर अत्यंत बलवान था। जीवन के अंतिम कुछ वर्ष छोड़कर पूरे जीवम में वे कभी एक जगह पर नहीं रुके। उनका वास्तव्य दुर्गम गुफाएं, पर्वत शिखर, नदी के किनारें तथा घने अरण्य में रहता था। ऐसा समकालीन ग्रंथ में उल्लेख है।

ग्रन्थरचना

समर्थ रामदास जी ने दासबोध, आत्माराम, मनोबोध आदि ग्रंथों की रचना है। समर्थ जी का प्रमुख ग्रन्थ 'दासबोध' गुरुशिष्य संवाद रूप में है। यह ग्रंथराज उन्होनें अपने परमशिष्य योगिराज कल्याण स्वामी के हाथों से महाराष्ट्र के 'शिवथर घल (गुफा)' नामक रम्य एवं दुर्गम गुफा में लिखवाया। इसके साथ उनके द्वारा रची गयी 90 से अधिक आरतियाँ महारष्ट्र के घर-घर में गायी जातीं हैं। आपने सैंकड़ो 'अभंग' भी लिखें हैं। समर्थजी स्वयं अद्वैत वेदांति एवं भक्तिमार्गी संत थे किन्तु उन्होंने तत्कालीन समाज कि अवस्था देखकर ग्रंथों में

राजनीति, प्रपंच, व्यवस्थापन शास्त्र, इत्यादि अनेको विषयों का मार्गदर्शन किया है। समर्थ जी ने सरल प्रवाही शब्दो में देवी देवताओं के 100 से अधिक के स्रोत्र लिखें हैं। इन स्तोत्र एवं आरतियोंमें भक्ति, प्रेम एवं वीररस का आविष्करण है।। आत्माराम, मानपंचक, पंचीकरण, चतुर्थमान, बाग प्रकरण, स्फूट अभंग इत्यादि समर्थ जी कि अन्य रचनाएं हैं। यह सभी रचनाएं मराठी भाषा के 'ओवी 'नामक छंद में हैं।

कार्य

समर्थ रामदास जी ने अपने शिष्यों के द्वारा समाज में एक चैतन्यदायी संगठन खड़ा किया। उन्होनें सतारा जिले में 'चाफल ' नाम के एक गाँव में भव्य श्रीराम मंदिर का निर्माण किया। यह मंदिर निर्माण केवल भिक्षा के आधार पर किया। कश्मीर से कन्याकुमारी तक उन्होंने 1100 मठ तथा अखाड़े स्थापित कर स्वराज्यस्थापना के लिए जनता को तैयार करने का प्रयत्न किया। शक्ति एवं भक्ति के आदर्श श्री हनुमान जी कि मूर्तियां उन्होनें गाँव-गाँव में स्थापित की। आपने अपने सभी शिष्यों को विभिन्न प्रांतों में भेजकर भक्तिमार्ग तथा कर्मयोग की सिख जनजन में प्रचारित करने की आज्ञा की। युवाओं को बलसम्पन्न करने हेतु आपने सूर्यनमस्कार का प्रचार किया। समर्थजी नें 350 वर्ष पहले संत वेणा स्वामी जैसी विधवा महिला को मठपति का दायित्व देकर कीर्तन का अधिकार दिया। समर्थ रामदास जी के भक्तों एवं अनुयायियों को ' रामदासी' कहते हैं। समर्थजी द्वारा स्थापित सम्प्रदाय को 'समर्थ सम्प्रदाय ' अथवा 'रामदासी सम्प्रदाय कहते हैं। 'जय जय रघुवीर समर्थ ' यह सम्प्रदाय का जयघोष है तथा 'श्रीराम जय राम जय जय राम ' जपमन्त्र है। समर्थ जी की विचारधारा तथा कार्य का प्रभाव लोकमान्य तिलक, स्वातंत्र्यवीर सावरकर, डॉ. केशव बलिराम हेडगेवार आदि महान नेताओं पर था।

13

सूरदास

सूरदास हिन्दी साहित्य में भक्तिकाल में कृष्ण भक्ति के भक्त कवियों में अग्रणी है। महाकवि सूरदास जी वात्सल्य रस के सम्राट माने जाते हैं। उन्होंनेश्रृंगार और शान्त रसों का भी बड़ा मर्मस्पर्शी वर्णन किया है। उनका जन्म मथुरा-आगरा मार्ग पर स्थित रुनकता नामक गांव में हुआ था। कुछ लोगों का कहना है कि सूरदास जी का जन्म सीही नामक ग्राम में एक निर्धन सारस्वत ब्राह्मण परिवार में हुआ था। बाद में वह आगरा और मथुरा के बीच गऊघाट पर आकर रहने लगे थे। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी के मतानुसार सूरदास का जन्म संवत् 1540 विक्रमी के सन्निकट और मृत्यु संवत् 1620 विक्रमी के आस-पास मानी जाती है। सूरदास जी के पिता रामदास गायक थे। सूरदास जी के जन्मांध होने के विषय में भी मतभेद हैं। आगरा के समीप गऊघाट पर उनकी भेंट वल्लभाचार्य से हुई और वे उनके शिष्य बन गए। वल्लभाचार्य ने उनको पुष्टिमार्ग में दीक्षा दे कर कृष्णलीला के पद गाने का आदेश दिया। सूरदास जी अष्टछाप कवियों में एक थे। सूरदास जी की मृत्यु गोवर्धन के पास पारसौली ग्राम में 1563 ईस्वी में हुई।

ऐतिहासिक उल्लेख

सूरदास के बारे में 'भक्तमाल' और 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में थोड़ी-बहुत जानकारी मिल जाती है। 'आईना-ए-अकबरी' और 'मुंशियात अब्बुलफजल' में भी किसी संत सूरदास का उल्लेख है, किन्तु वे बनारस के

कोई और सूरदास प्रतीत होते हैं। जनुश्रुति यह अवश्य है कि अकबर बादशाह सूरदास का यश सुनकर उनसे मिलने आए थे। 'भक्तमाल' में इनकी भक्ति, कविता एवं गुणों की प्रशंसा है तथा इनकी अंधता का उल्लेख है। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' के अनुसार वे आगरा और मथुरा के बीच साधु के रूप में रहते थे। वे वल्लभाचार्य के दर्शन को गए और उनसे लीलागान का उपदेश पाकर कृष्ण-चरित विषयक पदों की रचना करने लगे। कालांतर में श्रीनाथ जी के मंदिर का निर्माण होने पर महाप्रभु वल्लभाचार्य ने इन्हें यहाँ कीर्तन का कार्य सौंपा। सूरदास के विषय में कहा जाता है कि वे जन्मांध थे। उन्होंने अपने को 'जन्म को आँधर' कहा भी है। किन्तु इसके शब्दार्थ पर अधिक नहीं जाना चाहिए। सूर के काव्य में प्रकृतियाँ और जीवन का जो सूक्ष्म सौन्दर्य चित्रित है उससे यह नहीं लगता कि वे जन्मांध थे। उनके विषय में ऐसी कहानी भी मिलती है कि तीव्र अंतद्वन्द्व के किसी क्षण में उन्होंने अपनी आँखें फोड़ ली थीं। उचित यही मालूम पड़ता है कि वे जन्मांध नहीं थे। कालांतर में अपनी आँखों की ज्योति खो बैठे थे। सूरदास अब अंधों को कहते हैं। यह परम्परा सूर के अंधे होने से चली है। सूर का आशय 'शूर' से है। शूर और सती मध्यकालीन भक्त साधकों के आदर्श थे।

जन्म विवरण

गोस्वामी हरिराय के 'भाव प्रकाश' के अनुसार सूरदास का जन्म दिल्ली के पास सीही नाम के गाँव में एक अत्यन्त निर्धन सारस्वत ब्राह्मण परिवार में हुआ था। उनके तीन बड़े भाई थे। सूरदास जन्म से ही अन्धे थे किन्तु सगुन बताने की उनमें अद्‌भुत शक्ति थी। 6 वर्ष की अवस्था में ही उन्होंने अपनी सगुन बताने की विद्या से माता-पिता को चकित कर दिया था। किन्तु इसी के बाद वे घर छोड़कर चार कोस दूर एक गाँव में तालाब के किनारे रहने लगे थे। सगुन बताने की विद्या के कारण शीघ्र ही उनकी ख्याति हो गयी। गानविद्या में भी वे प्रारम्भ से ही प्रवीण थे। शीघ्र ही उनके अनेक सेवक हो गये और वे 'स्वामी' के रूप में पूजे जाने लगे। 18 वर्ष की अवस्था में उन्हें पुनः विरक्ति हो गयी। और वे यह स्थान छोड़कर आगरा और मथुरा के बीच यमुना के किनारे गऊघाट पर आकर रहने लगे।

सूरदास का जन्म कब हुआ, इस विषय में पहले उनकी तथाकथित रचनाओं, 'साहित्य लहरी' और सूरसागर सारावली के आधार पर अनुमान लगाया गया था और अनेक वर्षों तक यह दोहराया जाता रहा कि उनका जन्म संवत

1540 विक्रमी (सन 1483 ई.) में हुआ था परन्तु विद्वानों ने इस अनुमान के आधार को पूर्ण रूप में अप्रमाणिक सिद्ध कर दिया तथा पुष्टि-मार्ग में प्रचलित इस अनुश्रुति के आधार पर कि सूरदास श्री मद्वल्लभाचार्य से 10 दिन छोटे थे, यह निश्चित किया कि सूरदास का जन्म वैशाख शुक्ल पक्ष पंचमी, संवत 1535 वि. (सन 1478 ई.) को हुआ था। इस साम्प्रदायिक जनुश्रुति को प्रकाश में लाने तथा उसे अन्य प्रमाणों में पुष्ट करने का श्रेय डा. दीनदयाल गुप्त को है। जब तक इस विषय में कोई अन्यथा प्रमाण न मिले, हम सूरदास की जन्म-तिथि को यही मान सकते हैं। सूरदास के विषय में आज जो भी ज्ञात है, उसका आधार मुख्यतया 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' ही है। उसके अतिरिक्त पुष्टिमार्ग में प्रचलित अनुश्रुतियाँ जो गोस्वामी हरिराय द्वारा किये गये उपर्युक्त वार्ता के परिवर्द्धनों तथा उस पर लिखी गयी 'भावप्रकाश' नाम की टीका और गोस्वामी यदुनाथ द्वारा लिखित 'वल्लभ दिग्विजय' के रूप में प्राप्त होती है। सूरदास के जीवनवृत्त की कुछ घटनाओं की सूचना देती है। नाभादास के 'भक्तमाल' पर लिखित प्रियादास की टीका, कवि मियासिंह के 'भक्त विनोद', ध्रुवदास की 'भक्तनामावली' तथा नागरीदास की 'पदप्रसंगमाला' में भी सूरदास सम्बन्धी अनेक रोचक अनुश्रुतियाँ प्राप्त होती हैं, परन्तु विद्वानों ने उन्हें विश्वसनीय नहीं माना है। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' से ज्ञात होता है कि प्रसिद्ध मुगल सम्राट् अकबर ने सूरदास से भेंट की थी परन्तु यह आश्चर्य की बात है कि उस समय के किसी फारसी इतिहासकार ने 'सूरसागर' के रचयिता महान भक्त कवि सूरदास का कोई उल्लेख नहीं किया।

इसी युग के अन्य महान भक्त कवि तुलसीदास का भी मुगलकालीन इतिहासकारों ने उल्लेख नहीं किया। अकबरकालीन प्रसिद्ध इतिहासग्रन्थों-आईने अकबरी', 'मुंशि आते-अबुलफजल' और 'मुन्तखबुत्तवारीख' में सूरदास नाम के दो व्यक्तियों का उल्लेख हुआ है, परन्तु ये दोनों प्रसिद्ध भक्त कवि सूरदास से भिन्न हैं। 'आईने अकबरी' और 'मुन्तखबुत्तवारीख' में अकबरी दरबार के रामदास नामक गवैया के पुत्र सूरदास का उल्लेख है। ये सूरदास अपने पिता के साथ अकबर के दरबार में जाया करते थे। 'मुंशिआते-अबुलफजल' में जिन सूरदास का उल्लेख है, वे काशी में रहते थे, अबुलफजल ने अनेक नाम एक पत्र लिखकर उन्हें आश्वासन दिया था कि काशी के उस करोड़ी के स्थान पर जो उन्हें क्लेश देता है, नया करोड़ी उन्हीं की आज्ञा से नियुक्त किया जायगा। कदाचित ये सूरदास मदनमोहन नाम के एक अन्य भक्त थे।

जाति

सूरदास की जाति के सम्बन्ध में भी बहुत वाद-विवाद हुआ है। 'साहित्य लहरी' के उपर्युक्त पद के अनुसार कुछ समय तक सूरदास को भट्ट या ब्रह्मभट्ट माना जाता रहा। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने इस विषय में प्रसन्नता प्रकट की थी कि सूरदास महाकवि चन्दबरदाई के वंशज थे किन्तु बाद में अधिकतर पुष्टिमार्गीय स्रोतों के आधार पर यह प्रसिद्ध हुआ कि वे सारस्वत ब्राह्मण थे। बहुत कुछ इसी आधार पर 'साहित्य लहरी' का वंशावली वाला पद अप्रामाणिक माना गया। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में मूलत: सूरदास की जाति के विषय में कोई उल्लेख नहीं था परन्तु गोसाई हरिराय द्वारा बढ़ाये गये 'वार्ता' के अंश में उन्हें सारस्वत ब्राह्मण कहा गया है। उनके सारस्वत ब्राह्मण होने के प्रमाण पुष्टिमार्ग के अन्य वार्ता साहित्य से भी दिये गये है। अत: अधिकतर यही माना जाने लगा है कि सूरदास सारस्वत ब्राह्मण थे यद्यपि कुछ विद्वानों को इस विषय में अब भी सन्देह है। डॉ. मंशीराम शर्मा ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि सूरदास ब्रह्मभट्ट ही थे। यह सम्भव है कि ब्रह्मभट्ट होने के नाते ही वे परम्परागत कवि-गायकों के वंशज होने का कारण सरस्वती पुत्र और सारस्वत नाम से विख्यात हो गये हों। अन्त: साक्ष्य से सूरदास के ब्राह्मण होने का कोई संकेत नहीं मिलता बल्कि इसके विपरीत अनेक पदों में उन्होंने ब्राह्मणों की हीनता का उल्लेख किया है। इस विषय में श्रीधर ब्राह्मण के अंग-भंग तथा महराने के पाँड़ेवाले प्रसंग दृष्टव्य हैं। ये दोनों प्रसंग 'भागवत' से स्वतन्त्र सूरदास द्वारा कल्पित हुए जान पड़ते हैं। इनमें सूरदास ने बड़ी निर्ममता पूर्वक ब्राह्मणत्व के प्रति निरादर का भाव प्रकट किया है। अजामिल तथा सुदामा के प्रसंगों में भी उनकी उच्च जाति का उल्लेख करते हुए सूर ने ब्राह्मणत्व के साथ कोई ममता नहीं प्रकट की। इसके अतिरिक्त सम्पूर्ण 'सूरसागर' में ऐसा कोई संकेत नहीं मिलता, जिससे इसका किंचित् भी आभास मिल सके कि सूर ब्राह्मण जाति के सम्बन्ध में कोई आत्मीयता का भाव रखते थे। वस्तुत: जाति के सम्बन्ध में वे पूर्ण रूप से उदासीन थे। दानलीला के एक पद में उन्होंने स्पष्ट रूप में कहा है कि कृष्ण भक्ति के लिए उन्होंने अपनी जाति ही छोड़ दी थी। वे सच्चे अर्थों में हरिभक्तों की जाति के थे, किसी अन्य जाति से उनका कोई सम्बन्ध नहीं था।

काल-निर्णय

सूरदास की जन्म-तिथि तथा उनके जीवन की कुछ अन्य मुख्य घटनाओं के काल-निर्णय का भी प्रयत्न किया गया है। इस आधार पर कि गऊघाट पर

भेंट होने के समय वल्लभाचार्य गद्दी पर विराजमान थे, यह अनुमान किया गया है। कि उनका विवाह हो चुका था क्योंकि ब्रह्मचारी का गद्दी पर बैठना वर्जित है। वल्लभाचार्य का विवाह संवत 1560-61 (सन 1503-1504 ई.) में हुआ था, अतः यह घटना इसके बाद की है।

'वल्लभ दिग्विजय' के अनुसार यह घटना संवत 1567 विक्रमी के (सन 1510 ई.) आस-पास की है। इस प्रकार सूरदास 30-32 वर्ष की अवस्था में पुष्टिमार्ग में दीक्षित हुए होंगे। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' से सूचित होता है कि सूरदास को गोसाई विट्ठलनाथ का यथेष्ट सत्संग प्राप्त हुआ था। गोसाई जी संवत 1628 विक्रमी (सन् 1571 ई.) में स्थायी रूप से गोकुल में रहने लगे थे। उनका देहावसान संवत 1642 विक्रमी (सन् 1585 ई.) में हुआ। 'वार्ता' से सूचित होता है कि सूरदास को देहावसान गोसाई जी के सामने ही हो गया था। सूरदास ने गोसाई जी के सत्संग का एकाध स्थल पर संकेत करते हुए ब्रज के जिस वैभवपूर्ण जीवन का वर्णन किया है, उससे विदित होता है कि गोसाई जी को सूरदास के जीवनकाल में ही सम्राट अकबर की ओर से वह सुविधा और सहायता प्राप्त हो चुकी थी, जिसका उल्लेख संवत 1634 (सन् 1577 ई.) तथा संवत 1638 विक्रमी (सन् 1581 ई.) के शाही फरमानों में हुआ है। अतः यह अनुमान किया जा सकता है कि सूरदास संवत 1638 (सन 1581 ई.) या कम-से-कम संवत 1634 विक्रमी के बाद तक जीवित रहे होंगे। मौटे तौर पर कहा जा सकता है कि वे संवत 1640 विक्रमी अथवा सन् 1582-83 ई. के आस-पास गोकुलवासी हुए होंगे। इन तिथियों के आधार पर भी उनका जन्म संवत 1535 विक्रमी (सन् 1478 ई.) के आस-पास पड़ता है क्योंकि वे 30-32 वर्ष की अवस्था में पुष्टिमार्ग में दीक्षित हुए थे। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में अकबर और सूरदास की भेंट का वर्णन हुआ है। गोसाई हरिराय के अनुसार यह भेंट तानसेन ने करायी थी। तानसेन संवत 1621 (सन् 1564 ई.) में अकबर के दरबार में आये थे। अकबर के राज्य काल की राजनीतिक घटनाओं पर विचार करते हुए यह अनुमान किया जा सकता है कि वे संवत 1632-33 (सन् 1575-76 ई.) के पहले सूरदास से भेंट नहीं कर पाये होंगे। क्योंकि संवत 1632 में (सन् 1575 ई.) उन्होंने फतेहपुर सीकरी में इबादतखाना बनवाया था तथा संवत 1633 (सन् 1576 ई.) तक वे उत्तरी भारत के साम्राज्य को पूर्ण रूप में अपने अधीन कर उसे संगठित करने में व्यस्त रहे थे। गोसाई विट्ठलनाथ से भी अकबर ने इसी समय के आस-पास भेंट की थी।

वल्लभाचार्य

'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में सूर का जीवनवृत्त गऊघाट पर हुई वल्लभाचार्य से उनकी भेंट के साथ प्रारम्भ होता है। गऊघाट पर भी उनके अनेक सेवक उनके साथ रहते थे तथा 'स्वामी' के रूप में उनकी ख्याति दूर-दूर तक फैल गयी थी। कदाचित इसी कारण एक बार अरैल से जाते समय वल्लभाचार्य ने उनसे भेंट की और उन्हें पुष्टिमार्ग में दीक्षित किया। 'वार्ता' में वल्लभाचार्य और सूरदास के प्रथम भेंट का जो रोचक वर्णन दिया गया है, उससे व्यंजित होता है कि सूरदास उस समय तक कृष्ण की आनन्दमय ब्रजलीला से परिचित नहीं थे और वे वैराग्य भावना से प्रेरित होकर पतितपावन हरि की दैन्यपूर्ण दास्यभाव की भक्ति में अनुरक्त थे और इसी भाव के विनयपूर्ण पद रच कर गाते थे। वल्लभाचार्य ने उनका 'धिधियाना' (दैन्य प्रकट करना) छुड़ाया और उन्हें भगवद्-लीला से परिचत कराया। इस विवरण के आधार पर कभी-कभी यह कहा जाता है कि सूरदास ने विनय के पदों की रचना वल्लभाचार्य से भेंट होने के पहले ही कर ली होगी परन्तु यह विचार भ्रमपूर्ण है। वल्लभाचार्य द्वारा 'श्रीमद् भागवत' में वर्णित कृष्ण की लीला का ज्ञान प्राप्त करने के उपरान्त सूरदास ने अपने पदों में उसका वर्णन करना प्रारम्भ कर दिया। 'वार्ता' में कहा गया है कि उन्होंने 'भागवत' के द्वादश स्कन्धों पर पद-रचना की। उन्होंने 'सहस्रावधि' पद रचे, जो 'सागर' कहलाये। वल्लभाचार्य के संसर्ग से सूरदास को 'माहात्म्यज्ञान पूर्वक प्रेम भक्ति' पूर्णरूप में सिद्ध हो गयी। वल्लभाचार्य ने उन्हें गोकुल में श्रीनाथ जी के मन्दिर पर कीर्तनकार के रूप में नियुक्त किया और वे आजन्म वहीं रहे।

अकबर

सूरदास की पद-रचना और गान-विद्या की ख्याति सुनकर देशाधिपति अकबर ने उनसे मिलने की इच्छा की। गोस्वामी हरिराय के अनुसार प्रसिद्ध संगीतकार तानसेन के माध्यम से अकबर और सूरदास की भेंट मथुरा में हुई। सूरदास का भक्तिपूर्ण पद-गान सुनकर अकबर बहुत प्रसन्न हुए किन्तु उन्होंने सूरदास से प्रार्थना की कि वे उनका यशगान करें परन्तु सूरदास ने 'नार्हिन रहयो मन में ठौर' से प्रारम्भ होने वाला पद गाकर यह सूचित कर दिया कि वे केवल कृष्ण के यश का वर्णन कर सकते हैं, किसी अन्य का नहीं। इसी प्रसंग में 'वार्ता' में पहली बार बताया गया है कि सूरदास अन्धे थे। उपर्युक्त पर के अन्त में 'सूर

से दर्श को एक मरत लोचन प्यास' शब्द सुनकर अकबर ने पूछा कि तुम्हारे लोचन तो दिखाई नहीं देते, प्यासे कैसे मरते हैं।

'वार्ता' में सूरदास के जीवन की किसी अन्य घटना का उल्लेख नहीं है, केवल इतना बताया गया है कि वे भगवद्भक्तों को अपने पदों के द्वारा भक्ति का भावपूर्ण सन्देश देते रहते थे। कभी-कभी वे श्रीनाथ जी के मन्दिर से नवनीत प्रिय जी के मन्दिर भी चले जाते थे किन्तु हरिराय ने कुछ अन्य चमत्कारपूर्ण रोचक प्रसंगों का उल्लेख किया है, जिनसे केवल यह प्रकट होता है कि सूरदास परम भगवदीय थे और उनके समसामयिक भक्त कुम्भनदास, परमानन्ददास आदि उनका बहुत आदर करते थे। 'वार्ता' में सूरदास के गोलोकवास का प्रसंग अत्यन्त रोचक है। श्रीनाथ जी की बहुत दिनों तक सेवा करने के उपरान्त जब सूरदास को ज्ञात हुआ कि भगवान की इच्छा उन्हें उठा लेने की है तो वे श्रीनाथ जी के मन्दिर में पारसौली के चन्द्र सरोवर पर आकर लेट गये और दूर से सामने ही फहराने वाली श्रीनाथ जी की ध्वजा का ध्यान करने लगे।

विवेकशील और चिन्तनशील व्यक्तित्त्व

सूरदास के काव्य से उनके बहुश्रुत, अनुभव सम्पन्न, विवेकशील और चिन्तनशील व्यक्तित्त्व का परिचय मिलता है। उनका हृदय गोप बालकों की भाँति सरल और निष्पाप, ब्रज गोपियों की भाँति सहज संवेदनशील, प्रेम-प्रवण और माधुर्यपूर्ण तथा नन्द और यशोदा की भाँति सरल-विश्वासी, स्नेह-कातर और आत्म-बलिदान की भावना से अनुप्रमाणित था। साथ ही उनमें कृष्ण जैसी गम्भीरता और विदग्धता तथा राधा जैसी वचन-चातुरी और आत्मोत्सर्गपूर्ण प्रेम विवशता भी थी। काव्य में प्रयुक्त पात्रों के विविध भावों से पूर्ण चरित्रों का निर्माण करते हुए वस्तुतः उन्होंने अपने महान व्यक्तित्त्व की ही अभिव्यक्ति की है। उनकी प्रेम-भक्ति के सख्य, वात्सल्य और माधुर्य भावों का चित्रण जिन आंख्य संचारी भावों, अनगिनत घटना-प्रसंगों बाह्य जगत् प्राकृतिक और सामाजिक-के अनन्त सौन्दर्य चित्रों के आश्रय से हुआ है, उनके अन्तराल में उनकी गम्भीर वैराग्य-वृत्ति तथा अत्यन्त दीनतापूर्ण आत्म निवेदात्मक भक्ति-भावना की अन्तर्धारा सतत प्रवाहमान रही है, परन्तु उनकी स्वाभाविक विनोदवृत्ति तथा हास्य प्रियता के कारण उनका वैराग्य और दैन्य उनके चित्त की अधिक ग्लानियुक्त और मलिन नहीं बना सका। आत्महीनता की चरम अनुभूति के बीच भी वे उल्लास व्यक्त कर सके। उनकी गोपियाँ विरह की हृदय विदारक वेदना को भी

हास-परिहास के नीचे दबा सकीं। करुण और हास्य का जैसा एकरस रूप सूर के काव्य में मिलता है, अन्यत्र दुर्लभ है। सूर ने मानवीय मनोभावों और चित्तवृत्तियों को, लगता है, निरूशेष कर दिया है। यह तो उनकी विशेषता है ही परन्तु उनकी सबसे बड़ी विशेषता कदाचित यह है कि मानवीय भावों को वे सहज रूप में उस स्तर पर उठा सके, जहाँ उनमें लोकोत्तरता का संकेत मिलते हुए भी उनकी स्वाभाविक रमणीयता अक्षुण्ण ही नहीं बनी रहती, बल्कि विलक्षण आनन्द की व्यंजना करती है। सूर का काव्य एक साथ ही लोक और परलोक को प्रतिबिम्बित करता है।

सूरदास की अन्धता

सामान्य रूप से यह प्रसिद्ध रहा है कि सूरदास जन्मान्ध थे और उन्होंने भगवान् की कृपा से दिव्य-दृष्टि पायी थी, जिसके आधार पर उन्होंने कृष्ण-लीला का आँखों देखा जैसा वर्णन किया। गोसाई हरिराय ने भी सूरदास को जन्मान्ध बताया है। परन्तु उनके जन्मान्ध होने का कोई स्पष्ट उल्लेख उनके पदों में नहीं मिलता। 'चौरासी वार्ता' के मूल रूप में भी इसका कोई संकेत नहीं। जैसा पीछे कहा जा चुका है, उनके अन्धे होने का उल्लेख केवल अकबर की भेंट के प्रसंग में हुआ है। सूरदास के सम्बन्ध में जितनी किंवदान्तियाँ प्रचलित हैं उन सब में उनके अन्धे होने का उल्लेख हुआ है। उनके कुएँ में गिरने और स्वयं कृष्ण के द्वारा उद्धार पाने एवं दृष्टि प्राप्त करने तथा पुनः कृष्ण से अन्धे होने का वरदान माँगने की घटना लोकविश्रुत है। बिल्वमंगल सूरदास के विषय में भी यह चमत्कारपूर्ण घटना कही-सुनी जाती है। इसके अतिरिक्त कवि मियाँसिंह ने तथा महाराज रघुराज सिंह ने भी कुछ चमत्कारपूर्ण घटनाओं का उल्लेख किया है, जिससे उनकी दिव्य-दृष्टि सम्पन्नता की सूचना मिलती है। नाभादास ने भी अपने 'भक्तमाल' में उन्हें दिव्य-दृष्टिसम्पन्न बताया है। निश्चय ही सूरदास एक महान कवि और भक्त होने के नाते असाधारण दृष्टि रखते थे किन्तु उन्होंने अपने काव्य में वाह्य जगत के जैसे नाना रूपों, रंगों और व्यापारों का वर्णन किया है, उससे प्रमाणित होता है कि उन्होंने अवश्य ही कभी अपने चर्म-चक्षुओं से उन्हें देखा होगा। उनका काव्य उनकी निरीक्षण-शक्ति की असाधारण सूक्ष्मता प्रकट करता है क्योंकि लोकमत उनके माहात्म्य के प्रति इतना श्रद्धालु रहा है कि वह उन्हें जन्मान्ध मानने में ही उनका गौरव समझती है, इसलिए इस सम्बन्ध में कोई साक्ष्य नहीं मिलता कि वे किसी परिस्थिति में दृष्टिहीन हो गये थे। हो सकता है कि

वे वृद्धवस्था के निकट दृष्टि-विहीन हो गये हों परन्तु इसकी कोई स्पष्ट सूचना उनके पदों में नहीं मिलती। विनय के पदों में वृद्धावस्था की दुर्दशा के वर्णन के अन्तर्गत चक्षु-विहीन होने का जो उल्लेख हुआ है, उसे आत्मकथा नहीं माना जा सकता, वह तो सामान्य जीवन के एक तथ्य के रूप में कहा गया है।

रचनाएँ

सूरदास जी द्वारा लिखित पाँच ग्रन्थ बताए जाते हैं–

1. सूरसागर,
2. सूरसारावली,
3. साहित्य-लहरी,
4. नल-दमयन्ती,
5. ब्याहलो।

उपरोक्त में अन्तिम दो ग्रंथ अप्राप्य हैं। नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित हस्तलिखित पुस्तकों की विवरण तालिका में सूरदास के 16 ग्रन्थों का उल्लेख है। इनमें सूरसागर, सूरसारावली, साहित्य लहरी, नल-दमयन्ती, ब्याहलो के अतिरिक्त दशमस्कंध टीका, नागलीला, भागवत् गोवर्धन लीला, सूरपचीसी, सूरसागर सार, प्राणप्यारी, आदि ग्रन्थ सम्मिलित हैं। इनमें प्रारम्भ के तीन ग्रंथ ही महत्त्वपूर्ण समझे जाते हैं।

सूर श्याम मंदिर, सूर कुटी, सूर सरोवर, आगरा
मेरो मन अनत कहाँ सुख पावै।
जैसे उड़ि जहाज की पंछी, फिरि जहाज पै आवै।
कमल-नैन को छाँड़ि महातम, और देव को ध्यावै।
परम गंग को छाँड़ि पियासो, दुरमति कूप खनावै।
जिहिं मधुकर अंबुज-रस चाख्यो, क्यों करील-फल भाव।
'सूरदास' प्रभु कामधेनु तजि, छेरी कौन दुहावै।

'सूरसागर' के रचयिता

सूरदास की जीवनी के सम्बन्ध में कुछ बातों पर काफी विवाद और मतभेद है। सबसे पहली बात उनके नाम के सम्बन्ध में है। 'सूरसागर' में जिस नाम का सर्वाधिक प्रयोग मिलता है, वह सूरदास अथवा उसका संक्षिप्त रूप सूर ही है। सूर और सूरदास के साथ अनेक पदों में स्याम, प्रभु और स्वामी का प्रयोग

भी हुआ है, परन्तु सूर-स्याम, सूरदास स्वामी, सूर-प्रभु अथवा सूरदास-प्रभु को कवि की छाप न मानकर सूर या सूरदास छाप के साथ स्याम, प्रभु या स्वामी का समास समझना चाहिये। कुछ पदों में सूरज और सूरजदास नामों का भी प्रयोग मिलता है, परन्तु ऐसे पदों के सम्बन्ध में निश्चत पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि वे सूरदास के प्रामाणिक पद हैं अथवा नहीं। 'साहित्य लहरी' के जिस पद में उसके रचयिता ने अपनी वंशावली दी है, उसमें उसने अपना असली नाम सूरजचन्द बताया है, परन्तु उस रचना अथवा कम-से-कम उस पद की प्रामाणिकता स्वीकार नहीं की जाती, निष्कर्षत: 'सूरसागर' के रचयिता का वास्तविक नाम सूरदास ही माना जा सकता है।

सूरसागर

सूरदास की सर्वसम्मत प्रामाणिक रचना 'सूरसागर' है। एक प्रकार से 'सूरसागर' जैसा कि उसके नाम से सूचित होता है, उनकी सम्पूर्ण रचनाओं का संकलन कहा जा सकता है। 'सूरसागर' के अतिरिक्त 'साहित्य लहरी' और 'सूरसागर सारावली' को भी कुछ विद्वान् उनकी प्रामाणिक रचनाएँ मानते हैं, परन्तु इनकी प्रामाणिकता सन्दिग्ध है। सूरदास के नाम से कुछ अन्य तथाकथित रचनाएँ भी प्रसिद्ध हुई हैं, परन्तु वे या तो 'सूरसागर' के ही अंश हैं अथवा अन्य कवियों को रचनाएँ हैं। 'सूरसागर' के अध्ययन से विदित होता है कि कृष्ण की अनेक लीलाओं का वर्णन जिस रूप में हुआ है, उसे सहज ही खण्ड-काव्य जैसे स्वतन्त्र रूप में रचा हुआ भी माना जा सकता है। प्राय: ऐसी लीलाओं को पृथक रूप में प्रसिद्धि भी मिल गयी है। इनमें से कुछ हस्तलिखित रूप में तथा कुछ मुद्रित रूप में प्राप्त होती हैं। उदाहरण के लिए 'नागलीला' जिसमें कालियदमन का वर्णन हुआ है, 'गोवर्धन लीला', जिसमें गोवर्धनधारण और इन्द्र के शरणागमन का वर्णन है, 'प्राण प्यारी' जिसमें प्रेम के उच्चादर्श का पच्चीस दोहों में वर्णन हुआ है, मुद्रित रूप में प्राप्त हैं। हस्तलिखित रूप में 'व्याहलों' के नाम से राधा-कृष्ण विवाहसम्बन्धीप्रसंग, 'सूरसागर सार' नाम से रामकथा और रामभक्ति सम्बन्धी प्रसंग तथा 'सूरदास जी के दृष्टकूट' नाम से कूट-शैली के पद पृथक् ग्रन्थों में मिले हैं। इसके अतिरिक्त 'पद संग्रह', 'दशम स्कन्ध', 'भागवत', 'सूरसाठी', 'सूरदास जी के पद' आदि नामों से 'सूरसागर' के पदों के विविध संग्रह पृथक् रूप में प्राप्त हुए है। ये सभी 'सूरसागर के' अंश हैं। वस्तुत: 'सूरसागर' के छोटे-बड़े हस्तलिखित रूपों के अतिरिक्त उनके प्रेमी भक्तजन समय-समय पर

अपनी-अपनी रुचि के अनुसार 'सूरसागर' के अंशों को पृथक् रूप में लिखते-लिखाते रहे हैं। 'सूरसागर' का वैज्ञानिक रीति से सम्पादित प्रामाणिक संस्करण निकल जाने के बाद ही कहा जा सकता है कि उनके नाम से प्रचलित संग्रह और तथाकथित ग्रन्थ कहाँ तक प्रमाणित है।

विशाल काव्य सर्जन

सूर की रचना परिमाण और गुण दोनों में महान कवियों के बीच अतुलनीय है। आत्माभिव्यंजना के रूप में इतने विशाल काव्य का सर्जन सूर ही कर सकते थे क्योंकि उनके स्वात्ममुं सम्पूर्ण युग जीवन की आत्मा समाई हुई थी। उनके स्वानुभूतिमूलक गीतिपदों की शैली के कारण प्राय: यह समझ लिया गया है कि वे अपने चारों ओर के सामाजिक जीवन के प्रति पूर्ण रूप में सजग नहीं थे परन्तु प्रचारित पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर यदि देखा जाय तो स्वीकार किया जाएगा कि सूर के काव्य में युग जीवन की प्रबुद्ध आत्मा का जैसा स्पन्दन मिलता है, वैसा किसी दूसरे कवि में नहीं मिलेगा।

यह अवश्य है कि उन्होंने उपदेश अधिक नहीं दिये, सिद्धान्तों का प्रतिपादन पण्डितों की भाषा में नहीं किया, व्यावहारिक अर्थात् सांसारिक जीवन के आदर्शों का प्रचार करने वाले सुधारक का बना नहीं धारण किया परन्तु मनुष्य की भावात्मक सत्ता का आदर्शीकृत रूप गढ़ने में उन्होंने जिस व्यवहार बुद्धि का प्रयोग किया है उससे प्रमाणित होता है कि वे किसी मनीषी से पीछे नहीं थे। उनका प्रभाव सच्चे कान्ता सम्मित उपदेश की भाँति सीधे हृदय पर पड़ता है। वे निरे भक्त नहीं थे, सच्चे कवि थे-ऐसे दृष्टा कवि, जो सौन्दर्य के ही माध्यम से सत्य का अन्वेषण कर उसे मूर्त रूप देने में समर्थ होते हैं। युगजीवन का प्रतिबिम्ब होते हुए उसमें लोकोत्तर सत्य के सौन्दर्य का आभास देने की शक्ति महाकवि में ही होती है, निरे भक्त, उपदेशक और समाज सुधारक में नहीं।

सूरदास की जन्मतिथि एवं जन्मस्थान के विषय में विद्वानों में मतभेद है। 'साहित्य-लहरी' सूरदास जी की रचना मानी जाती है। 'साहित्य लहरी' के रचना-काल के सम्बन्ध में निम्न पद मिलता है–

मुनि पुनि के रस लेख।
दसन गौरीनन्द को लिखि सुवल संवत पेख।।

शरीर त्याग

पारसौली वह स्थान है, जहाँ पर कहा जाता है कि कृष्ण ने रासलीला की थी। इस समय सूरदास को आचार्य वल्लभ, श्रीनाथ जी और गोसाई विट्ठलनाथ ने श्रीनाथ जी की आरती करते समय सूरदास को अनुपस्थित पाकर जान लिया कि सूरदास का अन्त समय निकट आ गया है। उन्होंने अपने सेवकों से कहा कि, 'पुष्टिमार्ग का जहाज' जा रहा है, जिसे जो लेना हो ले ले। आरती के उपरान्त गोसाई जी रामदास, कुम्भनदास, गोविंदस्वामी और चतुर्भुजदास के साथ सूरदास के निकट पहुँचे और सूरदास को, जो अचेत पड़े हुए थे, चैतन्य होते हुए देखा। सूरदास ने गोसाई जी का साक्षात् भगवान के रूप में अभिनन्दन किया और उनकी भक्तवत्सलता की प्रशंसा की। चतुर्भुजदास ने इस समय शंका की कि सूरदास ने भगवद्यश तो बहुत गाया, परन्तु आचार्य वल्लभ का यशगान क्यों नहीं किया। सूरदास ने बताया कि उनके निकट आचार्य जी और भगवान में कोई अन्तर नहीं है—जो भगवद्यश है, वही आचार्य जी का भी यश है। गुरु के प्रति अपना भाव उन्होंने 'भरोसो दृढ़ इन चरनन केरो' वाला पद गाकर प्रकट किया। इसी पद में सूरदास ने अपने को 'द्विविध आन्धरो' भी बताया। गोसाई विट्ठलनाथ ने पहले उनके 'चित्त की वृत्ति' और फिर 'नेत्र की वृत्ति' के सम्बन्ध में प्रश्न किया तो उन्होंने क्रमशः 'बलि बलि बलि हों कुमरि राधिका नन्द सुवन जासों रति मानी' तथा 'खंजन नैन रूप रस माते' वाले दो पद गाकर सूचित किया कि उनका मन और आत्मा पूर्णरूप से राधा भाव में लीन है। इसके बाद सूरदास ने शरीर त्याग दिया।

महाकवि सूरदास का स्थान

धर्म, साहित्य और संगीत के सन्दर्भ में महाकवि सूरदास का स्थान न केवल हिन्दी भाषा क्षेत्र, बल्कि सम्पूर्ण भारत में मध्ययुग की महान विभूतियों में अग्रगण्य है। यह सूरदास की लोकप्रियता और महत्ता का ही प्रमाण है कि 'सूरदास' नाम किसी भी अन्धे भक्त गायक के लिए रूढ़-सा हो गया है। मध्ययुग में इस नाम के कई भक्त कवि और गायक हो गये हैं। अपने विषय में मध्ययुग के ये भक्त कवि इतने उदासीन थे कि उनका जीवन-वृत्त निश्चित रूप से पुनः निर्मित करना असम्भवप्राय हैं, परन्तु इतना कहा जा सकता है कि 'सूरसागर' के रचयिता सूरदास इस नाम के व्यक्तियों में सर्वाधिक प्रसिद्ध और

महान थे और उन्हीं के कारण कदाचित यह नाम उपर्युक्त विशिष्ट अर्थ के द्योतक सामान्य अभिधान के रूप में प्रयुक्त होने लगा। ये सूरदास विट्ठलनाथ द्वारा स्थापित अष्टछाप के अग्रणी भक्त कवि थे और पुष्टिमार्ग में उनकी वाणी का आदर बहुत-कुछ सिद्धान्त वाक्य के रूप में होता है।

14

मीराबाई

मीराबाई (1498–1546) सोलहवीं शताब्दी की एक कृष्ण भक्त और कवयित्री थीं। उनकी कविता कृष्ण भक्ति के रंग में रंग कर और गहरी हो जाती है। मीरा बाई ने कृष्ण भक्ति के स्फुट पदों की रचना की है। मीरा कृष्ण की भक्त हैं। उनके गुरु रविदास जी थे तथा रविदास जी के गुरु रामानंद जी थे।

जीवनी

मीराबाई का जन्म राजस्थान में मेवाड़ के निकट चौकड़ी ग्राम में सन् 1498 ई. के आस-पास हुआ था। मेड़ता के नरेश राव दूदा मीरांबाई के दादा थे। वे राव दूदा के छोटे पुत्र रतनसिंह की पुत्री थीं। मीराबाई के पिता का नाम रत्न सिंह था और मीराबाई का विवाह राणा साँगा के पुत्र भोजराज के साथ हुआ था। भोजराज की मृत्यु अचानक हो जाने से मीरा का जीवन अस्तव्यस्त हो गया। वैसे तो मीरा बाल्यकाल से श्री कृष्ण की भक्ति में लीन रहती थी पर पति की मृत्यु के बाद तो वे पूरी तरह से साधु-संतों का सत्संग करने लगीं। मंदिरों में कृष्ण मूर्ति के साथ नाचते-गाते हर एक ने उन्हें देखा। इससे परिवार वाले उनसे रुष्ट हो गए।

कहते हैं इसी कारण से ही उनके देवर ने ही मीरा को विषपान को मजबूर किया किन्तु प्रभु कृपा से उन पर कोई दुष्प्रभाव नहीं पड़ा। मीरा कृष्ण भक्ति में डूबी रहीं मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरों न को, गाती रहीं। मीराबाई की मृत्यु सन् 1546 ई. के आस-पास मानी जाती है।

मीराबाई की रचनाएँ

- गीत गोविन्द टीक
- सोरठा के पद
- राग गोविन्द
- नरसी जी रो मायरो।

मीराबाई की काव्य भाषा

मीरांबाई के कुछ पदों की भाषा पूर्ण रूप से गुजराती है तो कुछ की शुद्ध ब्रजभाषा। कहीं-कहीं पंजाबी का प्रयोग भी दिखाई देता है। शेष पद मुख्य रूप से राजस्थानी में ही पाए जाते हैं, इनमें ब्रजभाषा का भी पुट मिला हुआ ये चार बोलियाँ हैं– राजस्थानी, गुजराती, ब्रजभाषा और पंजाबी। इन बोलियों में मीरांबाई के पदों के उदाहरण भी देखिए–

राजस्थानी

थारी छूँ रमैया मोसूँ नेह निभावो।
थारो कारण सब सुख छोड़या, हमकूँ क्यूँ तरसावौ॥

गुजराती

मुखड़ानी माया लागी रे मोहन प्यारा।
मुखड़ँ में जोयुँ तारू सर्व जग थायुँ खारू॥

पंजाबी

आवदा जांवदा नजर न आवै।
अजब तमाशा इस दा नी॥

ब्रजभाषा

सखी मेरी नींद नसानी हो,
पिय को पंथ निहारत, सिगरी रैन बिहानी हो।
सब सखियन मिलि सीख दई मन एक न मानी हो॥

मीराबाई का भावपक्ष

मीरा भक्तिकालीन कवयित्री थी। सगुण भक्ति धारा में कृष्ण को आराध्य मानकर इन्होंने कविताएँ की।

गोपियों के समान मीरा भी कृष्ण को अपना पति मानकर माधुर्य भाव से उनकी उपासना करती रही।

मीरा के पदों में एक तल्लीनता, सहजता और आत्मसमर्पण का भाव सर्वत्र विद्यमान है।

मीरा ने कुछ पदों में रैदास को गुरू रूप में स्मरण किया है तो कहीं-कहीं तुलसीदास को अपने पुत्रवत स्नेह पात्र बताया है।

मीराबाई का कलापक्ष

मीरा की काव्य भाषा में विविधता दिखला देती है। वे कहीं शुद्ध ब्रजभाषा का प्रयोग करती हैं तो कहीं राजस्थानी बोलियों का सम्मिश्रण कर देती हैं।

मीराबाई को गुजराती कवयित्री माना जाता है क्योंकि उनकी काव्य की भाषा में गुजराती पूर्वी हिन्दी तथा पंजाबी के शब्दों की बहुतायत है पर इनके पदों का प्रभाव पूरे भारतीय साहित्य में दिखला देता है।

इनके पदों में अलंकारों की सहजता और गेयता अद्‌भुत हैं, जो सर्वत्र माधुर्य गुण से ओत-प्रोत हैं।

मीराबाई ने बड़े सहज और सरल शब्दों में अपनी प्रेम पीड़ा को कविता में व्यक्त किया है।

मीराबाई का साहित्य में स्थान

कृष्ण को आराध्य मानकर कविता करने वाली मीराबाई की पदावलियाँ हिन्दी साहित्य के लिए अनमोल हैं। कृष्ण के प्रति मीरा की विरह वेदना सूरदास की गोपियों से कम नहीं है तभी तो सुमित्रानंदन पंत ने लिखा है कि ''मीराबाई राजपूताने के मरूस्थल की मन्दाकिनी हैं।'' 'हेरी मैं तो प्रेम दीवाणी, मेरो दर्द न जाने कोय।' प्रेम दीवाणी मीरा का दरद हिन्दी में सर्वत्र व्याप्त है।

मीराबाई का केन्द्रीय भाव

मीरा के पदों का वैशिष्ट्य उनकी तीव्र आत्मानुभूति में निहित है। मीरा के काव्य का विषय है– श्रीकृष्ण के प्रति उनका अनन्यप्रेम और भक्ति। मीरा ने प्रेम

के मिलन (संयोग) तथा विरह (वियोग) दोनों पक्षों की सुंदर अभिव्यक्ति की है। श्रीकृष्ण के प्रति प्रेम में मीरा किसी भी प्रकार की बाधा या यातना से विकल नहीं होती। लोक का भय अथवा परिवार की प्रताड़ना दोनों का ही वे दृढ़ता के साथ सामना करती हैं।

15

तुकाराम

तुकाराम महाराष्ट्र के एक महान् संत और कवि थे। वे तत्कालीन भारत में चले रहे 'भक्ति आंदोलन' के एक प्रमुख स्तंभ थे। उन्हें 'तुकोबा' भी कहा जाता है। इनके जन्म आदि के विषय में विद्वानों में मतभेद हैं। तुकाराम को चैतन्य नामक साधु ने 'रामकृष्ण हरि' मंत्र का स्वप्न में उपदेश दिया था। इसके उपरांत इन्होंने 17 वर्ष संसार को समान रूप से उपदेश देने में व्यतीत किए। तुकाराम के मुख से समय-समय पर सहज रूप से परिस्फुटित होने वाली 'अभंग' वाणी के अतिरिक्त इनकी अन्य कोई विशेष साहित्यिक कृति उपलब्ध नहीं है। अपने जीवन के उत्तरार्ध में इनके द्वारा गाए गए तथा उसी क्षण इनके शिष्यों द्वारा लिखे गए लगभग 4000 'अभंग' आज उपलब्ध हैं। तुकाराम ने अपनी साधक अवस्था में संत ज्ञानेश्वर और नामदेव, इन पूर्वकालीन संतों के ग्रंथों का गहराई तथा श्रद्धा से अध्ययन किया था। इन तीनों संत कवियों के साहित्य में एक ही आध्यात्म सूत्र पिरोया हुआ है।

प्रारंभिक जीवन

तुकाराम का जन्म पुणे जिले के अंतर्गत देहू नामक ग्राम में शके 1520, सन् 1598 में हुआ। इनकी जन्मतिथि के संबंध में विद्वानों में मतभेद है तथा सभी दृष्टियों से विचार करने पर शके 1520 में जन्म होना ही मान्य प्रतीत होता है। पूर्व के आठवें पुरुष विश्वंभर बाबा से इनके कुल में विट्ठल की उपासना बराबर

चली आ रही थी। इनके कुल के सभी लोग पंढरपुर की यात्रा (वारी) के लिये नियमित रूप से जाते थे। देहू गाँव के महाजन होने के कारण वहाँ इनका कुटूंब प्रतिष्ठित माना जाता था।

इनकी बाल्यावस्था माता कनकाई व पिता बहेबा (बोल्होबा) की देखरेख में अत्यंत दुलार से बीती, किंतु जब ये प्राय: 18 वर्ष के थे इनके मातापिता का स्वर्गवास हो गया तथा इसी समय देश में पड़ा भीषण अकाल के कारण इनकी प्रथम पत्नी व छोटे बालक की भूख के कारण तड़पते हुए मृत्यु हो गई। विपत्तियों की ये बातें झूठी हैं संत तुकाराम उस जमाने में बहुत बडे जमीदार और सावकार थे। तुकाराम का मन प्रपंच से ऊब गया। इनकी दूसरी पत्नी जीजा बाई बड़ी ही कर्कशा थी। ये सांसारिक सुखों से विरक्त हो गए। चित्त को शांति मिले, इस विचार से तुकाराम प्रतिदिन देहू गाँव के समीप भावनाथ नामक पहाड़ी पर जाते और भगवान् विट्ठल के नामस्मरण में दिन व्यतीत करते।

उनका परिवार कुनबी समाज से था। तुकाराम के परिवार का खुद का खुदरा ब्रिक्री और पैसे उधारी पर देने का व्यवसाय था, साथ ही उनका परिवार खेती और व्यापार भी करता था उनके पिता विठोबा के भक्त थे, विठोबा को हिन्दू धर्म में भगवान विष्णु का अवतार माना जाता है। संत तुकाराम की पहली पत्नी राखाम्मा बाई थी और उनसे उनका एक बेटा संतु भी हुआ। जबकि उनके दोनों बेटे और दोनों पत्नियाँ 1630-1932 के अकाल में भूख से मौत हुयी थी।

उनकी मृत्यु और फैल रही गरीबी का सबसे ज्यादा प्रभाव तुकाराम पर गिरा, जो बाद में ध्येय निश्चित कर महाराष्ट्र के सह्याद्री पर्वत श्रुंखला पर ध्यान लगाने चले गये और जाने से पहले उन्होंने लिखा था कि, "उन्हें खुद से चर्चा करनी है।" इसके बाद तुकाराम ने दोबारा शादी की और उनकी दूसरी पत्नी का नाम अवलाई जीजा बाई था। लेकीन इसके बाद उन्होंने अपना ज्यादातर समय पूजा, भक्ति, सामुदायिक कीर्तन और अभंग कविताओ में ही व्यतीत किया।

दुनियादारी निभाते एक आम आदमी संत कैसे बना, साथ ही किसी भी जाति या धर्म में जन्म लेकर उत्कट भक्ति और सदाचार के बल पर आत्मविकास साधा जा सकता है। यह विश्वास आम इंसान के मन में निर्माण करने वाले थे। संत तुकाराम यानी तुकोबा। अपने विचारों, अपने आचरण और अपनी वाणी से अर्थपूर्ण तालमेल साधते अपनी जिंदगी को परिपूर्ण करने वाले तुकाराम जनसामान्य को हमेशा कैसे जीना चाहिए, यही प्रेरणा देते हैं। उनके जीवन में एक

समय ऐसा भी जब वे जिंदगी के पूर्वार्द्ध में आए हादसों से हार कर निराश हो चुके थे।

जिंदगी पर उनका भरोसा उठ चुका था। ऐसे में उन्हें किसी सहारे की बेहद जरूरत थी, लौकिक सहारा तो किसी का था नहीं। इसलिए पाडुरंग पर उन्होंने अपना सारा भार सौंप दिया और साधना शुरू की, जबकि उस वक्त उनके गुरु कोई भी नहीं थे। भक्ति की परपंरा का जतन करके नामदेव भक्ति की अभंग रचना की। दुनियादारी से लगाव छोड़ने की बात भले ही तुकाराम ने कही हो लेकिन दुनियादारी मत करो, ऐसा कभी नहीं कहा। सच कहें तो किसी भी संत ने दुनियादारी छोड़ने की बात की ही नहीं। उल्टे संत नामदेव, एकनाथ ने सही व्यवस्थित तरीके से दुनियादारी निभाई।

यह संत तुकाराम के जीवन की एक कहानी हैं। जब वह महाराष्ट्र में रहते थे। उसी दौरान शिवाजी महाराज ने उन्हें बहुमूल्य वस्तुएं भेंट में भेजी जिनमें हीरे, मोती, स्वर्ण और कई वस्त्र थे। परन्तु संत तुकाराम ने सभी बहुमूल्य वस्तुएं वापस भिजवा दिए और कहा–"हे महाराज ! मेरे लिए यह सब व्यर्थ हैं, मेरे लिए स्वर्ण और मिट्टी में कोई अन्तर नहीं हैं, जब से इस परमात्मा ने मुझे अपने दर्शन दिए हैं मैं स्वत: ही तीनों लोकों का स्वामी बन गया हूँ। यह सब व्यर्थ सामान वापस देता हूँ।" जब यह सन्देश महाराज शिवाजी के पास पहुँचा तब महाराज शिवाजी का मन ऐसे सिद्ध संत से मिलने के लिए व्याकुल हो उठा और उन्होंने उसी वक्त उसने मिलने के लिए प्रस्थान किया।

तुकाराम सांसारिक सुखों से विरक्त होते जा रहे थे। इनकी दूसरी पत्नी 'जीजाबाई' धनी परिवार की पुत्री और बड़ी ही कर्कशा स्वभाव की थी। अपनी पहली पत्नी और पुत्र की मृत्यु के बाद तुकाराम काफी दु:खी थे। अब अभाव और परेशानी का भयंकर दौर शुरू हो गया था। तुकाराम का मन विट्ठल के भजन गाने में लगता, जिस कारण उनकी दूसरी पत्नी दिन-रात ताने देती थी। तुकाराम इतने ध्यान मग्न रहते थे कि एक बार किसी का सामान बैलगाड़ी में लाद कर पहुँचाने जा रहे थे। पहुँचने पर देखा कि गाड़ी में लदी बोरियाँ रास्ते में ही गायब हो गई हैं। इसी प्रकार धन वसूल करके वापस लौटते समय एक गरीब ब्राह्मण की करुण कथा सुनकर सारा रुपया उसे दे दिया।

पिता की मौत के एक वर्ष पश्चात माता कनकाई का स्वर्गवास हुआ। तुकाराम जी पर दु:खों का पहाड़ टूट पड़ा। माँ ने लाडले के लिए क्या नहीं किया था? उसके बाद अठारह बरस की उम्र में ज्येष्ठ बंधु सावजी की पत्नी (भावज)

चल बसी। पहले से ही घर-गृहस्थी में सावजी का ध्यान न था। पत्नी की मृत्यु से वे घर त्यागकर तीर्थयात्रा के लिए निकल गए। जो गए, वापस लौटे ही नहीं। परिवार के चार सदस्यों को उनका बिछोह सहना पड़ा। जहाँ कुछ कमी न थी, वहाँ अपनों की, एक-एक की कमी खलने लगी। तुकाराम जी ने सब्र रखा। वे हिम्मत न हारे। उदासीनता, निराशा के बावजूद उम्र की 20 साल की अवस्था में सफलता से घर-गृहस्थी करने का प्रयास करने लगे।

परंतु काल को यह भी मंजूर न था। एक ही वर्ष में स्थितियों ने प्रतिकूल रूप धारण किया। दक्खिन में बडा अकाल पड़ा। महाभयंकर अकाल समय था 1629 ई. का देरी से बरसात हुई। हुई तो अतिवृष्टि में फसल बह गई। लोगों के मन में उम्मीद की किरण बाकी थी, पर 1630 ई. में बिल्कुल वर्षा न हुई। चारों ओर हाहाकार मच गया। अनाज की कीमतें आसमान छूने लगीं। हरी घास के अभाव में अनेक प्राणी मौत के घाट उतरे। अन्न की कमी सैकड़ों लोगों की मौत का कारण बनी। धनी परिवार मिट्टी चाटने लगे। दुर्दशा का फेर फिर भी समाप्त न हुआ। सन् 1631 ईस्वी में प्राकृतिक आपत्तियाँ चरम सीमा पार कर गईं। अतिवृष्टि तथा बाढ़ की चपेट से कुछ न बचा। अकाल तथा प्रकृति का प्रकोप लगातार तीन साल झेलना पड़ा।

अकाल की इस दुर्दशा का वर्णन महीपति बाबा इस तरह करते हैं–

हुआ अभाव, अनाज-बीज। लोग आठ सेर को मुँहताज।
बादल लौटे बिना गिरे। घास-अभाव में बैल मरे।

भीषण अकाल की चपेट में तुकाराम जी का कारोबार, गृहस्थी समूल नष्ट हुई। पशुधन नष्ट हुआ, साहूकारी डूबी, धंधा चौपट हुआ, सम्मान, प्रतिष्ठा घट गई। ऐसे में प्रथम पत्नी 'रखमाबाई' तथा इकलौता बेटा 'संतोबा' काल के ग्रास बने। आमतौर पर अकाल की स्थिति साहूकार और व्यापारियों के लिए सुनहरा मौका होता है। चीजों का कृत्रिम अभाव निर्माण कर वे अपनी जेबें भरते हैं। पर तुकारामजी ऐसे पत्थरदिल नहीं थे। अपना दु:ख, दुर्दशा भूलकर वे अकाल पीड़ितों की सेवा में, मदद में जुट गए।

अभंग की रचना

अपनी दूसरी पत्नी के व्यवहार और पारिवारिक कलह से तंग आकर तुकाराम नारायणी नदी के उत्तर में 'मानतीर्थ पर्वत' पर जा बैठे और भागवत भजन करने लगे। इससे घबराकर पत्नी ने देवर को भेजकर इन्हें घर बुलवाया और अपने

तरीके से रहने की छूट दे दी। अब तुकाराम ने 'अभंग' रचकर कीर्तन करना आरंभ कर दिया। इसका लोगों पर बड़ा प्रभाव पड़ा। कुछ लोग विरोध भी करने लगे। कहा जाता है कि रामेश्वर भट्ट नामक एक कन्नड़ ब्राह्मण ने इनसे कहा कि तुम 'अभंग' रचकर और कीर्तन करके लोगों को वैदिक धर्म के विरुद्ध बहकाते हो। तुम यह काम बंद कर दो। उसने संत तुकाराम को देहू गांव से निकालने का भी हुक्म जारी करवा दिया। इस पर तुकाराम ने रामेश्वर भट्ट से जाकर कहा कि मैं तो विट्ठ जी की आज्ञा से कविता करता हूँ। आप कहते हैं तो मैं यह काम बंद कर दूँगा। यह कहते हुए उन्होंने स्वरचित अभंगों का बस्ता नदी में डुबा दिया। किन्तु 13 दिन बाद लोगों ने देखा कि जब तुकाराम ध्यान में बैठे थे, उनका बस्ता सूखा ही नदी के ऊपर तैर रहा है। यह सुनकर रामेश्वर भट्ट भी उनका शिष्य हो गया। अभंग छंद में रचित तुकाराम के लगभग 4000 पद प्राप्त हैं। इनका मराठी जनता के हृदय में बड़ा ही सम्मान है। लोग इनका पाठ करते हैं। इनकी रचनाओं में 'ज्ञानेश्वरी' और 'एकनामी भागवत' की छाप दिखाई देती है। काव्य की दृष्टि से भी ये रचनाएँ उत्कृष्ट कोटि की मानी जाती हैं।

अवस्था

तुकाराम का अभंग वाड्मय अत्यंत आत्मपरक होने के कारण उसमें उनके पारमार्थिक जीवन का संपूर्ण दर्शन होता है। कौटुंबिक आपत्तियों से त्रस्त एक सामान्य व्यक्ति किस प्रकार आत्मसाक्षात्कारी संत बन सका, इसका स्पष्ट रूप तुकाराम के अभंगों में दिखलाई पड़ता है। उनमें उनके आध्यात्मिक चरित्र की साकार रूप में तीन अवस्थाएँ दिखलाई पड़ती हैं।

प्रथम अवस्था

प्रथम साधक अवस्था में तुकाराम मन में किए किसी निश्चयानुसार संसार से निवृत तथा परमार्थ की ओर प्रवृत दिखलाई पड़ते हैं।

दूसरी अवस्था

दूसरी अवस्था में ईश्वर साक्षात्कार के प्रयत्न को असफल होते देखकर तुकाराम अत्यधिक निराशा की स्थिति में जीवन यापन करने लगे। उनके द्वारा अनुभूत इस चरम नैराश्य का जो सविस्तार चित्रण अंभंग वाणी में हुआ हैं उसकी हृदयवेधकता मराठी भाषा में सर्वथा अद्वितीय है।

तीसरी अवस्था

किंकर्तव्यमूढ़ता के अंधकार में तुकाराम जी की आत्मा को तड़पानेवाली घोर तमस्विनी का शीघ्र ही अंत हुआ और आत्म साक्षात्कार के सूर्य से आलोकित तुकाराम ब्रह्मानंद में विभोर हो गए। उनके आध्यात्मिक जीवनपथ की यह अंतिम एवं चिरवांछित सफलता की अवस्था थी।

आलोचना

इस प्रकार ईश्वरप्राप्ति की साधना पूर्ण होने के उपरांत तुकाराम के मुख से जो उपदेशवाणी प्रकट हुई वह अत्यंत महत्त्वपूर्ण और अर्थपूर्ण है। स्वभावत: स्पष्टवादी होने के कारण इनकी वाणी में जो कठोरता दिखलाई पड़ती है, उसके पीछे इनका प्रमुख उद्देश्य समाज से दुष्टों का निर्दलन कर धर्म का संरक्षण करना ही था। इन्होंने सदैव सत्य का ही अवलंबन किया और किसी की प्रसन्नता और अप्रसन्नता की ओर ध्यान न देते हुए धर्मसंरक्षण के साथ-साथ पाखंडखंडन का कार्य निरंतर चलाया। दाभिक संत, अनुभवशून्य पोथीपंडित, दुराचारी धर्मगुरु इत्यादि समाजकंटकों की उन्होंने अत्यंत तीव्र आलोचना की है। तुकाराम मन से भाग्यवादी थे अत: उनके द्वारा चित्रित मानवी संसार का चित्र निराशा, विफलता और उद्वेग से रँगा हुआ है, तथापि उन्होंने सांसारिकों के लिये 'संसार का त्याग करो' इस प्रकार का उपदेश कभी नहीं दिया। इनके उपदेश का यही सार है कि संसार के क्षणिक सुख की अपेक्षा परमार्थ के शाश्वत सुख की प्राप्ति के लिये मानव का प्रयत्न होना चाहिए।

काव्य रचना

तुकाराम की अधिकांश काव्य रचना कैबल अभंग छंद में ही है, तथापि उन्होंने रूपकात्मक रचनाएँ भी की हैं। सभी रूपक काव्य की दृष्टि से उत्कृष्ट हैं। इनकी वाणी श्रोताओं के कान पर पड़ते ही उनके हृदय को पकड़ लेने का अद्‌भुत सामर्थ्य रखती है। इनके काव्यों में अलंकारों का या शब्दचमत्कार का प्राचुर्य नहीं है। इनके अभंग सूत्रबद्ध होते हैं। थोड़े शब्दों में महान् अर्थों को व्यक्त करने का इनका कौशल मराठी साहित्य में अद्वितीय है। तुकाराम की आत्मनिष्ठ अभंगवाणी जनसाधारण को भी परम प्रिय लगती है। इसका प्रमुख कारण है कि सामान्य मानव के हृदय में उद्‌भूत होने वाले सुख, दु:ख, आशा, निराशा, राग, लोभ आदि का प्रकटीकरण इसमें दिखलाई पड़ता है। ज्ञानेश्वर, नामदेव आदि संतों

ने भागवत धर्म की पताका को अपने कंधों पर ही लिया था किंतु तुकाराम ने उसे अपने जीवनकाल ही में अधिक ऊँचे स्थान पर फहरा दिया। उन्होंने अध्यात्मज्ञान को सुलभ बनाया तथा भक्ति का डंका बजाते हुए आबाल वृद्धों के लिये सहज सुलभ साध्य ऐसे भक्ति मार्ग को अधिक उज्ज्वल कर दिया।

संत ज्ञानेश्वर द्वारा लिखी गई 'ज्ञानेश्वरी' तथा एकनाथ द्वारा लिखित 'एकनाथी भागवत' के बारकरी संप्रदायवालों के प्रमुख धर्म ग्रंथ हैं। इस वांड्मय की छाप तुकाराम के अंभंगों पर दिखलाई पड़ती हैं। तुकाराम ने अपनी साधक अवस्था में इन पूर्वकालीन संतों के ग्रंथों का गहराई तथा श्रद्धा से अध्ययन किया। इन तीनों संत कवियों के साहित्य में एक ही आध्यात्म सूत्र पिरोया हुआ है तथा तीनों के पारमार्थिक विचारों का अंतरंग भी एकरूप है। ज्ञानदेव की सुमधुर वाणी काव्यालंकार से मंडित है, एकनाथ की भाषा विस्तृत है, पर तुकाराम की वाणी सूत्रबद्ध, अल्पाक्षर, रमणीय तथा मर्मभेदक हैं।

प्रेरणा स्रोत

तुकाराम केवल वारकरी संप्रदाय के ही शिखर नहीं वरन् दुनियाभर के साहित्य में भी उनकी जगह असाधारण है। उनके 'अभंग' अंग्रेजी भाषा में भी अनुवादित हुए हैं। उनका काव्य और साहित्य यानी रत्नों का खघ्जाना है। यही वजह है कि आज 400 साल बाद भी वे आम आदमी के मन में सीधे उतरते हैं। सच कहा जाये तो किसी भी संत ने दुनियादारी छोड़ने की बात की ही नहीं। उल्टे संत नामदेव और एकनाथ ने सही व्यवस्थित तरीके से दुनियादारी निभाई। 'आधी प्रपंच करावा नेटका' तो समर्थ रामदास ने भी कहा है। दुनियादारी वह उचित कर्म है, कर्तव्य है जिसे अच्छी तरह से करना चाहिए, लेकिन उसे करते वक्त औचित्य, विवेक, समभाव रखना होता है। कहाँ रुकना है, यह मालूम होना चाहिए। भक्ति भी दुनिया में रहते हुए ही करना चाहिए। दुनियादारी के लिए तुकोबा कहते हैं– 'प्रपंच हर इंसान को खुद को सिद्ध करने का रणांगण है।' इसीलिए वे दुनियादारी का स्वागत करते हैं। निवृत्ति का अर्थ निरसन करना है, सुख व दु:ख दोनों को समान मानते जीना।

तुकाराम की गहरी अनुभव दृष्टि बेहद गहरे व ईशपरक रही थी, जिसके चलते उन्हें कुछ भी कहने में संकोच नहीं था कि उनकी वाणी स्वयंभू, ईश्वर की वाणी है। वे तो मजदूर की तरह जी रहे थे। दुनिया में कोई भी दिखावटी चीज नहीं टिकती। झूठ लंबे समय तक संभाला नहीं जा सकता। झूठ से सख्त

परहेज रखने वाले तुकोबा को संत नामदेव का रूप माना गया है। इनका समय 17वीं सदी के पूर्वार्द्ध का रहा। वे समर्थ रामदास व छत्रपति शिवाजी के समकालीन थे। इनका व्यक्तित्त्व बड़ा मौलिक व प्रेरणास्पद है। निम्न वर्ग में जन्म लेने के बावजूद वे कई शास्त्रकारों व समकालीन संतों से बहुत आगे थे। वे धर्म व अध्यात्म के साकार विग्रह थे।

देहविसर्जन

तुकाराम को 'चैतन्य' नामक साधु ने माघ सुदी 10 शाके 1541 में 'रामकृष्ण हरि' मंत्र का स्वप्न में उपदेश दिया। इसके उपरांत इन्होंने 17 वर्ष संसार को समान रूप से उपदेश देने में व्यतीत किए। सच्चे वैराग्य तथा क्षमाशील अंत:करण के कारण इनकी निंदा करने वाले निंदक भी पश्चाताप करते हूए इनके भक्त बन गए। इस प्रकार 'भागवत धर्म' का सबको उपदेश करते व परमार्थ मार्ग को आलोकित करते हुए अधर्म का खंडन करने वाले तुकाराम ने फाल्गुन बंदी (कृष्ण) द्वादशी, शाके 1571 को देहविसर्जन किया। इनका देहू ग्राम तीर्थ माना जाता है और प्रतिवर्ष पाँच दिन तक उनकी निधन तिथि मनाई जाती है।

ग्रंथ पाठ और कर्मकांड से कहीं दूर तुकाराम प्रेम के जरिए आध्यात्मिकता की खोज को महत्त्व देते थे। उन्होंने अनगिनत 'अभंगों' की रचना की थी। उनकी कविताओं के अंत में लिखा होता था कि- 'तुका माने' यानी 'तुका ने कहा'। उनकी राह पर चलकर 'वारकरी संप्रदाय' बना, जिसका लक्ष्य था- समाजसेवा और हरिसंकीर्तन मंडल। इस संप्रदाय के अनुयायी सदैव प्रभु का ध्यान करते थे। तुकाराम ने कितने 'अभंग' लिखे, इनका प्रमाण नहीं मिलता, लेकिन मराठी भाषा में हजारों 'अभंग' तो लोगों की जुबान पर ही हैं। पहला प्रकाशित रूप 1873 में सामने आया था। इस संकलन में 4607 'अभंग' संकलित किए गए थे। संत तुकाराम भले ही अब नहीं हैं, लेकिन उनके लिखे गए गीत आज भी महाराष्ट्र में पूरी भक्ति के साथ गाए जाते हैं। तुकाराम ने अकेले ही महाराष्ट्र में 'भक्ति आंदोलन' को फैलाने में अहम भूमिका निभाई थी।

16

कबीर

कबीर या भगत कबीर 15वीं सदी के भारतीय रहस्यवादी कवि और संत थे। वे हिन्दी साहित्य के भक्तिकालीन युग में ज्ञानाश्रयी-निर्गुण शाखा की काव्यधारा के प्रवर्तक थे। इनकी रचनाओं ने हिन्दी प्रदेश के भक्ति आंदोलन को गहरे स्तर तक प्रभावित किया। उनका लेखन सिक्खों के आदि ग्रंथ में भी देखने को मिलता है।

वे हिन्दू धर्म व इस्लाम को न मानते हुए धर्म निरपेक्ष थे। उन्होंने सामाज में फैली कुरीतियों, कर्मकांड, अंधविश्वास की निंदा की और सामाजिक बुराइयों की कड़ी आलोचना की थी। उनके जीवनकाल के दौरान हिन्दू और मुसलमान दोनों ने उन्हें अपने विचार के लिए धमकी दी थी।

कबीर पंथ नामक धार्मिक सम्प्रदाय इनकी शिक्षाओं के अनुयायी हैं।

जीवन परिचय

भारत के महान् संत और आध्यात्मिक कवि कबीर दास का जन्म वर्ष 1440 में हुआ था। इस्लाम के अनुसार 'कबीर' का अर्थ महान होता है। इस बात का कोई साक्ष्य नहीं है कि उनके असली माता-पिता कौन थे लेकिन ऐसा माना जाता है कि उनका लालन-पालन एक गरीब मुस्लिम परिवार में हुआ था। उनको नीरु और नीमा (रखवाला) के द्वारा वाराणसी के एक छोटे नगर से पाया गया था। वाराणसी के लहरतारा में संत कबीर मठ में एक तालाब है जहाँ नीरु और

नीमा नामक एक जोड़े ने कबीर को पाया था। ये शांति और सच्ची शिक्षण की महान इमारत है जहाँ पूरी दुनिया के संत वास्तविक शिक्षा की खातिर आते हैं। कबीर के माँ–बाप बेहद गरीब और अनपढ़ थे लेकिन उन्होंने कबीर को पूरे दिल से स्वीकार किया और खुद के व्यवसाय के बारे में शिक्षित किया। उन्होंने एक सामान्य गृहस्वामी और एक सूफी के संतुलित जीवन को जीया।

ऐसा माना जाता है कि अपने बचपन में उन्होंने अपनी सारी धार्मिक शिक्षा रामानंद नामक गुरु से ली और एक दिन वो गुरु रामानंद के अच्छे शिष्य के रुप में जाने गये। उनके महान कार्यों को पढ़ने के लिये अध्येता और विद्यार्थी कबीर दास के घर में ठहरते हैं। ये माना जाता है कि उन्होंने अपनी धार्मिक शिक्षा गुरु रामानंद से ली। शुरुआत में रामानंद कबीर दास को अपने शिष्य के रुप में लेने को तैयार नहीं थे। लेकिन बाद की एक घटना ने रामानंद को कबीर को शिष्य बनाने में अहम भूमिका निभायी। एक बार की बात है, संत कबीर तालाब की सीढ़ियों पर लेटे हुए थे और रामा–रामा का मंत्र पढ़ रहे थे, रामानंद भोर में नहाने जा रहे थे और कबीर उनके पैरों के नीचे आ गये, इससे रामानंद को अपनी गलती का एहसास हुआ और वे कबीर को अपने शिष्य के रुप में स्वीकार करने को मजबूर हो गये। ऐसा माना जाता है कि कबीर जी का परिवार आज भी वाराणसी के कबीर चौरा में निवास करता है।

हिन्दू धर्म, इस्लाम के बिना छवि वाले भगवान के साथ व्यक्तिगत भक्तिभाव के साथ ही तंत्रवाद जैसे उस समय के प्रचलित धार्मिक स्वाभाव के द्वारा कबीर दास के लिये पूर्वाग्रह था, कबीर दास पहले भारतीय संत थे जिन्होंने हिन्दू और इस्लाम धर्म को सार्वभौमिक रास्ता दिखा कर समन्वित किया जिसे दोनों धर्म के द्वारा माना गया। कबीर के अनुसार हर जीवन का दो धार्मिक सिद्धातों से रिश्ता होता है (जीवात्मा और परमात्मा)। मोक्ष के बारे में उनका विचार था कि ये इन दो दैवीय सिद्धांतों को एक करने की प्रक्रिया है।

उनकी महान रचना बीजक में कविताओं की भरमार है, जो कबीर के धार्मिकता पर सामान्य विचार को स्पष्ट करता है। कबीर की हिन्दी उनके दर्शन की तरह ही सरल और प्राकृत थी। वो ईश्वर में एकात्मकता का अनुसरण करते थे। वो हिन्दू धर्म में मूर्ति पूजा के घोर विरोधी थे और भक्ति तथा सूफी विचारों में पूरा भरोसा दिखाते थे।

कबीर के द्वारा रचित सभी कविताएँ और गीत कई सारी भाषाओं में मौजूद हैं। कबीर और उनके अनुयायियों को उनके काव्यगत धार्मिक भजनों के अनुसार

नाम दिया जाता है जैसे बनिस और बोली। विविध रुप में उनके कविताओं को साखी, श्लोक (शब्द) और दोहे (रमेनी) कहा जाता है। साखी का अर्थ है परम सत्य को दोहराते और याद करते रहना। इन अभिव्यक्तियों का स्मरण, कार्य करना और विचारमग्न के द्वारा आध्यात्मिक जागृति का एक रास्ता उनके अनुयायियों और कबीर के लिये बना हुआ है।

सिद्धपीठ कबीरचौरा मठ मुलगड़ी और उसकी परंपरा

कबीरचौरा मठ मुलगड़ी संत-शिरोमणि कबीर दास का घर, ऐतिहासिक कार्यस्थल और ध्यान लगाने की जगह है। वे अपने प्रकार के एकमात्र संत है, जो "सब संतन सरताज" के रुप में जाने जाते हैं। ऐसा माना जाता है कि जिस तरह संत कबीर के बिना सभी संतों का कोई मूल्य नहीं उसी तरह कबीरचौरा मठ मुलगड़ी के बिना मानवता का इतिहास मूल्यहीन है। कबीरचौरा मठ मुलगड़ी का अपना समृद्ध परंपरा और प्रभावशाली इतिहास है। ये कबीर के साथ ही सभी संतों के लिये साहसिक विद्यापीठ है। मध्यकालीन भारत के भारतीय संतों ने इसी जगह से अपनी धार्मिक शिक्षा प्राप्त की थी। मानव परंपरा के इतिहास में ये साबित हुआ है कि गहरे चिंतन के लिये हिमालय पर जाना जरुरी नहीं है बल्कि इसे समाज में रहते हुए भी किया जा सकता है। कबीर दास खुद इस बात के आदर्श संकेतक थे। वो भक्ति के सच्चे प्रचारक थे साथ ही उन्होंने आमजन की तरह साधारण जीवन लोगों के साथ जीया। पत्थर को पूजने के बजाय उन्होंने लोगों को स्वतंत्र भक्ति का रास्ता दिखाया। इतिहास गवाह है कि यहाँ की परंपरा ने सभी संतों को सम्मान और पहचान दी।

कबीर और दूसरे संतों के द्वारा उनकी परंपरा के इस्तेमाल किये गये वस्तुओं को आज भी कबीर मठ में सुरक्षित तरीके से रखा गया है। सिलाई मशीन, खड़ाऊ, रुद्राक्ष की माला (रामानंद से मिली हुयी), जंग रहित त्रिशूल और इस्तेमाल की गयी दूसरी सभी चीजें इस समय भी कबीर मठ में उपलब्ध है।

ऐतिहासिक कुआँ

कबीर मठ में एक ऐतिहासिक कुआँ है, जिसके पानी को उनकी साधना के अमृत रस के साथ मिला हुआ माना जाता है। दक्षिण भारत से महान पंडित सर्वानंद के द्वारा पहली बार ये अनुमान लगाया गया था। वो यहाँ कबीर से बहस

करने आये थे और प्यासे हो गये। उन्होंने पानी पिया और कमाली से कबीर का पता पूछा। कमाली नें कबीर के दोहे के रुप में उनका पता बताया।

"कबीर का शिखर पर, सिलहिली गाल
पाँव ना टिकाई पीपील का, पंडित लड़े बाल"

वे कबीर से बहस करने गये थे लेकिन उन्होंने बहस करना स्वीकार नहीं किया और सर्वानंद को लिखित देकर अपनी हार स्वीकार की। सर्वानंद वापस अपने घर आये और हार की उस स्वीकारोक्ति को अपने माँ को दिखाया और अचानक उन्होंने देखा कि उनका लिखा हुआ उल्टा हो चुका था। वो इस सच्चाई से बेहद प्रभावित हुए और वापस से काशी के कबीर मठ आये, बाद में कबीर दास के अनुयायी बने। वे कबीर से इस स्तर तक प्रभावित थे कि अपने पूरे जीवन भर उन्होंने कभी कोई किताब नहीं छुयी। बाद में, सर्वानंद आचार्य सुरतीगोपाल साहब की तरह प्रसिद्ध हुए। कबीर के बाद वे कबीर मठ के प्रमुख बने।

कैसे पहुँचे

सिद्धपीठ कबीरचौरा मठ मुलगड़ी वाराणसी के रुप में जाना जाने वाला भारत के प्रसिद्ध सांस्कृतिक शहर में स्थित है। कोई भी यहाँ हवाईमार्ग, रेलमार्ग या सड़कमार्ग से पहुँच सकता है। ये वाराणसी हवाई अड्डे से 18 किमी और वाराणसी रेलवे स्टेशन से 3 किमी की दूरी पर स्थित है।

काशी नरेश यहाँ क्षमा माँगने आये थे

एक बार की बात है, काशी नरेश राजा वीरदेव सिंह जुदेव अपना राज्य छोड़ने के दौरान माफी माँगने के लिये अपनी पत्नी के साथ कबीर मठ आये थे। कहानी ऐसे है कि–एक बार काशी नरेश ने कबीर दास की ढ़ेरों प्रशंसा सुनकर सभी संतों को अपने राज्य में आमंत्रित किया, कबीर दास राजा के यहाँ अपनी एक छोटी सी पानी के बोतल के साथ पहुँचे। उन्होंने उस छोटे बोतल का सारा पानी उनके पैरों पर डाल दिया, कम मात्रा का पानी देर तक जमीन पर बहना शुरु हो गया। पूरा राज्य पानी से भर उठा, इसलिये कबीर से इसके बारे में पूछा गया उन्होंने कहा कि एक भक्त जो जगन्नाथपुरी में खाना बना रहा था उसकी झोपड़ी में आग लग गयी।

जो पानी मैंने गिराया वो उसके झोपड़ी को आग से बचाने के लिये था। आग बहुत भयानक थी इसलिये छोटे बोतल से और पानी की जरुरत हो गयी थी। लेकिन राजा और उनके अनुयायी इस बात को स्वीकार नहीं किया और वे

सच्चा गवाह चाहते थे। उनका विचार था कि आग लगी उड़ीसा में और पानी डाला जा रहा है काशी में। राजा ने अपने एक अनुगामी को इसकी छानबीन के लिये भेजा। अनुयायी आया और बताया कि कबीर ने जो कहा था वो बिल्कुल सत्य था। इस बात के लिये राजा बहुत शर्मिंदा हुए और तय किया कि वो माफी माँगने के लिये अपनी पत्नी के साथ कबीर मठ जाएँगे। अगर वो माफी नहीं देते है तो वो वहाँ आत्महत्या कर लेंगे। उन्हें वहाँ माफी मिली और उस समय से राजा कबीर मठ से हमेशा के लिये जुड़ गये।

समाधि मंदिर

समाधि मंदिर वहाँ बना है जहाँ कबीर दास अक्सर अपनी साधना किया करते थे। सभी संतों के लिये यहाँ समाधि से साधना तक की यात्रा पूरी हो चुकी है। उस दिन से, ये वो जगह है जहाँ संत अत्यधिक ऊर्जा के बहाव को महसूस करते है। ये एक विश्व प्रसिद्ध शांति और ऊर्जा की जगह है। ऐसा माना जाता है कि उनकी मृत्यु के बाद लोग उनके शरीर के अंतिम संस्कार को लेकर झगड़ने लगे। लेकिन जब समाधि कमरे के दरवाजे को खोला गया, तो वहाँ केवल दो फूल थे जो अंतिम संस्कार के लिये उनके हिन्दू और मुस्लिम अनुयायियों के बीच बाँट दिया गया। मिर्जापुर के मोटे पत्थर से समाधि मंदिर का निर्माण किया गया है।

कबीर चबूतरा पर बीजक मंदिर

ये जगह कबीर दास का कार्यस्थल होने के साथ साधना स्थल भी था। ये वो जगह है जहाँ कबीर ने अपने अनुयायियों को भक्ति, ज्ञान, कर्म और मानवता की शिक्षा दी। इस जगह का नाम रखा गया कबीर चबूतरा। बीजक कबीर दास की महान रचना थी इसी वजह से कबीर चबूतरा का नाम बीजक मंदिर रखा गया।

कबीर तेरी झोपड़ी, गलकट्टो के पास।
जो करेगा वो भरेगा, तुम क्यों होत उदास।

उत्तर भारत में अपने भक्ति आंदोलन के लिये बड़े पैमाने पर मध्यकालीन भारत के एक भक्ति और सूफी संत थे कबीर दास। इनका जीवन चक्र काशी (इसको बनारस या वाराणसी के नाम से भी जाना जाता है) के केन्द्र में था। वो माता-पिता की वजह से बुनकर व्यवसाय से जुड़े थे और जाति से जुलाहा थे। इनके

भक्ति आंदोलन के लिये दिये गये विशाल योगदान को भारत में नामदेव, रविदास, और फरीद के साथ पथप्रदर्शक के रुप में माना जाता है। वे मिश्रित आध्यात्मिक स्वाभाव के संत थे (नाथ परंपरा, सूफिज्म, भक्ति) जो खुद से विपरित विशिष्ट बनाता है। उन्होंने कहा है कि कठिनाई की डगर सच्चा जीवन और प्यार है।

15वीं शताब्दी में, वाराणसी में लोगों के जीवन के सभी क्षेत्रों में शिक्षण केन्द्रों के साथ ही ब्राह्मण धर्मनिष्ठता के द्वारा मजबूती से संघटित हुआ था। जैसा कि वे एक निम्न जाति जुलाहा से संबंध रखते थे। कबीर दास अपने विचारों को प्रचारित करने में कड़ी मेहनत करते थे। वे कभी भी लोगों में भेदभाव नहीं करते थे, चाहे वो वैश्या, निम्न या उच्च जाति से संबंध रखता हो। वे खुद के अनुयायियों के साथ सभी को एक साथ उपदेश दिया करते थे। ब्राह्मणों द्वारा उनका अपने उपदेशों के लिये उपहास उड़ाया जाता था लेकिन वे कभी उनकी बुराई नहीं करते थे इसी वजह से कबीर सामान्य जन द्वारा बहुत पसंद किये जाते थे। वे अपने दोहो के द्वारा जीवन की असली सच्चाई की ओर आम-जन के दिमाग को ले जाने की शुरुआत कर चुके थे।

वे हमेशा मोक्ष के साधन के रुप में कर्मकाण्ड और सन्यासी तरीकों का विरोध करते थे। उन्होंने कहा कि अपनों के लाल रंग से ज्यादा महत्त्व है अच्छाई के लाल रंग का। उनके अनुसार, अच्छाई का एक दिल पूरी दुनिया की समृद्धि को समाहित करता है। एक व्यक्ति दया के साथ मजबूत होता है, क्षमा उसका वास्तविक अस्तित्त्व है तथा सही के साथ कोई व्यक्ति कभी न समाप्त होने वाले जीवन को प्राप्त करता है। कबीर ने कहा कि भगवान आपके दिल में है और हमेशा साथ रहेगा, तो उनकी भीतरी पूजा कीजिये। उन्होंने अपने एक उदाहरण से लोगों का दिमाग परिवर्तित कर दिया कि अगर यात्रा करने वाला चलने के काबिल नहीं है, तो यात्री के लिये रास्ता क्या करेगा।

उन्होंने लोगों की आँखों को खोला और उन्हें मानवता, नैतिकता और धार्मिकता का वास्तविक पाठ पढ़ाया। वे अहिंसा के अनुयायी और प्रचारक थे। उन्होंने अपने समय के लोगों के दिमाग को अपने क्रांतिकारी भाषणों से बदल दिया। कबीर के पैदा होने और वास्तविक परिवार का कोई पुख्ता प्रमाण मौजूद नहीं है। कुछ कहते हैं कि वो मुस्लिम परिवार में जन्मे थे तो कोई कहता है कि वो उच्च वर्ग के ब्राह्मण परिवार से थे। उनके निधन के बाद हिन्दू और मुस्लिमों में उनके अंतिम संस्कार को लेकर विवाद हो गया था। उनका जीवन इतिहास प्रसिद्ध है और अभी तक लोगों को सच्ची इंसानियत का पाठ पढ़ाता है।

कबीर दास का धर्म

कबीर दास के अनुसार, जीवन जीने का तरीका ही असली धर्म है जिसे लोग जीते है ना कि वे जो लोग खुद बनाते हैं। उनके अनुसार कर्म ही पूजा है और जिम्मेदारी ही धर्म है। वे कहते थे कि अपना जीवन जीयो, जिम्मेदारी निभाओ और अपने जीवन को शाश्वत बनाने के लिये कड़ी मेहनत करो। कभी भी जीवन में सन्यासियों की तरह अपनी जिम्मेदारियों से दूर मत जाओ। उन्होंने पारिवारिक जीवन को सराहा है और महत्त्व दिया है, जो कि जीवन का असली अर्थ है। वेदों में यह भी उल्लिखित है कि घर छोड़ कर जीवन को जीना असली धर्म नहीं है। गृहस्थ के रुप में जीना भी एक महान और वास्तविक सन्यास है। जैसे, निर्गुण साधु जो एक पारिवारिक जीवन जीते हैं, अपनी रोजी-रोटी के लिये कड़ी मेहनत करते है और साथ ही भगवान का भजन भी करते हैं।

कबीर ने लोगों को विशुद्ध तथ्य दिया कि इंसानियत का क्या धर्म है, जो कि किसी को अपनाना चाहिये। उनके इस तरह के उपदेशों ने लोगों को उनके जीवन के रहस्य को समझने में मदद किया।

कबीर दासः एक हिन्दू या मुस्लिम

ऐसा माना जाता है कि कबीर दास के मृत्यु के बाद हिन्दू और मुस्लिमों ने उनके शरीर को पाने के लिये अपना-अपना दावा पेश किया। दोनों धर्मों के लोग अपने रीति-रिवाज और परंपरा के अनुसार कबीर का अंतिम संस्कार करना चाहते थे। हिन्दुओं ने कहा कि वो हिन्दू थे इसलिये वे उनके शरीर को जलाना चाहते है जबकि मुस्लिमों ने कहा कि कबीर मुस्लिम थे इसलिये वो उनको दफनाना चाहते हैं।

लेकिन जब उन लोगों ने कबीर के शरीर पर से चादर हटायी तो उन्होंने पाया कि कुछ फूल वहाँ पर पड़े हैं। उन्होंने फूलों को आपस में बाँट लिया और अपने-अपने रीति-रिवाजों से महान कबीर का अंतिम संस्कार संपन्न किया। ऐसा भी माना जाता है कि जब दोनों समुदाय आपस में लड़ रहे थे तो कबीर दास की आत्मा आयी और कहा कि "ना ही मैं हिन्दू हूँ और ना ही मैं मुसलमान हूँ। यहाँ कोई हिन्दू या मुसलमान नहीं है। मैं दोनों हूँ, मैं कुछ नहीं हूँ, और सब हूँ। मैं दोनों में भगवान देखता हूँ। उनके लिये हिन्दू और मुसलमान एक है, जो इसके गलत अर्थ से मुक्त है। परदे को हटाओ और जादू देखो"।

कबीर दास का मंदिर काशी के कबीर चौराहा पर बना है, जो भारत के साथ ही विदेशी सैलानियों के लिये भी एक बड़े तीर्थस्थान के रुप में प्रसिद्ध हो गया है। मुस्लिमों द्वारा उनके कब्र पर एक मस्जिद बनायी गयी है, जो मुस्लिमों के तीर्थस्थान के रुप में बन चुकी है।

कबीर दास के भगवान

कबीर के गुरु रामानंद ने उन्हें गुरु मंत्र के रुप में भगवान 'रामा' नाम दिया था जिसका उन्होंने अपने तरीके से अर्थ निकाला था। वे अपने गुरु की तरह सगुण भक्ति के बजाय निर्गुण भक्ति को समर्पित थे। उनके रामा संपूर्ण शुद्ध सच्चिदानंद थे, दशरथ के पुत्र या अयोध्या के राजा नहीं जैसा कि उन्होंने कहा "दशरथ के घर ना जन्में, ई चल माया किनहा"। वो इस्लामिक परंपरा से ज्यादा बुद्धा और सिद्धा से बेहद प्रभावित थे। उनके अनुसार "निर्गुण नाम जपो रहे भैया, अविगति की गति लाखी ना जैया"।

उन्होंने कभी भी अल्लाह या राम में फर्क नहीं किया, कबीर हमेशा लोगों को उपदेश देते कि ईश्वर एक है बस नाम अलग है। वे कहते हैं कि बिना किसी निम्न और उच्च जाति या वर्ग के लोगों के बीच में प्यार और भाईचारे का धर्म होना चाहिये। ऐसे भगवान के पास अपने आपको समर्पित और सौंप दो जिसका कोई धर्म नहीं हो। वो हमेशा जीवन में कर्म पर भरोसा करते थे।

कबीर दास की मृत्यु

15 शताब्दी के सूफी कवि कबीर दास के बारे में ऐसा माना जाता है कि उन्होंने अपने मरने की जगह खुद से चुनी थी, मगहर, जो लखनउ शहर से 240 किमी दूरी पर स्थित है। लोगों के दिमाग से मिथक को हटाने के लिये उन्होंने ये जगह चुनी थी उन दिनों, ऐसा माना जाता था कि जिसकी भी मृत्यु मगहर में होगी वो अगले जन्म में बंदर बनेगा और साथ ही उसे स्वर्ग में जगह नहीं मिलेगी। कबीर दास की मृत्यु काशी के बजाय मगहर में केवल इस वजह से हुयी थी क्योंकि वो वहाँ जाकर लोगों के अंधविश्वास और मिथक को तोड़ना चाहते थे। 1575 विक्रम संवत में हिन्दू कैलेंडर के अनुसार माघ शुक्ल एकादशी के वर्ष 1518 में जनवरी के महीने में मगहर में उन्होंने दुनिया को अलविदा कहा। ऐसा भी माना जाता है कि जो कोई भी काशी में मरता है वो सीधे स्वर्ग में जाता है, इसी वजह से मोक्ष की प्राप्ति के लिये हिन्दू लोग अपने अंतिम समय में काशी

जाते हैं। एक मिथक को मिटाने के लिये कबीर दास की मृत्यु काशी के बाहर हुयी। इससे जुड़ा उनका एक खास कथन है कि "जो कबीरा काशी मुएतो रामे कौन निहोरा" अर्थात् अगर स्वर्ग का रास्ता इतना आसान होता तो पूजा करने की जरुरत क्या है।

कबीर दास का शिक्षण व्यापक है और सभी के लिये एक समान है क्योंकि वो हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख और दूसरे किसी धर्मों में भेदभाव नहीं करते थे। मगहर में कबीर दास की समाधि और मजार दोनों है।

समाधि से कुछ मीटर दूरी पर एक गुफा है, जो मृत्यु से पहले उनके ध्यान लगाने की जगह को इंगित करती है। उनके नाम से एक ट्रस्ट चल रहा है जिसका नाम है कबीर शोध संस्थान जो कबीर दास के कार्यों पर शोध को प्रचारित करने के लिये शोध संस्थान के रुप में है। वहाँ पर शिक्षण संस्थान भी है, जो कबीर दास के शिक्षण को भी समाहित किया हुआ है।

कबीर दासः एक सूफी संत

भारत में मुख्य आध्यात्मिक कवियों में से एक कबीर दास महान सूफी संत थे जो लोगों के जीवन को प्रचारित करने के लिये अपने दार्शनिक विचार दिये। उनका दर्शन कि ईश्वर एक है और कर्म ही असली धर्म है ने लोगों के दिमाग पर गहरी छाप छोड़ी। उनका भगवान की ओर प्यार और भक्ति ने हिन्दू भक्ति और मुस्लिम सूफी के विचार को पूरा किया।

ऐसा माना जाता है कि उनका संबंध हिन्दू ब्राह्मण परिवार से था लेकिन वे बिन बच्चों के मुस्लिम परिवार नीरु और नीमा द्वारा अपनाये गये थे। उन्हें उनके माता-पिता द्वारा काशी के लहरतारा में एक तालाब में बड़े से कमल के पत्ते पर पाया गया था। उस समय दकियानूसी हिन्दू और मुस्लिम लोगों के बीच में बहुत सारी असहमति थी जो कि अपने दोहों के द्वारा उन मुद्दों को सुलझाना कबीर दास का मुख्य केन्द्र बिन्दु था।

पेशेवर ढ़ग से वो कभी कक्षा में नहीं बैठे लेकिन वो बहुत ज्ञानी और अध्यात्मिक व्यक्ति थे। कबीर ने अपने दोहे औपचारिक भाषा में लिखे जो उस समय अच्छी तरह से बोली जाती थी जिसमें ब्रज, अवधि और भोजपुरी समाहित थी। उन्होंने बहुत सारे दोहे तथा सामाजिक बंधनों पर आधारित कहानियों की किताबें लिखी।

कबीर दास की रचनाएँ

कबीर के द्वारा लिखी गयी पुस्तकें सामान्यत: दोहा और गीतों का समूह होता था। संख्या में उनका कुल कार्य 72 था और जिसमें से कुछ महत्त्वपूर्ण और प्रसिद्ध कार्य हैं जैसे रक्त, कबीर बीजक, सुखनिधन, मंगल, वसंत, शब्द, साखी, और होली अगम।

कबीर की लेखन शैली और भाषा बहुत सुंदर और साधारण होती है। उन्होंने अपना दोहा बेहद निडरतापूर्वक और सहज रुप से लिखा है जिसका कि अपना अर्थ और महत्त्व है। कबीर ने दिल की गहराईयों से अपनी रचनाओं को लिखा है। उन्होंने पूरी दुनिया को अपने सरल दोहों में समेटा है।

17

परमानंद दास

परमानंद दास वल्लभाचार्य जी के शिष्य और अष्टछाप के प्रसिद्ध कवियों में से एक थे। वे भगवान की लीला के मर्मज्ञ, अनुभवी कवि और कीर्तनकार थे। उन्होंने आजीवन भगवान की लीला गायी। श्रीवल्लभाचार्य जी की उन पर बड़ी कृपा रहती थी। वे उनका बड़ा सम्मान करते थे। उनका पद संग्रह 'परमानंदसागर' के नाम से विख्यात है। उनकी रचनाएं अत्यन्त सरस और भावपूर्ण हैं। लीलागायक कवियों में उन्हें गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त है।

परिचय

परमानंद दास जी का जन्म संवत 1550 विक्रमी (1493 ई.) में मार्गशीर्ष शुक्ल सप्तमी को हुआ था। वे कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे और कन्नौज, उत्तर प्रदेश के रहने वाले थे। जिस दिन वे पैदा हुए, उसी दिन एक धनी व्यक्ति ने उनके पिता को बहुत-सा धन दिया। दान के फलस्वरूप घर में परमानंद छा गया। पिता ने बालक का नाम परमानंद रखा। उनकी बाल्यावस्था सुखपूर्वक व्यतीत हुई। बचपन से ही उनके स्वभाव में त्याग और उदारता का बाहुल्य था। उनके पिता साधारण श्रेणी के व्यक्ति थे। दान आदि से ही जीविका चलाते थे।

आर्थिक कठिनाईयाँ

एक समय कन्नौज में अकाल पड़ा। हाकिम ने दण्डरूप में उनके पिता का सारा धन छीन लिया। वे कंगाल हो गये। परमानंद पूर्णरूप से युवा हो चुके थे।

अभी तक उनका विवाह नहीं हुआ था। पिता को सदा उनके विवाह की चिन्ता बनी रहती थी और परमानंद उनसे कहा करते थे कि- 'आप मेरे विवाह की चिन्ता न करें, मुझे विवाह ही नहीं करना है। जो कुछ आय हो, उससे परिवार वालों का पालन करें, साधु-सेवा और अतिथि-सत्कार करें।' किन्तु पिता को तो द्रव्योपार्जन की सनक थी, वे घर से निकल पड़े। देश-विदेश में घूमने लगे।

कवि और कीर्तनकार

पिता के जाने के बाद परमानंद भगवान के गुण-कीर्तन, लीला-गान और साधु-समागम में अपने दिन बिताने लगे। वे युवावस्था में ही अच्छे कवि और कीर्तनकार के रूप में प्रसिद्ध हो गये। लोग उन्हें 'परमानंद स्वामी' कहने लगे थे। 26 वर्ष की अवस्था तक वे कन्नौज में रहे। उसके बाद वे प्रयाग (वर्तमान इलाहाबाद) चले आये। स्वामी परमानंद की कुटी में अनेकानेक साधु-संत सत्संग के लिये आने लगे। उनकी विरक्ति बढ़ती गयी और काव्य तथा संगीत में वे पूर्णरूप से निपुण हो गये।

रात्रि जागरण व कीर्तन

स्वामी परमानन्द एकादशी की रात्रि को जागरण करते थे। भगवान की लीलाओं का कीर्तन करते थे। प्रयाग में भगवती कालिन्दी के दूसरे तट पर दिग्विजयी महाप्रभु वल्लभाचार्य का अड़ैल में निवास स्थान था। उनका जलघरिया कपूर परमानन्द स्वामी के जागरण उत्सव में सम्मिलित हुआ करता था। एक दिन एकादशी की रात को स्वामी परमानन्द कीर्तन कर रहे थे। कपूर चल पड़ा, यमुना में नाव नहीं थी। वह तैरकर इस पार आ गया। परमानन्द स्वामी ने देखा कि उसकी गोद में एक श्याम वर्ण का शिशु बैठा है। उसके सिर पर मयूरपिच्छका मुकुट है, नयन कमल के समान प्रफुल्लित हैं, अधरों पर अमृत की ज्योत्स्ना लहरा रही है, गले में वनमाला है, पीताम्बर में उसका शरीर अत्यन्त मनमोहक-सा लग रहा है। परमानन्द के दिव्य संस्कार जाग उठे। उन्हें पूर्ण विश्वास हो गया कि भक्त की माधुर्यमयी गोद में भगवान श्यामसुन्दर ही उनका कीर्तन सुन रहे हैं। उत्सव समाप्त हो गया। स्वप्न में उन्हें श्रीवल्लभाचार्य के दर्शन की प्रेरणा मिली। वे दूसरे दिन उनसे मिलने के लिये चल पड़े। आचार्यप्रवर ने उनसे भगवान का यश वर्णन करने को कहा। परमानंद जी ने विरह का पद गाया-

जिय की साध जु जियहिं रही री।
बहुरि गुपाल देखि नहिं पाए बिलपत कुंज अहीरी॥
इक दिन सो जु सखी यहि मारग बेचन जात दही री।
प्रीति के लिएँ दानं मिस मोहन मेरी बाँह गही री॥
बिनु देखैं छिनु जात कलप सम बिरहा अनल दही री।
परमानंद स्वामी बिनु दरसन नैनन नदी बही री॥

उन्होंने आचार्य को बाललीला के अनेक पद सुनाये। आचार्य ने उन्हें ब्रह्म-सम्बन्ध दिया। परमानंद स्वामी से 'दास' बन गये।

'अष्टछाप' के कवि

संवत 1582 विक्रमी में परमानंददास महाप्रभु जी के साथ ब्रज गये। उन्होंने इस यात्रा में आचार्य को अपने पूर्व निवास स्थान कन्नौज में ठहराया था। आचार्य उनके मुख से 'हरि तेरी लीला की सुधि आवै।' पद सुनकर तीन दिनों तक मूर्च्छित रहे। वे आचार्यप्रवर के साथ सर्वप्रथम गोकुल आये। कुछ दिन रहकर वे उन्हीं के साथ वहां से गोवर्धन चले आये। वे सदा के लिये गोवर्धन में ही रह गये। सुरभीकुण्ड पर श्यामतमाल वृक्ष के नीचे उन्होंने अपना स्थायी निवास स्थिर किया। वे नित्य श्रीनाथ जी का दर्शन करने जाते थे। कभी-कभी नवनीतप्रिय के दर्शन के लिये गोकुल भी जाया करते थे। संवत 1602 विक्रमी में गोसाईं विट्ठलनाथ जी ने उनको 'अष्टकछाप' में सम्मिलित कर लिया। वे उच्चकोटि के कवि और भक्त थे।

गोकुल आगमन

भगवान के लीलागान में उन्हें बड़ा रस मिलता था। एक बार विट्ठलनाथ जी के साथ 'कृष्ण जन्माष्टमी' को वे गोकुल आये। नवनीतप्रिय के सामने उन्होंने पद गान किया। वे पद गाते-गाते सुध-बुध भूल गये। ताल-स्वर का उन्हें कुछ भी पता नहीं रहा। उसी अवस्था में वे गोवर्धन लाये गये। मूर्च्छा समाप्त होने पर अपनी कुटी में आये, उन्होंने बोलना छोड़ दिया। गोसाईं जी ने उनके शरीर पर हाथ फेरा। परमानंददास ने नयनों में प्रेमाश्रु भरकर कहा कि- 'प्रेमपात्र तो केवल नन्दनन्दन हैं। भक्त तो सुख और दुःख दोनों में उन्हीं की कृपा के सहारे जीते रहते हैं।'

गोलोक यात्रा

संवत 1641 विक्रमी में भाद्रपद कृष्ण नवमी को परमानंद दास ने गोलोक प्राप्त किया। वे उस समय सुरभीकुण्ड पर ही थे। मध्याह्न का समय था। गोसाईं विट्ठलनाथ उनके अन्त समय में उपस्थित थे। परमानंद का मन युगलस्वरूप की माधुरी में संलग्न था। उन्होंने गोसाईं जी के सामने निवेदन किया–

राधे बैठी तिलक संवारति।
मृगनैनी कुसुमायुध कर धरि नंद सुवन को रूप बिचारति॥
दर्पन हाथ सिंगार बनावति, बासर जुग सम टारति।
अंतर प्रीति स्यामसुंदर सों हरि संग केलि संभारति॥
बासर गत रजनी ब्रज आवत मिलत गोबर्धन प्यारी।
'परमानंद' स्वामी के संग मुदित भई ब्रजनारी॥

इस प्रकार श्रीराधा–कृष्ण की रूप–सुधा का चिन्तन करते हुए उन्होंने अपनी गोलोक यात्रा सम्पन्न की।

18

रसखान

सैय्यद इब्राहीम 'रसखान' का हिन्दी साहित्य में कृष्ण भक्त तथा रीतिकालीन कवियों में महत्त्वपूर्ण स्थान है। रसखान को 'रस की खान(कान)' कहा जाता है। इनके काव्य में भक्ति,शृंगार रस दोनों प्रधानता से मिलते हैं। रसखान कृष्ण भक्त हैं और प्रभु के सगुण और निर्गुण निराकार रूप के प्रति श्रद्धालु हैं। रसखान के सगुण कृष्ण लीलाएं करते हैं। यथा- बाललीला, रासलीला, फागलीला, कुंजलीला आदि। उन्होंने अपने काव्य की सीमित परिधि में इन असीमित लीलाओं का बहुत सूक्ष्म वर्णन किया है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने जिन मुस्लिम हरिभक्तों के लिये कहा था, 'इन मुसलमान हरिजनन पर कोटिन हिन्दू वारिए' उनमें 'रसखान' का नाम सर्वोपरि है। सैय्यद इब्राहीम 'रसखान' का जन्म उपलब्ध स्रोतों के अनुसार सन् 1533 से 1558 के बीच कभी हुआ होगा। अकबर का राज्यकाल 1556-1605 है, ये लगभग अकबर के समकालीन हैं। जन्मस्थान 'पिहानी' कुछ लोगों के मतानुसार दिल्ली के समीप है। कुछ और लोगों के मतानुसार यह 'पिहानी' उत्तर प्रदेश के हरदोई जिले में है। मृत्यु के बारे में कोई प्रामाणिक तथ्य नहीं मिलते हैं। रसखान ने भागवत का अनुवाद फारसी में भी किया।

जीवन परिचय

रसखान के जन्म के संबंध में विद्वानों में मतभेद पाया जाता है। अनेक विद्वानों ने इनका जन्म संवत् 1615 ई. माना है और कुछ विद्वानों ने 1630 ई.

माना है। रसखान स्वयं बताते हैं कि गदर के कारण दिल्ली 'मशान बन चुकी थी, तब उसे छोड़कर वे ब्रज चले गये। ऐतिहासिक साक्ष्य के आधार पर पता चलता है कि उपर्युक्त गदर सन् 1613 ई. में हुआ था। उनकी बात से ऐसा प्रतीक होता है कि वह गदर के समय वयस्क थे और उनका जन्म गदर के पहले ही हुआ होगा। रसखान का जन्म संवत् 1590 ई. मानना अधिक समीचीन प्रतीत होता है। भवानी शंकर याज्ञिक ने भी यही माना है। अनेक तथ्यों के आधार पर उन्होंने अपने इस मत की पुष्टि भी की है। ऐतिहासिक ग्रंथों के आधार पर भी यही तथ्य सामने आता है। यह मानना अधिक प्रभावशाली प्रतीत होता है कि रसखान का जन्म 1590 ई. में हुआ होगा।

जन्म स्थान

रसखान के जन्म स्थान के विषय में अनेक विद्वानों ने अनेक मत प्रस्तुत किए हैं। कई तो रसखान के जन्म स्थान पिहानी अथवा दिल्ली को बताते हैं, किंतु यह कहा जाता है कि दिपाली शब्द का प्रयोग उनके काव्य में केवल एक बार ही मिलता है। जैसा कि पहले लिखा गया कि रसखान ने गदर के कारण दिल्ली को 'मशान बताया है। उसके बाद की जिंदगी उसकी मथुरा में गुजरी। शिवसिंह सरोज तथा हिंदी साहित्य के प्रथम इतिहास तथा ऐतिहासिक तथ्यों एवं अन्य पुष्ट प्रमाणों के आधार पर रसखान की जन्म-भूमि पिहानी जिला हरदोई माना जाए। हरदोई जनपद मुख्यालय पर निर्मित एक प्रेक्षाग्रह का नाम 'रसखान प्रेक्षाग्रह' रखा गया है। पिहानी और बिलग्राम ऐसी जगह हैं, जहाँ हिंदी के बड़े-बड़े एवं उत्तम कोटि के मुसलमान कवि पैदा हुए।

नाम एवं उपनाम

जन्म स्थान तथा जन्म काल की तरह रसखान के नाम एवं उपनाम के संबंध में भी अनेक मत प्रस्तुत किए गए हैं। हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने अपनी पुस्तक में रसखान के दो नाम लिखे हैं–सैय्यद इब्राहिम और सुजान रसखान। जबकि सुजान रसखान की एक रचना का नाम है। हालांकि रसखान का असली नाम सैयद इब्राहिम था और 'खान' उसकी उपाधि थी। नवलगढ़ के राजकुमार संग्रामसिंह जी द्वारा प्राप्त रसखान के चित्र पर नागरी लिपि के साथ- साथ फारसी लिपि में भी एक स्थान पर 'रसखान' तथा दूसरे स्थान पर 'रसखाँ' ही लिखा पाया गया है। उपर्युक्त सबूतों के आधार पर कहा जा सकता है कि रसखान

ने अपना नाम 'रसखान' सिर्फ इसलिए रखा था कि वह कविता में इसका प्रयोग कर सके। फारसी कवियों की नाम चसिप्त में रखने की परंपरा का पालन करते हुए रसखान ने भी अपने नाम खाने के पहले 'रस' लगाकर स्वयं को रस से भरे खान या रसीले खान की धारणा के साथ काव्य- रचना की। उनके जीवन में रस की कमी न थी। पहले लौकिक रस का आस्वादन करते रहे, फिर अलौकिक रस में लीन होकर काव्य रचना करने लगे। एक स्थान पर उनके काव्य में 'रसखाँ' शब्द का प्रयोग भी मिलता है।

नैन दलालनि चौहटें म मानिक पिय हाथ।
'रसखाँ' ढोल बजाई के बेचियों हिय जिय साथ॥

उपर्युक्त साक्ष्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि उनका नाम सैय्यद इब्राहिम तथा उपनाम 'रसखान' था।

बाल्यकाल तथा शिक्षा

रसखान एक जागीरदार पिता के पुत्र थे। इसलिए इनका लालन पालन बड़े लाड़-प्यार से हुआ माना जाता है। ऐसा इसलिए कहा जाता है कि उनके काव्य में किसी विशेष प्रकार की कटुता का सरासर अभाव पाया जाता है। एक संपन्न परिवार में पैदा होने के कारण उनकी शिक्षा अच्छी और उच्च कोटि की गई थी। उनकी यह विद्वत्ता उनके काव्य की साधिकार अभिव्यक्ति में जग जाहिर होते हैं। रसखान को फारसी, हिंदी एवं संस्कृति का अच्छा ज्ञान था। फारसी में उन्होंने 'श्रीमद्भागवत' का अनुवाद करके यह साबित कर दिया था। इसको देख कर इस बात का अभास होता है कि वह फारसी और हिंदी भाषाओं का अच्छा वक्ता होंगे। रसखान ने अपना बाल्य जीवन अपार सुख- सुविधाओं में गुजारा होगा। उन्हें पढ़ने के लिए किसी मकतब में जाने की आवश्यकता नहीं पड़ी होगी।

व्यक्तित्त्व और कृतित्त्व

हिन्दी साहित्य के मध्यकालीन कृष्ण-भक्त कवियों में रसखान की कृष्ण-भक्ति निश्चय ही सराहनीय, लोकप्रिय और निर्विवाद है। कृष्ण-भक्ति और काव्य-सौंदर्य की दृष्टि से 'सुजान रसखान' और 'प्रेमवाटिका' के रचयिता रसखान हिन्दी साहित्य जगत् के एक जाज्वल्यमान नक्षत्र के रूप में भारत के जन-जन के हृदय को आज भी भावनात्मक एकता के अग्रदूत के रूप में प्रकाश प्रदान करते हैं।

दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता के अनुसार

वार्ता साहित्य में सबसे महत्त्वपूर्ण पुस्तक 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' है। इस वार्ता के अनुसार रसखान दिल्ली में रहते थे। एक बनिए के पुत्र के प्रति आसक्त थे। इस आसक्ति की चर्चा होने लगी। कुछ वैष्णवों ने रसखान से कहा कि यदि इतना प्रेम तुम भगवान से करो तो उद्धार हो जाए। रसखान ने पूछा कि भगवान कहां है? वैष्णवों ने उनको कृष्ण भगवान का एक चित्र दे दिया। रसखान चित्र को लेकर भगवान की तलाश में ब्रज पहुँचे। अनेक मंदिरों में दर्शन करने के उपरांत अपने आराध्य की खोज में ये गोविन्द कुण्ड पर जा बैठे और श्रीनाथ जी के मंदिर को टकटकी लगाकर देखने लगे। आरती के पश्चात् श्रीनाथ जी इनका ध्यान करके द्रवीभूत हो गए और चित्र वाला स्वरूप बनाकर दर्शन देने आये। रसखान उन्हें अपना महबूब जानकर पकड़ने दौड़े। श्रीनाथ जी अंतर्धान होकर गोकुल पधारे और श्री गोसाईं जी को संपूर्ण घटना सुनाई। उसके बाद श्री गोसाईं जी ने रसखान को दर्शन दिए और अपने मंदिर में बुलवा लिया। रसखान दर्शन करके बहुत प्रसन्न हुए। वहीं रहकर लीला गान करने लगे। इस वार्ता के अनुसार उन्हें गोपी भाव की सिद्धि हुई। इस वार्ता से यह पता चलता है कि रसखान का संबंध स्वामी विट्ठलनाथ जी से रहा। वार्ता में वर्णित कुछ घटनाओं के संकेत रसखान के काव्य में भी मिलते हैं। रसखान ने भी प्रेमवाटिका में छवि दर्शन की चर्चा की है। 'सुजान रसखान' में लीला वर्णन भी मिलता है। वार्ता के अनुसार ये लीला के दर्शन करके ही कवित्त, सवैयों और दोहों की रचना करते थे और इन्हें गोपी भाव भी सिद्ध हुआ था।

नव भक्तमाल के अनुसार

इसके रचयिता श्रीराधाचरण गोस्वामी ने रसखान के संबंध में लिखा है। इस वर्णन में तथा 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' में मुख्य अंतर यही है कि 'नव भक्त-माल' के कर्ता के अनुसार दर्शन न पाने पर व्यंग्य रचना कर रसखान ने भगवान से कुछ उपालंभपूर्ण वचन कहे। 'भक्तमाल' की टीका के अनुसार रहीम ने ऐसी ही परिस्थिति में व्यंग्यपूर्ण दोहे रचे थे। अनुमानत: गोस्वामी जी ने यही बात रसखान के संबंध में भी कह डाली।

मूलगोसाईंचरित के अनुसार

संवत् 1687 में रचित बाबा वेणीमाधव दास कृत 'मूलगुसाईंचरित' में भी रसखान का उल्लेख मिलता है। उसमें लिखा है कि 'रामचरितमानस' की रचना

दो वर्ष, सात मास और छब्बीस दिवस में संवत 1633 में समाप्त हुई। सबसे पहले मिथिला के रूपारण्य स्वामी ने अयोध्या में इसका श्रवण किया। फिर संडीले के हरदोई जिला के स्वामी जंदलाल के शिष्य 'दयाल दास' अथवा दलालदास ने उसकी एक प्रति लिखी और अपने स्थान पर लौटकर तीन वर्ष तक यमुना तट पर मानस को अपने गुरु और रसखान को सुनाया। मूल ग्रंथ का यह अंश इस प्रकार है–

मिथिला के सुसन्त सुजाने हते। मिथिलाधिप भाव पगे रहते।
सुचि नाम रूपासन स्वामि जुतो। तिहि औसर औध में आयौ हुतौ।
प्रथमै यह मानस तेई सुने। तिहि के अधिकारी गुसाई गुने।
स्वामीनन्द (सु) लाल को सिशय पुनी। तिस नाम दलाल सुदास गुनी।
लिखि के सोइर पोथि स्वठाम गयो। गुरु के ढिंग जाय सुनाय दयो।
जमना तट पर त्रय वत्सा लो। रसखान जाई सुनवत भौ।

इस उल्लेख के अनुसार संवत 1634 से 1636 पर्यंत तीन वर्ष तक रसखान ने 'रामचरितमानस' की कथा सुनी। रसखान ने राम संबंधी किसी पद की रचना न करते हुए भी मानस अवश्य सुना होगा, क्योंकि उनका दृष्टिकोण उदार था। वे सबको समान भाव से देखते थे। श्रीकृष्ण के अतिरिक्त उन्होंने शिव, गंगा आदि पर छंद लिखे। यदि उन्होंने राम के संबंध में काव्य रचना नहीं की तो उनके संबंध में यह धारणा बना लेना तर्क संगत नहीं है कि वे राम काव्य को सुनना भी पंसद नहीं करेंगे अर्थात उन्होंने रामचरितमानस की कथा चाव से सुनी होगी। मूलगोसाईं चरित के अनुसार रसखान तीन वर्ष तक यमुना तट पर रामचरितमानस की कथा सुनते रहे।

शिवसिंह सरोज के अनुसार

शिवसिंह सरोज ने अपने इतिहास-ग्रंथ में लिखा है कि 'रसखान कवि' सैयद इब्राहीम पिहानी वाले संवत 1630 में हुए। ये मुसलमान कवि थे। श्री वृन्दावन में जाकर कृष्णचंद्र की भक्ति में ऐसे डूबे कि फिर मुसलमानी धर्म त्याग कर माला कंठी धारण किए हुए वृन्दावन की रज में मिल गए। उनकी कविता निपट ललित माधुरी से भरी हुई है। इनकी कथा 'भक्तमाल' में पढ़ने योग्य है।

मिश्रबंधु विनोद के अनुसार

इनको बहुत लोग सैयद इब्राहीम पिहानी वाले समझते हैं। परंतु वह महाशय वास्तव में दिल्ली के पठान थे। जैसा कि 'दो सौ बावन वैष्णवन' की वार्ता में

लिखा है। रसखान ने अपना समय अनुचित व्यवहारों में भी व्यतीत किया था, अत: उनकी कविता का आदिकाल भी 25 वर्ष की अवस्था से प्रारंभ होना अनुमान-सिद्ध नहीं है। विठलेश जी का मरण काल संवत 1643 है, सो संवत 1640 के लगभग उनका शिष्य होना जान पड़ता है। अत: जन्मकाल हम 1615 के लगभग समझते हैं। उनकी अवस्था 70 वर्ष की मानने से उनका मरण काल संवत 1685 मानना पड़ेगा।'

हिन्दी-साहित्य का प्रथम इतिहास

अब्राहम जार्ज ग्रियर्सन ने लिखा है सैयद इब्राहीम उपनाम रसखान कवि, हरदोई जिले के अंतर्गत पिहानी के रहने वाले, जन्म काल 1573 ई.। यह पहले मुसलमान थे। बाद में वैष्णव होकर ब्रज में रहने लगे थे। इनका वर्णन 'भक्तमाल' में है। इनके एक शिष्य कादिर बख्श हुए।

हिन्दी-साहिय का इतिहास

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने हिन्दी-साहित्य के इतिहास में रसखान के संबंध में लिखा है– दिल्ली के एक पठान सरदार थे। इन्होंने 'प्रेमवाटिका' में अपने को शाही वंश का कहा है। संभव है पठान बादशाहों की कुल परंपरा से इनका संबंध रहा हो। ये बड़े भारी कृष्ण भक्त और गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के बड़े कृपापात्र शिष्य थे। इनका रचना काल संवत 1640 के उपरांत ही माना जा सकता है क्योंकि गोसाईं विट्ठलनाथ जी का गोलोकवास संवत 1643 में हुआ था। 'प्रेमवाटिका' का रचनाकाल संवत 1671 है।

हिन्दी-साहित्य

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपने इतिहास में दो रसखान बताये हैं। सबमें प्रमुख है बादशाह वंश की ठसक छोड़ने वाले सुजान रसखानि। इस नाम के दो मुसलमान भक्त कवि बताए जाते हैं।

एक तो सैयद इब्राहीम पिहानी वाले

दूसरे गोसाई विट्ठलनाथ जी के कृपापात्र शिष्य सुजान रसखान। दूसरे अधिक प्रसिद्ध हैं। संभवत: यह पठान थे इसीलिए अपने को बादशाह वंश का लिखा है।

हिन्दी के मुसलमान कवियों का प्रेम-काव्य

गुरुदेव प्रसाद वर्मा ने 'हिन्दी के मुसलमान कवियों का प्रेम काव्य' नामक पुस्तक में लिखा है कि आपके जन्म संवत के बारे में मतभेद है। यह प्रसिद्ध है कि रसखान ने श्री वल्लभाचार्य के पुत्र श्री विट्ठलनाथ जी से दीक्षा ली। विट्ठलनाथ की मृत्यु संवत 1642 विक्रमी में हुई, अतः दीक्षा इसके पूर्व ही ली होगी। यदि दीक्षा ग्रहण का समय संवत 1640 माना जाय और उस समय उनकी अवस्था 25 वर्ष मानी जाय तो अनुचित न होगा। इस प्रकार जन्म संवत 1615 विक्रमी के आस-पास माना जा सकता है। जनश्रुति है कि रसखान के हृदय में भगवद्-विषयक रति का आविर्भाव 'भागवत' के फारसी कर उन्हें ध्यान हुआ कि उसी से क्यों न मन लगाया जाय, जिस पर इतनी गोपियां अपने प्राण अर्पण करती हैं। यह विचार कर ये वृन्दावन चले गये। इस पुस्तक में भी अन्य पुस्तकों से मिलते-जुलते तथ्यों का निरूपण किया गया है।

ए हिस्ट्री आफ हिन्दी लिटरेचर

एफ. ई. के. ने अपनी इस पुस्तक में रसखान के विषय में कहा है कि यह पहले मुसलमान थे और इनका नाम सैयद इब्राहीम था। ये कृष्ण के भक्त हुए हैं। इन्होंने कृष्ण की प्रशंसा में काव्य-रचना की जो अति सुन्दर एवं मधुर है। उनके एक शिष्य कादिर बखश्श थे। उन्होंने भी हिन्दी में काव्य-रचना की।

नया दौर (उर्दू)

अगस्त 1960 में 'सरस्वती शरण कैफ' के लेख 'हिन्दी के मुसलमान शाइर' में उन्होंने रसखान के संबंध में लिखा है कि रसखान का असली नाम मालूम नहीं। ये दिल्ली के एक पठान सरदार के लड़के थे। जवानी में यह एक बनिये के लड़के पर आशिक हो गये और इसके पीछे दीवानावार घूमने लगे। एक रोज उन्होंने बाजार में किसी को कहते सुना कि भगवान कृष्ण से ऐसी ही मुहब्बत करनी चाहिए जैसी रसखान को बनिये के लड़के से है। इस जुमले (वाक्य) ने रसखान के रूहानी शऊर (आत्मा को) जगा दिया और ये वृन्दावन को चल खड़े हुए। वहां जाकर गोसाईं विट्ठलनाथ के चेले हो गए और रूहानियत के इस दर्जे पर पहुँच गए कि उनका जिक्र (चर्चा) मशहूर मजहबी किताब 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' में आ गया।

रसखान की साहित्यिक विशेषताएँ

सैय्यद इब्राहिम रसखान के काव्य के आधार भगवान श्रीकृष्ण हैं। रसखान ने उनकी ही लीलाओं का गान किया है। उनके पूरे काव्य- रचना में भगवान श्रीकृष्ण की भक्ति की गई है। इससे भी आगे बढ़ते हुए रसखान ने सुफिज्म (तसव्वुफ) को भी भगवान श्रीकृष्ण के माध्यम से ही प्रकट किया है। इससे यह कहा जा सकता है कि वे सामाजिक एवं आपसी सौहार्द के कितने हिमायती थे।

होली वर्णन

कृष्ण भक्त कवियों की तरह रसखान ने भी कृष्ण जी की उल्लासमयी लीलाओं का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। उन्होंने अपने पदों में कृष्ण को गोपियों के साथ होली खेलते हुए दिखाया गया है, जिनमें कृष्ण गोपियों को किंभगो देते हैं। गोपियाँ फाल्गुन के साथ कृष्ण के अवगुणों की चर्चा करते हुए कहती हैं कि कृष्ण ने होली खेल कर हम में काम- वासना जागृत कर दी हैं। पिचकारी तथा घमार से हमें किंभगो दिया है। इस तरह हमारा हार भी टूट गया है। रसखान अपने पद में कृष्ण को मर्यादा हीन चित्रित किया है–

आवत लाल गुलाल लिए मग सुने मिली इक नार नवीनी।
त्यों रसखानि जगाइ हिये यटू मोज कियो मन माहि अधीनी।
सारी फटी सुकुमारी हटी, अंगिया दरकी सरकी रंग भीनी।
लाल गुलाल लगाइ के अंक रिझाइ बिदा करि दीनी।

हरि शंकरी

रसखान हरि और शंकर को अभिन्न मानते थे–

इक और किरीट बसे दुसरी दिसि लागन के गन गाजत री।
मुरली मधुरी धुनि अधिक ओठ पे अधिक नाद से बाजत री।
रसखानि पितंबर एक कंधा पर वघंबर राजत री।
कोड देखड संगम ले बुड़की निकस याह भेख सों छाजत री।

शिव स्तुति

रसखान के पदों में कृष्ण के अलावा कई और देवताओं का जिक्र मिलता है। शिव की सहज कृपालुता की ओर संकेत करते हुए कहते हैं कि उनकी कृपा दृष्टि संपूर्ण दुखों का नाश करने वाली है–

यह देखि धतूरे के पात चबात औ गात सों धूलि लगावत है। चहुँ ओर जटा अंटकै लटके फनि सों कफनी पहरावत हैं। रसखानि गेई चितवैं चित दे तिनके दुखदुंद भाजावत हैं। गजखाल कपाल की माल विसाल सोगाल बजावत आवत है।

गंगा गरिमा

गंगा की महिमा के वर्णन की परिपाटी का अनुसरण करते हुए रसखान ने भी गंगा की स्तूति में एक पद ही सही, मगर लिखा है–

बेद की औषद खाइ कछु न करै बहु संजम री सुनि मोसें।
तो जलापान कियौ रसखानि सजीवन जानि लियो रस तेर्तृ।
एरी सुधामई भागीरथी नित पथ्य अपथ्य बने तोहिं पोसे।
आक धतूरो चाबत फिरे विष खात फिरै सिव तेऐ भरोसें।

प्रेम तथा भक्ति

प्रेम तथा भक्ति के क्षेत्र में भी रसखान ने प्रेम का विषद् और व्यापक चित्रण किया है। 'राधा और कृष्ण प्रेम वाटिका' के मासी मासिन हैं। प्रेम का मार्ग कमल तंतू के समान नागुक और अतिधार के समान कठिन है। अत्यंत सीधा भी है और टेढ़ा भी है। बिना प्रेमानुभूति के आनंद का अनुभव नहीं होता। बिना प्रेम का बीज हृदय में नहीं उपजता है। ज्ञान, कर्म, उपासना सब अहंकार के मूल हैं। बिना प्रेम के दृढ़ निश्चय नहीं होता। रसखान द्वारा प्रतिपादित प्रेम आदर्शों से अनुप्रेरित है। रसखान ने प्रेम का स्पष्ट रुप में चित्रण किया है। प्रेम की परिभाषा, पहचान, प्रेम का प्रभाव, प्रेम प्रति के साधन एवं प्रेम की पराकाष्ठा प्रेम वाटिका में दिखाई पड़ती है। रसखान द्वारा प्रतिपादित प्रेम लौकिक प्रेम से बहुत ऊँचा है। रसखान ने 52 दोहों में प्रेम का जो स्वरूप प्रस्तुत किया है, वह पूर्णतया मौलिक हैं।

वा लकुटी अरु कामरिया पर राज तिहूँपुर को तजि डारौ।
आठहु सिद्धि नवाँ निधि को सुख नंद की गाइ चराई बिसरौ।
ए रसखानि गवै इन नैनन ते ब्ज के बन- बाग निहारै।
कोटिका यह कलघोत के धाम करील की कुंजन उपावारौ।

बाल्य वर्णन

धूरि भरे अति शोभित श्याम जू, तैसी बनी सिर सुन्दर चोटी।
खेलत खात फिरैं अँगना, पग पैंजनिया कटि पीरी कछौटी॥

वा छवि को रसखान विलोकत, वारत काम कलानिधि कोटी।
काग के भाग कहा कहिए हरि हाथ सों ले गयो माखन रोटी॥

कला पक्ष

कवि ने कहीं चमत्कार लाने के लिए अलंकारों को बरबस ठूंसने की चेष्टा नहीं की है। भाव और रस के प्रवाह पर भी उसकी दृष्टि केन्द्रित रही है। भावों और रसों की अभिव्यक्ति को उत्कृष्ट बनाने के लिए ही अलंकारों की योजना की गई है। उचित स्थान पर अलंकारों का ग्रहण किया गया है। उन्हें दूर तक खींचने का व्यर्थ प्रयास नहीं किया गया है। औचित्य के अनुसार ठीक स्थान पर उनका त्याग कर दिया गया है। रसखान द्वारा प्रयुक्त अलंकार अपने 'अलंकार' नाम को सार्थक करते हैं। शब्दालंकारों में अनुप्रास और अर्थालंकारों में उपमा, उत्प्रेक्षा एवं रूपक की निबंधना में कवि ने विशेष रुचि दिखाई है। बड़ी कुशलता के साथ उनका सन्निवेश किया है, उन्हें इस विधान में पूर्ण सफलता मिली है। अलंकारों की सुन्दर योजना से उनकी कविता का कला-पक्ष निस्सन्देह निखर आया है।

भाव पक्ष

रसखान के काव्य में छः स्थायी भावों की निबंधना मिलती है– रति, निर्वेद, उत्साह, हास, वात्सल्य और भक्ति। यह बात ध्यान देने योग्य है कि उन्होंने परंपराप्रथिता चार स्थायी भावों को ही गौरव दिया है, जिनमें अन्यतम भाव रति का है। क्रोध, जुगुप्ता, विस्मय, शोक और भय की उपेक्षा का मूल कारण यह प्रतीत होता है कि इन भावों का रति से मेल नहीं है। रसखान प्रेमी जीव थे, अतएव उन्होंने अपनी कविता में तीन प्रकार के रति भावों की रति, वात्सल्य और भक्ति की व्यंजना कीय जो भाव इनमें विशेष सहायक हो सकते थे उन्हें यथास्थान अभिव्यक्ति किया। दूसरा कारण यह भी है कि उनकी रचना मुक्तक है, अतएव प्रबन्ध काव्य की भांति उसमें सभी प्रकार के भावों का सन्निवेश आवश्यक भी नहीं है।

रस संयोजन

रसखान ने भक्तिरस के अनेक पद लिखे हैं, तथापि उनके काव्यों में भक्तिरस की प्रधानता नहीं है। वे प्रमुख रूप सेशृंगार के कवि हैं। उनका शृंगार कृष्ण की लीलाओं पर आश्रित है। अतएव सामान्य पाठक को यह भ्रांति हो

सकती है कि उनके अधिकांश पद भक्ति रस की अभिव्यक्ति करते हैं। शास्त्रीय दृष्टि से जिन पदों के द्वारा पाठक के मन में स्थित ईश्वर विषयक-रतिभाव रसता नहीं प्राप्त करता, उन पदों को भक्ति रस व्यंजक मानना तर्क संगत नहीं है। इसमें संदेह नहीं कि रसखान भक्त थे और उन्होंने अपनी रचनाओं में भजनीय कृष्ण का सरस रूप से निरूपण किया है।

भक्ति भावना

हिन्दी-साहित्य का भक्ति-युग (संवत् 1375 से 1700 वि. तक) हिन्दी का स्वर्ण युग माना जाता है। इस युग में हिन्दी के अनेक महाकवियों-विद्यापति, कबीरदास, मलिक मुहम्मद जायसी, सूरदास, नंददास, तुलसीदास, केशवदास, रसखान आदि ने अपनी अनूठी काव्य-रचनाओं से साहित्य के भण्डार को सम्पन्न किया। इस युग में सत्रहवीं शताब्दी का स्थान भक्ति-काव्य की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। सूरदास, मीराबाई, तुलसीदास, रसखान आदि की रचनाओं ने इस शताब्दी के गौरव को बढ़ा दिया है। भक्ति का जो आंदोलन दक्षिण से चला वह हिन्दी-साहित्य के भक्तिकाल तक सारे भारत में व्याप्त हो चुका था। उसकी विभिन्न धाराएं उत्तर भारत में फैल चुकी थीं। दर्शन, धर्म तथा साहित्य के सभी क्षेत्रों में उसका गहरा प्रभाव था। एक ओर सांप्रदायिक भक्ति का जोर था, अनेक तीर्थस्थान, मंदिर, मठ और अखाड़े उसके केन्द्र थे। दूसरी ओर ऐसे भी भक्त थे जो किसी भी तरह की सांप्रदायिक हलचल से दूर रह कर भक्ति में लीन रहना पसंद करते थे। रसखान इसी प्रकार के भक्त थे। वे स्वच्छंद भक्ति के प्रेमी थे।

भाषा

सोलहवीं शताब्दी में ब्रजभाषा साहित्यिक आसन पर प्रतिष्ठित हो चुकी थी। भक्त-कवि सूरदास इसे सार्वदेशिक काव्य भाषा बना चुके थे। इसीलिए बाबू जगन्नाथ दास रत्नाकर ब्रजभाषा का व्याकरण बनाते समय रसखान, बिहारी लाल और घनानन्द के काव्याध्ययन को सूरदास से अधिक महत्त्व देते हैं। बिहारी की व्यवस्था कुछ कड़ी तथा भाषा परिमार्जित एवं साहित्यिक है। घनानन्द में भाषा-सौन्दर्य उनकी 'लक्षणा' के कारण माना जाता है। रसखान की भाषा की विशेषता उसकी स्वाभाविकता है। उन्होंने ब्रजभाषा के साथ खिलवाड़ न कर उसके मधुर, सहज एवं स्वाभाविक रूप को अपनाया। साथ ही बोलचाल के शब्दों को साहित्यिक शब्दावली के विकट लाने का सफल प्रयास किया।

18

गोविंदस्वामी

गोविंदस्वामी अंतरी के रहने वाले सनाढ्य ब्राह्मण थे। वे विरक्त की भाँति आकर ब्रजमण्डल के महावन में रहने लगे थे। बाद में वे विट्ठलनाथ जी के शिष्य हुए, जिन्होंने इनके रचे पदों से प्रसन्न होकर इन्हें 'अष्टछाप' में लिया और फिर 'गोविंददास' नाम दिया। ये एक कवि होने के अतिरिक्त बड़े पक्के गवैया भी थे। तानसेन कभी-कभी इनका गाना सुनने के लिए आया करते थे।

परिचय

गोविंदस्वामी जी का जन्म ब्रज के निकट आंतरी नामक ग्राम में संवत 1562 (1505 ई.) विक्रमी में हुआ था। बाल्यावस्था से ही उनमें वैराग्य और भक्ति के अंकुर प्रस्फुटित हो रहे थे। कुछ दिनों तक गृहस्थाश्रम का उपभोग करने पर उन्होंने घर छोड़ दिया और वैराग्य ले लिया। महावन में जाकर भगवान के भजन और कीर्तन में समय का सदुपयोग करने लगे। महावन के टीले पर बैठकर शास्त्रोक्त विधि से वे कीर्तन करते थे। धीरे-धीरे उनकी प्रसिद्धि दूर-दूर तक फैल गयी।

दीक्षा तथा गोवर्धन निवास

गोविंदस्वामी गानविद्या के आचार्य थे। काव्य एवं संगीत का पूर्ण रूप से उन्हें ज्ञान था। गोसाईं विट्ठलनाथ जी उनकी भक्ति-निष्ठा और संगीत-माधुरी से

परिचित थे। यद्यपि दोनों का साक्षात्कार नहीं हुआ था तो भी दोनों एक दूसरे की ओर आकृष्ट थे। गोविंदस्वामी ने श्रीविट्ठलनाथ जी से संवत 1592 विक्रमी में गोकुल आकर ब्रह्मसम्बन्ध ले लिया। उनके परम कृपापात्र और भक्त हो गये। गोसाईं जी ने कर्म और भक्ति का तात्विक विवेचन किया। उनकी कृपा से वे गोविंदस्वामी से 'गोविंददास' हो गये। उन्होंने गोवर्धन को ही अपना स्थायी निवास स्थिर किया। गोवर्धन के निकट कदम्ब वृक्षों की एक मनोरम वाटिका में वे रहने लगे। वह स्थान 'गोविंददास की कदमखण्डी' नाम से प्रसिद्ध है।

ब्रज महिमा का बखान

गोविंददास सरस पदों की रचना करके श्रीनाथ जी की सेवा करते थे। ब्रज के प्रति उनका दृढ़ अनुराग और प्रगाढ़ आसक्ति थी। उन्होंने ब्रज की महिमा का बड़े सुन्दर ढंग से बखान किया है। वे कहते हैं– 'वैकुण्ठ जाकर क्या होगा, न तो वहां कलिन्दगिरिनन्दिनी तट को चूमने वाली सलोनी लतिकाओं की शीतल और मनोरम छाया है, न भगवान श्रीकृष्ण की मधुर वंशीध्वनि की रसालता है, न तो वहां नन्द-यशोदा हैं और न उनके चिदानन्दघनमूर्ति श्यामसुन्दर हैं, न तो वहां ब्रजरज है, न प्रेमोन्मत्त राधारानी के चरणारविन्द-मकरन्द का रसास्वादन है।'

अष्टछाप के कवि

गोविंददास स्वरचित पदों को श्रीनाथ जी के सम्मुख गाया करते थे। भक्ति पक्ष में उन्होंने दैन्य-भाव कभी नहीं स्वीकार किया। जिनके मित्र अखिल लोकपति साक्षात नन्दनन्दन हों, दैन्य भला उनका स्पर्श ही किस तरह कर सकता है। गोविंददास का तो स्वाभिमान भगवान की सख्य-निधि में संरक्षित और पूर्ण सुरक्षित था। गोसाईं विट्ठलनाथ ने उन्हें कवीश्वर की संज्ञा से समलंकृत कर 'अष्टछाप' में सम्मिलित किया था। संगीत सम्राट तानसेन उनकी संगीत-माधुरी का आस्वादन करने के लिये कभी-कभी उनसे मिलने आया करते थे।

एक समय आंतरी ग्राम से कुछ परिचित व्यक्ति गोविंददास से मिलने आये। वे यशोदा घाट पर स्नान कर रहे थे। उन्होंने गांव वालों को पहचान लिया, पर वे नहीं जान सके कि गोविंदस्वामी वे ही हैं। उन्होंने गोविंददास से पूछा कि– 'गोविंदस्वामी कहां हैं।' गोविंददास ने कहा– 'वे मरकर गोविंददास हो गए।' गांव वालों ने उनका चरण स्पर्श किया। उनके पवित्र दर्शन से अपने सौभाग्य की सराहना की।

भैरव राग गायन

एक दिन गोविंददास यशोदा घाट पर बैठकर बड़े प्रेम से भैरव राग गा रहे थे। प्रात:काल के शीतल शान्त वातावरण में चराचर जीव तन्मय होकर भगवान की कीर्तिमाधुरी का पान कर रहे थे। बहुत-से यात्री एकत्र हो गये। भक्त भगवान के रिझाने में निमग्न थे। वे गा रहे थे-

'आओ मेरे गोविंद, गोकुल चंदा।
भइ बड़ि बार खेलत जमुना तट, बदन दिखाय देहु आनंदा॥
गायन कीं आवन की बिरियां, दिन मनि किरन होति अति मंदा।
आए तात मात छतियों लगे, 'गोबिंद' प्रभु ब्रज जन सुख कंदा॥'

भक्त के हृदय के वात्सल्य ने भैरव राग का माधुर्य बढ़ा दिया। श्रोताओं में बादशाह अकबर भी प्रच्छन्न वेष में उपस्थित थे। उनके मुख से अनायास 'वाह-वाह' की ध्वनि निकल पड़ी। गोविंददास पश्चाताप करने लगे और उन्होंने उसी दिन से श्रीनाथ जी के सामने भैरव राग गाना छोड़ दिया। उनके हृदय में अपने प्राणेश्वर प्रेमदेवता ब्रजचन्द्र के लिये कितनी पवित्र निष्ठा थी।

श्रीनाथ जी के साथ लीलाएँ

गोविंददास जी की भक्ति सख्य भाव की थी। श्रीनाथ जी साक्षात प्रकट होकर उनके साथ खेला करते थे। बाल-लीलाएं किया करते थे। गोविंददास सिद्ध महात्मा और उच्च कोटि के भक्त थे। एक बार रासेश्वर नन्दनन्दन उनके साथ खेल रहे थे। कौतुकवश गोविंददास ने श्रीनाथ जी को कंकड़ मारा। गोसाईं विट्ठलनाथ जी से पुजारी ने शिकायत की। गोविंददास ने निर्भयतापूर्वक उत्तर दिया कि आपके लाल ने तो तीन कंकड़ मारे थे। श्रीविट्ठलनाथ जी ने उनके सौभाग्य की सराहना की।

भक्तों की लीलाएं बड़ी विचित्र होती हैं। उनको समझने के लिए प्रेमपूर्ण हृदय चाहिये। एक बार गोविंददास जी श्रीनाथ जी के साथ गुल्ली खेल रहे थे। राजभोग का समय हो रहा था। भगवान बिना दान दिये ही मन्दिर में चले गये। गोविंददास ने पीछा किया। श्रीनाथ जी को गुल्ली मारी। प्रेमराज्य में रमण करने वाले सखा की भावना मुखिया और पुजारियों की समझ में न आयी। उन्होंने उनको तिरस्कारपूर्वक मन्दिर से बाहर निकाल दिया। गोविंददास रास्ते पर बैठ गये। उन्होंने सोचा कि श्रीनाथ जी इसी मार्ग से जायंगे। बदला लेने में सुविधा होगी। उधर भगवान के सामने राजभोग रखा गया। मित्र रूठकर चले गये। विश्वपति के दरवाजे से अपमानित होकर गये थे। भोग की थाली पड़ी रह गयी। भगवान भोग स्वीकार करें,

असम्भव बात थी। मन्दिर में हाहाकार मच गया। ब्रज के रंगीले ठाकुर रूठ गये। उन्हें तो उनके सखा ही मना पायेंगे। विट्ठलनाथ जी ने गोविंददास की बड़ी मनौती की। वे उनके साथ मन्दिर आ गये। भगवान ने राजभोग स्वीकार किया। गोविंददास ने भोजन किया। मित्रता भगवान के पवित्र यश से धन्य हो गयी।

एक बार पुजारी श्रीनाथ जी के लिये राजभोग की थाली ले जा रहा था। गोविंददास ने कहा कि- 'पहले मुझे खिला दो।' पुजारी ने गोसाईं जी से कहा। गोविंददास ने सख्यभाव के आवेश में कहा कि- 'आपके लाला खा-पीकर मुझसे पहले ही गाय चराने निकल जाते हैं।' गोसाईं जी ने व्यवस्था कर दी कि राजभोग के साथ-ही-साथ गोविंददास को भी खिला दिया जाय।

भगवान को जो जिस भाव से चाहते हैं, वे उसी भाव से उनके वश में हो जाते हैं। एक समय गोविंददास को श्रीनाथ जी ने प्रत्यक्ष दर्शन दिया। वे श्यामढाक पर बैठकर वंशी बजा रहे थे। इधर मन्दिर में उत्थापन का समय हो गया था। गोसाईं जी स्नान करके मन्दिर में पहुँच गये थे। श्रीनाथ जी उतावली में वृक्ष से कूद पड़े। उनका बागा वृक्ष में उलझकर फट गया। श्रीनाथ जी का पट खुलने पर गोसाईं विट्ठलनाथ ने देखा कि उनका बागा फटा हुआ है। बाद में गोविंददास ने रहस्योद्घाटन किया। गोसाईं जी को साथ ले जाकर वृक्ष पर लटका हुआ चीर दिखलाया। गोविंददास का सखा भाव सर्वथा सिद्ध था।

कभी-कभी कीर्तन गान के समय श्रीनाथ जी स्वयं उपस्थित रहते थे। एक बार उन्हें श्रीनाथ जी ने राधारानी सहित प्रत्यक्ष दर्शन दिये। श्रीनाथ जी स्वयं पद गा रहे थे और श्रीराधा जी ताल दे रही थीं। गोविंददास ने श्रीगोसाईं जी से इस घटना का स्पष्ट वर्णन किया।

श्रीनाथ जी उनसे प्रकट रूप से बात करते थे, पर देखने वालों की समझ में कुछ भी नहीं आता था। एक समयशृंगार दर्शन में श्रीनाथ जी की पाग ठीक रूप से नहीं बांधी गयी थी। गोविंददास ने मन्दिर में प्रवेश करके उनकी पाग ठीक की। भक्तों के चरित्र की विलक्षणता का पता भगवान के भक्तों को ही लगता है।

मृत्यु

गोविंदस्वामी ने गोवर्धन में एक कन्दरा के निकट संवत 1642 (1585 ई.) विक्रमी में लीला-प्रवेश किया। उन्होंने आजीवन श्रीराधा-कृष्ण कीशृंगार-लीला के पद गया। भगवान को अपनी संगीत और काव्य-कला से रिझाया।

19

नंददास

नंददास 16वीं शती के अंतिम चरण के कवि थे। वे 'अष्टछाप' के प्रमुख कवियों में से एक थे, जो सूरदास के बाद सबसे अधिक प्रसिद्ध हुए। नंददास भक्तिरस के पूर्ण मर्मज्ञ और ज्ञानी थे।

परिचय

नंददास जी का जन्म संवत 1570 (1513 ई.) विक्रमी में हुआ था। एक मान्यता के अनुसार इनका जन्म उत्तर प्रदेश के एटा जिले में सोरों के पास रामपुर गांव में हुआ था। उनके पिता का नाम जीवाराम और चाचा का आत्माराम था। वे शुक्ल ब्राह्मण थे और रामपुर ग्राम के निवासी थे। कहते हैं कि गोस्वामी तुलसीदास उनके गुरुभाई थे। नंददास उनको बड़ी प्रतिष्ठा, सम्मान और श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। वे युवक होने पर उन्हीं के साथ काशी में रहकर विद्याध्ययन किया करते थे। नंददास के विषय में 'भक्तमाल' में लिखा है–

'चन्द्रहास-अग्रज सुहृद परम प्रेम में पगे'

इससे इतना ही सूचित होता है कि इनके भाई का नाम चंद्रहास था। 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' के अनुसार ये तुलसीदास के भाई थे, किन्तु अब यह बात प्रामाणिक नहीं मानी जाती। उसी वार्ता में यह भी लिखा है कि द्वारका जाते हुए नंददास सिंधुनद ग्राम में एक रूपवती खत्रानी पर आसक्त हो गए। ये उस स्त्री के घर में चारो ओर चक्कर लगाया करते थे। घरवाले हैरान होकर कुछ

दिनों के लिए गोकुल चले गए। ये वहाँ भी जा पहुँचे। अंत में वहीं पर गोसाईं विट्ठलनाथ जी के सदुपदेश से इनका मोह छूटा और ये अनन्य भक्त हो गए। इस कथा में ऐतिहासिक तथ्य केवल इतना ही है कि इन्होंने गोसाईं विट्ठलनाथ जी से दीक्षा ली।

वृन्दावन आगमन

एक बार काशी से एक वैष्णव-समाज भगवान रणछोर के दर्शन के लिये द्वारका जा रहा था। नंददास ने तुलसीदास जी से आज्ञा मांगी। उन्होंने पहते तो जाने की मनाही कर दी, पर बाद में नंददास ने उनको पर्याप्त अनुनय-विनय से प्रसन्न कर लिया। मथुरा में उन्होंने वैष्णव समाज का साथ छोड़ दिया। वे वहां से द्वारका के लिये स्वयं आगे बढ़े। दैवयोग से वे रास्ता, भूल गये। कुरुक्षेत्र के सन्निकट सीहनन्द नामक गांव में आ पहुँचे और वहां से किसी कारणवश पुनः श्रीवृन्दावन को लौट पड़े। नंददास भगवती कालिन्दी के तट पर पहुँच गये। यमुना दर्शन से उनका लौकिक माया-मोह का बन्धन टूट गया।

दीक्षा

वृन्दावन आने के बाद नंददास ने यमुना के उस पार वृन्दावन के बड़े-बड़े मन्दिर देखे। अपने जन्म-जन्म के सखा का प्रेम-निकुंज देखा। प्रियतम की मुसकान यमुना तट की धवल और परमोज्ज्वल बालुका में बिखर रही थी। उन्हें ब्रजदेवता प्रेमालिंगन के लिये बुला रहे थे। वैष्णव-परिवार से गोसाईं विट्ठलनाथ ने पूछा कि- 'ब्राह्मण देवता कहां रह गये?' लोग आश्चर्यचकित हो उठे। नंददास को अपने शिष्य भेजकर उन्होंने बुलाया। वे गोसोईं जी के परम पवित्र दर्शन से धन्य हो उठे। गोसाईं जी ने उनको 'नवनीतप्रिय' का दर्शन कराया। नंददास जी को दीक्षित किया, उन्हें देहानुसन्धान नहीं रह गया। चेत होने पर नंददास की काव्यवाणी ने भगवान की लीला रसानुभूति का मांगलिक गान गाया। वे भागवत हो उठे। उनके हृदय में शुद्ध भगवत्प्रेम की भागीरथी बहने लगी। श्रीगोसाईं विट्ठलनाथ ने उन्हें गले लगाया। नंददास ने गुरु-चरण की वन्दना की, स्तुति की। उनकी भारती के स्वरमय सरस कण्ठ ने गुरुकृपा के माधुर्य से उपस्थित वैष्णव मण्डली को कृतार्थ कर दिया। वे गाने लगे-

श्रीबिट्ठल मंगल रूप निधान।
कोटि अमृत सम हंस मृदु बोलन, सब के जीवन प्रान॥

करुनासिंधु उदार कल्पतरु देत अभय पद दान।
सरन आये की लाज चहुं दिसि बाजे प्रकट निसान॥
तुमरे चरन कमल के मकरंद मन मधुकर लपटान।
'नंददास' प्रभु द्वारे रटत है, रुचत नहीं कछु आन॥

काव्य-साधना

नंददास ने गोसाईं जी के चरण-कमल के स्थायी आश्रय के लिये उत्कट इच्छा प्रकट की। श्रीवल्लभनन्दन दास कहलाने में उन्होंने परम गौरव अनुभव किया। नंददास ने उनके चरण-कमलों पर सर्वस्व निछावर कर दिया। उनका मन भगवान श्रीकृष्ण में पूर्ण आसक्त हो गया। उन्होंने गोवर्धन में श्रीनाथ जी का दर्शन किया। वे भगवान की किशोर-लीला के सम्बन्ध में पद रचना करने लगे। श्रीकृष्ण लीला का प्राणधन रासरस ही उनकी काव्य-साधना का मुख्य विषय हो गया। वे कभी गोवर्धन और कभी गोकुल में रहते थे।

उच्च कोटि के कवि

नंददास उच्च कोटि के कवि थे। उन्होंने सम्पूर्ण भागवत को भाषा का रूप दिया। कथावाचकों और ब्राह्मणों ने गोसाईं विट्ठलनाथ से कहा कि- 'हम लोगों की जीविका चली जायगी'। गुरु के आदेश से महाकवि नंददास ने केवल ब्रजलीला-सम्बन्धी पदों के और प्रधान रूप से रासरस के वर्णन को बचा रखा, शेष भाषा भागवत को यमुना में बहा दिया। नंददास ऐसे निरूस्पृह और रसिक श्रीकृष्ण भक्त का गौरव इस घटना से बढ़ गया।

सूरदास से घनिष्ठता

नंददास की सूरदास से बड़ी घनिष्ठता थी। महाकवि सूर ने उनके बोध के लिये अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'साहित्य-लहरी' की रचना की थी। एक दिन महात्मा सूर ने उनसे स्पष्ट कह दिया था कि- 'अभी तुम में वैराग्य का अभाव है'। अतः महाकवि सूर की आज्ञा से वे घर चले आये। कमला नामक कन्या से उन्होंने विवाह कर लिया। अपने ग्राम का नाम श्यामपुर रखा। श्यामसर नामक एक तालाब बनवाया। वे आनन्द से घर पर रहकर भगवान की रसमयी लीला पर काव्य लिखने लगे, पर उनका मन तो श्रीनाथ जी के चरणों पर न्योछावर हो चुका था।

कुछ दिनों के बाद वे गोवर्धन चले आये। वे स्थायी रूप से मानसी गंगा पर रहने लगे तथा शेष जीवन श्रीनाथ जी की सेवा में समर्पित कर दिया।

कृष्ण का यश-चिन्तन

भगवान श्रीकृष्ण का यश-चिन्तन ही नंददास के काव्य का प्राण था। वह कहा करते थे कि- 'जिस कविता में 'हरि' के यश का रस न मिले, उसे सुनना ही नहीं चाहिये।' भगवान श्रीकृष्ण की रूप-माधुरी के वर्णन में उन्होंने जिस योग्यता का परिचय दिया, वह अपने ढंग की एक ही वस्तु है। नंददास ने गोपी प्रेम का अत्यन्त उत्कृष्ट आदर्श अपने काव्य में निरूपित किया है। ब्रज-काव्य साहित्य में रासरस का पारावार ही उनकी लेखनी से उमड़ उठा। नित्य नवीन रासरस, नित्य गोपी और नित्य श्रीकृष्ण के सौन्दर्य-माधुर्य में वे रात-दिन सराबोर रहते थे। रसिकों के संग में रहकर हरि-लीला गाते रहने को ही वे जीवन का परमानन्द समझते थे। उनकी दृढ़ मान्यता थी-

'रूप प्रेम आनन्द रस जो कछु जग में आहि।
सो सब गिरिधर देव को, निधरक बरनौं ताहि॥'

गोलोक प्राप्ति

नंददास जी ने संवत 1640 (1583 ई.) विक्रमी में गोलोक प्राप्त किया। वे उस समय मानसी गंगा पर रहते थे। एक बार अकबर की राजसभा में तानसेन नंददास का प्रसिद्ध पद 'देखौ देखौ री नागर नट निरतत कालिन्दी तट' गा रहे थे। उसका अन्तिम चरण था- 'नंददास तहं गावै निपट निकट।' बादशाह आश्चर्य में पड़ गये कि नंददास किस तरह 'निपट निकट' थे। वे बीरबल के साथ उनसे मिलने के लिये मानसी गंगा पर गये। अकबर ने नंददास से अपनी शंका का समाधान चाहा। नंददास के प्राण प्रेमविह्वल हो गये, उनकी कामना ने उनको अनुप्राणित किया।

मोहन पिय की मुसकनि, ढलकनि मोरमुकुट की।
सदा बसौ मन मेरे फरकनि पियरे पट की॥

उनके नेत्र सदा के लिये बंद हो गये। गोसाईं विट्ठलनाथ ने उनके सौभाग्यपूर्ण लीला-प्रवेश की सराहना की। नंददास महारसिक प्रेमी भक्त थे।

कृतियाँ

नंददास जी की निम्नलिखित मुख्य रचनाएँ हैं–

पद्य रचना–'रासपंचाध्यायी', 'भागवत दशमस्कंध', 'रुक्मिणीमंगल', 'सिद्धांत पंचाध्यायी', 'रूपमंजरी', 'मानमंजरी', 'विरहमंजरी', 'नामचिंतामणिमाला', 'अनेकार्थनाममाला', 'दानलीला', 'मानलीला', 'अनेकार्थमंजरी', 'ज्ञानमंजरी', 'श्यामसगाई', 'भ्रमरगीत', 'सुदामाचरित्र'।

गद्यरचना–'हितोपदेश', 'नासिकेतपुराण'।

20

कुम्भनदास

कुम्भनदास अष्टछाप के एक कवि थे और परमानंददास जी के ही समकालीन थे। ये पूरे विरक्त और धन, मान, मर्यादा की इच्छा से कोसों दूर थे। ये मूलत: किसान थे। अष्टछाप के कवियों में सबसे पहले कुम्भनदास ने महाप्रभु वल्लभाचार्य से दीक्षा ली थी। पुष्टिमार्ग में दीक्षित होने के बाद श्रीनाथजी के मंदिर में कीर्तन किया करते थे। ये किसी से दान नहीं लेते थे। इन्हें मधुरभाव की भक्ति प्रिय थी और इनके रचे हुए लगभग 500 पद उपलब्ध हैं।

परिचय

अनुमानत: कुम्भनदास का जन्म सन् 1468 ई. में, सम्प्रदाय प्रवेश सन् 1492 ई. में और गोलोकवास सन् 1582 ई. के लगभग हुआ था। पुष्टिमार्ग में दीक्षित तथा श्रीनाथ जी के मन्दिर में कीर्तनकार के पद पर नियुक्त होने पर भी उन्होंने अपनी वृत्ति नहीं छोड़ी और अन्त तक निर्धनावस्था में अपने परिवार का भरण-पोषण करते रहे। परिवार में इनकी पत्नी के अतिरिक्त सात पुत्र, सात पुत्र-वधुएँ और एक विधवा भतीजी थी। अत्यन्त निर्धन होते हुए भी ये किसी का दान स्वीकार नहीं करते थे। राजा मानसिंह ने इन्हें एक बार सोने की आरसी और एक हजार मोहरों की थैली भेंट करनी चाही थी परन्तु कुम्भनदास ने उसे अस्वीकार कर दिया था। इन्होंने राजा मानसिंह द्वारा दी गयी जमुनावतो गाँव की माफी की भेंट भी स्वीकार नहीं की थी और उनसे कह दिया था कि यदि आप

दान करना चाहते है तो किसी ब्राह्मण को दीजिए। अपनी खेती के अन्न, करील के फूल और टेटी तथा झाड़ के बेरों से ही पूर्ण सन्तुष्ट रहकर ये श्रीनाथजी की सेवा में लीन रहते थे। ये श्रीनाथजी का वियोग एक क्षण के लिए भी सहन नहीं कर पाते थे।

प्रसिद्ध है कि एक बार अकबर ने इन्हें फतेहपुर सीकरी बुलाया था। सम्राट की भेजी हुई सवारी पर न जाकर ये पैदल ही गये और जब सम्राट ने इनका कुछ गायन सुनने की इच्छा प्रकट की तो इन्होंने गाया–

भक्तन को कहा सीकरी सों काम।
आवत जात पनहिया टूटी बिसरि गयो हरि नाम।
जाको मुख देखे दुःख लागे ताको करन करी परनाम।
कुम्भनदास लाला गिरिधर बिन यह सब झूठो धाम।

अकबर को विश्वास हो गया कि कुम्भनदास अपने इष्टदेव को छोड़कर अन्य किसी का यशोगान नहीं कर सकते फिर भी उन्होंने कुम्भनदास से अनुरोध किया कि वे कोई भेंट स्वीकार करें, परन्तु कुंभन दास ने यह माँग की कि आज के बाद मुझे फिर कभी न बुलाया जाय। कुंभनदास के सात पुत्र थे। परन्तु गोस्वामी विट्ठलनाथ के पूछने पर उन्होंने कहा था कि वास्तव में उनके डेढ़ ही पुत्र हैं क्योंकि पाँच लोकासक्त हैं, एक चतुर्भुजदास भक्त हैं और आधे कृष्णदास हैं, क्योंकि वे भी गोवर्धन नाथ जी की गायों की सेवा करते हैं। कृष्णदास को जब गायें चराते हुए सिंह ने मार डाला था तो कुम्भनदास यह समाचार सुनकर मूर्च्छित हो गये थे, परन्तु इस मूर्च्छा का कारण पुत्र-शोक नहीं था, बल्कि यह आशंका थी कि वे सूतक के दिनों में श्रीनाथजी के दर्शनों से वंचित हो जायेंगे। भक्त की भावना का आदर करके गोस्वामी जी ने सूतक का विचार छोड़कर कुम्भनदास को नित्य-दर्शन की आज्ञा दे दी थी। श्रीनाथजी का वियोग सहन न कर सकने के कारण ही कुम्भनदास गोस्वामी विट्ठलनाथ के साथ द्वारका नहीं गये थे और रास्ते से लौट आये थे। गोस्वामी जी के प्रति भी कुम्भनदास की अगाध भक्ति थी। एक बार गोस्वामीजी के जन्मोत्सव के लिए इन्होंने अपने पेड़े और पूड़ियाँ बेंचकर पाँच रुपये चन्दे में दिये थे। इनका भाव था कि अपना शरीर, प्राण, घर, स्त्री, पुत्र बेचकर भी यदि गुरु की सेवा की जाय, तब कहीं वैष्णव सिद्ध हो सकता है।

मधुर-भाव की भक्ति

कुम्भनदास को निकुंजलीला का रस अर्थात् मधुर-भाव की भक्ति प्रिय थी और इन्होंने महाप्रभु से इसी भक्ति का वरदान माँगा था। अन्त समय में इनका मन मधुर-भाव में ही लीन था, क्योंकि इन्होंने गोस्वामीजी के पूछने पर इसी भाव का एक पद गाया था। पुनः पूछने पर कि तुम्हारा अन्तःकरण कहाँ है, कुम्भनदास ने गाया था-

रसिकिनि रस में रहत गड़ी।
कनक बेलि वृषभान नन्दिनी स्याम तमाल चढ़ी॥
विहरत श्री गोवर्धन धर रति रस केलि बढ़ी॥

प्रसिद्ध है कि कुम्भनदास ने शरीर छोड़कर श्रीकृष्ण की निकुंज-लीला में प्रवेश किया था।

रचनायें

कुम्भनदास के पदों की कुल संख्या जो 'राग-कल्पद्रुम' 'राग-रत्नाकर' तथा सम्प्रदाय के कीर्तन-संग्रहों में मिलते हैं, 500 के लगभग हैं। इन पदों की संख्या अधिक है। जन्माष्टमी, राधा की बधाई, पालना, धनतेरस, गोवर्द्धनपूजा, इंद्रमानभंग, संक्रान्ति, मल्हार, रथयात्रा, हिंडोला, पवित्रा, राखी वसन्त, धमार आदि के पद इसी प्रकार के हैं।

कृष्णलीला से सम्बद्ध प्रसंगों में कुम्भनदास ने गोचार, छाप, भोज, बीरी, राजभोग, शयन आदि के पद रचे हैं, जो नित्यसेवा से सम्बद्ध हैं।

इनके अतिरिक्त प्रभुरूप वर्णन, स्वामिनी रूप वर्णन, दान, मान, आसक्ति, सुरति, सुरतान्त, खण्डिता, विरह, मुरली रुक्मिणीहरण आदि विषयों से सम्बद्धशृंगार के पद भी हैं। कुम्भनदास ने गुरुभक्ति और गुरु के परिजनों के प्रति श्रद्धा प्रकट करने के लिए भी अनेक पदों की रचना की। आचार्य जी की बधाई, गुसाईं जी की बधाई, गुसाईं जी के पालना आदि विषयों से सम्बद्ध पर इसी प्रकार के हैं। कुम्भनदास के पदों के उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि इनका दृष्टिकोण सूर और परमानन्द की अपेक्षा अधिक साम्प्रदायिक था। कविता की दृष्टि से इनकी रचना में कोई मौलिक विशेषताएँ नहीं हैं। उसे हम सूर का अनुकरण मात्र मान सकते हैं।

कुम्भनदास के पदों का एक संग्रह 'कुम्भनदास' शीर्षक से श्रीविद्या विभाग, कांकरोली द्वारा प्रकाशित हुआ है।

21

कंबन

कंबन तमिल भाषा के प्रसिद्ध ग्रंथ 'कंबरामायण' के रचियता थे। इनका जन्म तमिलनाडु के चोल राज्य में तिरुवलुंपूर नामक गांव में हुआ था। कंबन वैष्णव थे। उनके समय तक बारह प्रमुख आलवार हो चुके थे और भक्ति तथा प्रपति का शास्त्रीय विवेचन करने वाले यामुन, रामानुज आदि आचार्यों की परंपरा भी चल पड़ी थी। 'कंबरामायण' का प्रचार-प्रसार केवल तमिलनाडु में ही नहीं, उसके बाहर भी हुआ। यह तमिल साहित्य की सर्वोत्कृष्ट कृति एवं एक बृहत ग्रंथ है।

जीवन परिचय

जनश्रुति के अनुसार कंबन का जन्म ईसा की नवीं शताब्दी में हुआ था। कुछ विद्वान् इनका समय बारहवीं शताब्दी और कुछ नवीं शताब्दी मानते हैं। कंबन के वास्तविक नाम का पता नहीं है। 'कंबन' उनका उपनाम था। इनके माता-पिता का उनकी बाल्यावस्था में ही देहांत हो गया। अनाथ बालक को पालने वाला कोई नहीं था। उनके दूर के एक संबंधी अर्काट जिले के सदैयप्प वल्लल नामक धनी किसान के दरवाजे पर कंबन को चुपचाप छोड़ आए। दयालु वल्लल ने बालक को अपने बच्चों की देख-रेख के काम के लिए अपने घर में रख लिया। जब उन्होंने देखा कि उनके बच्चों के साथ कंबन भी पढ़ने में रुचि लेने लगा है तो सदैयप्प वल्लल ने कंबन की शिक्षा का भी पूरा प्रबंध कर दिया। इस प्रकार

कंबन को विद्या प्राप्त हुई और उनके अंदर से काव्य की प्रतिभा प्रस्फुटित हो गई।

कंबरामायण

कंबन वैष्णव थे। उनके समय तक बारहों प्रमुख आलवार हो चुके थे और भक्ति तथा प्रपति का शास्त्रीय विवेचन करने वाले यामुन, रामानुज आदि आचार्यों की परंपरा भी चल पड़ी थी। कंबन ने प्रमुख आलवार 'नम्मालवार' की प्रशस्ति की है। कहा तो यहाँ तक जाता है कि कंबन की 'रामायण' रंगनाथ जी को तभी स्वीकृत हुई, जब उन्होंने 'नम्मालवार' की स्तुति उक्त ग्रंथ के आरंभ में की। इतना ही नहीं, 'कंबरामायण' में यत्र-तत्र उक्त आलवार की श्रीसूक्तियों की छाया भी दिखाई पड़ती है, तो भी कंबन ने अपने महाकाव्य को केवल सांप्रदायिक नहीं बनाया है, उन्होंने शिव, विष्णु के रूप में भी परमात्मा का स्तवन किया है और रामचंद्र को उस परमात्मा का ही अवतार माना है। ग्रंथारंभ में एवं प्रत्येक कांड के आदि में प्रस्तुत मंगलाचरण के पद्यों से उक्त तथ्य प्रकट होता है। प्रो.टी.पी. मीनाक्षिसुंदरम भी 'कंबरामायण' को केवल 'वैष्णव संप्रदाय' का 'ग्रंथ' नहीं मानते। इसीलिए शैवों तथा वैष्णवों में 'कंबरामायण' का समान आदर हुआ और दोनों संप्रदायों के पारस्परिक वैमनस्य के दूर होने में इससे पर्याप्त सहायता मिली।

सर्वोत्कृष्ट कृति

'कंबरामायण' तमिल साहित्य की सर्वोत्कृष्ट कृति एक बृहत ग्रंथ है और इसके रचयिता कंबन 'कविचक्रवर्ती' की उपाधि से प्रसिद्ध हैं। उपलब्ध ग्रंथ में 10,050 पद्य हैं और बालकाण्ड से युद्धकाण्ड तक छः कांडों का विस्तार इसमें मिलता है। इससे संबंधित एक उत्तरकाण्ड भी प्राप्त है, जिसके रचयिता कंबन के समसामयिक एक अन्य महाकवि 'ओट्टककूत्तन' माने जाते हैं। पौराणिकों के कारण 'कंबरामायण' में अनेक प्रक्षेप भी जुड़ गए हैं, किंतु इन्हें बड़ी आसानी से पहचाना जा सकता है, क्योंकि कंबन की सशक्त भाषा और विलक्षण प्रतिपादन शैली का अनुकरण शक्य नहीं है।

कथानक

'कंबरामायण' का कथानक 'वाल्मीकि रामायण' से लिया गया है, परंतु कंबन ने मूल 'रामायण' का अनुवाद अथवा छायानुवाद न करके, अपनी दृष्टि

और मान्यता के अनुसार घटनाओं में सैकड़ों परिवर्तन किए हैं। विविध परिस्थितियों के प्रस्तुतीकरण, घटनाओं के चित्रण, पात्रों के संवाद, प्राकृतिक दृश्यों के उपस्थापन तथा पात्रों की मनोभावनाओं की अभिव्यक्ति में पदे-पदे मौलिकता मिलती है। तमिल भाषा की अभिव्यक्ति और संप्रेषणीयता को सशक्त बनाने के लिए भी कवि ने अनेक नए प्रयोग किए हैं। छंदोविधान, अलंकार प्रयोग तथा शब्द नियोजन के माध्यम से कंबन ने अनुपम सौंदर्य की सृष्टि की है। सीता-राम का विवाह, शूर्पणखा प्रसंग, बालि वध, हनुमान द्वारा सीता संदर्शन, मेघनाद वध, राम-रावण युद्ध आदि प्रसंग अपने-अपने काव्यात्मक सौंदर्य के कारण विशेष आकर्षक हैं। लगता है प्रत्येक प्रसंग अपने में पूर्ण है और नाटकीयता से ओतप्रोत है। घटनाओं के विकास के सुनिश्चित क्रम हैं। प्रत्येक घटना आरंभ, विकास और परिसमाप्ति में एक विशिष्ट शिल्प विधान लेकर सामने आती है।

राम चरित्र की व्याख्या

वाल्मीकि ने राम के रूप में 'पुरुष पुरातन' का नहीं, अपितु 'महामानव का चित्र उपस्थित किया था, जबकि कंबन ने अने युगादर्श के अनुरूप राम को परमात्मा के अवतार के साथ आदर्श महामानव के रूप में भी प्रतिष्ठित किया। वैष्णव भक्ति तत्कालीन मान्यताओं और जनता की भक्तिपूत भावनाओं से जुड़े रहकर इस महाकवि ने राम के चरित्र को महत्ता पूरित एवं परम पूर्णत्व समन्वित ऐसे आयामों में प्रस्तुत किया, जिनकी इयत्ता और ईदृक्ता सहज ग्राह्य होते हुए भी अकल्पनीय रूप से मनोहर किंवा मनोरम थी। यह निश्चित ही कंबन जैसा अनन्य सुलभ प्रतिभावान महाकवि ही कर सकता था।

तुलसी और कंबन

कंबन की 'कंबरामायण' का प्रचार-प्रसार केवल तमिलनाडु में ही नहीं, उसके बाहर भी हुआ। तंजौर जिले में स्थित तिरुप्पणांदाल मठ की एक शाखा वाराणसी में है। लगभग 350 वर्ष पूर्व कुमारगुरुपर नाम के एक संत उक्त मठ में रहते थे। संध्या वेला में वे नित्यप्रति गंगा तट पर आकर 'कंबरामायण' की व्याख्या हिंदी में सुनाया करते थे। गोस्वामी तुलसीदास उन दिनों काशी में ही थे और संभवत: 'रामचरितमानस' की रचना कर रहे थे। दक्षिण में जनविश्वास प्रचलित है कि तुलसीदास ने 'कंबरामायण' से प्रेरणा ही प्राप्त नहीं की, अपितु मानस में कई स्थलों पर अपने ढंग से, उसकी सामग्री का उपयोग भी किया। यद्यपि उक्त विश्वास

की प्रामाणिकता विवादास्पद है, तो भी इतना सच है कि तुलसी और कंबन की रचनाओं में कई स्थलों पर आश्चर्यजनक समानता मिलती है।

विद्वान् कथन

श्री वी. वी. एस. अय्यर के अनुसार 'कंब रामायण' विश्व साहित्य में उत्तम कृति है। 'इलियड', 'पैराडाइज लॉस्ट' और 'महाभारत से ही नहीं, वरन् आदिकाव्य 'वाल्मीकि रामायण' की तुलना में भी यह अधिक सुंदर है।'

22

दादूदयाल

दादूदयाल (1544–1603 ई.) हिन्दी के भक्तिकाल में ज्ञानाश्रयी शाखा के प्रमुख सन्त कवि थे। इनके 52 पट्टशिष्य थे, जिनमें गरीबदास, सुंदरदास, रज्जब और बखना मुख्य हैं। दादू के नाम से 'दादू पंथ' चल पड़ा। ये अत्यधिक दयालु थे। इस कारण इनका नाम 'दादू दयाल' पड़ गया। दादू हिन्दी, गुजराती, राजस्थानी आदि कई भाषाओं के ज्ञाता थे। इन्होंने शबद और साखी लिखीं। इनकी रचना प्रेमभावपूर्ण है। जात-पाँत के निराकरण, हिन्दू-मुसलमानों की एकता आदि विषयों पर इनके पद तर्क-प्रेरित न होकर हृदय-प्रेरित हैं।

परिचय

दादू का जन्म फाल्गुनी सुदी 8 गुरुवार 1601 वि. (1544 ईस्वी) में भारतवर्ष के गुजरात राज्य के अहमदाबाद नगर में हुआ था। कहा जाता है कि लोदी राम नामक ब्राह्मण को साबरमती नदी में बहता हुआ एक बालक मिला। अधेड़ आयु के उपरांत भी लोधीराम के कोई पुत्र नहीं था जिसकी उन्हें सदा लालसा रहती थी। लोदीराम नामक ब्राह्मण ने दादू का पालन-पोषण किया। ग्यारह वर्ष की अवस्था में दादू को भगवान ने वृद्ध के रूप में दर्शन दिए और इन्हीं वृद्ध 'बुड्ढन' या वृद्धानन्द को दादू का गुरु माना जाता हैं। इस बात का उल्लेख जनगोपाल कृत जन्मलीला परची में मिलता हैं। इस पंथ के अनुयायी अपने साथ एक सुमरनी रखते हैं। सतराम कहकर ये आपस में अभिवादन करते हैं। दादू के

बाद यह संप्रदाय धीरे-धीरे पांच उपसंप्रदायो में विभाजित हो गया, जो निम्नलिखित हैं–1. खालसा 2. विरक्त तपस्वी 3. उत्तराधे व स्थान धारक 4. खाकी 5. नागा। दादू पंथियों का सत्संग स्थल 'अलख दरीबा' के नाम से जाना जाता हैं। दादू दयाल के समकालीन हिन्दुस्थान के बादशाह अकबर की दादू से भेंट वि. सं. 1643 (1586 ईस्वी) में फतेहपुर सीकरी में हुई। सत्संग 40 दिन तक चलती रही।

एक दिन उन्हें एक सिद्ध संत के दर्शन हुए और उन्होंने अपनी हार्दिक व्यथा उन संत को कह सुनाई। संत ने शरणागत जानकर लोधीरम को पुत्र रत्न की प्राप्ति का वरदान दिया और कहा 'साबरमती नदी में तैरते कमल पत्र पर शयन करते बालक को अपने घर ले आना वही तुम्हारा पुत्र होगा' पुत्र प्राप्ति की कामना लेकर श्री लोधीरम ब्राहमण साबरमती नदी के तट पर गए जहाँ उन्हें पानी पर तैरते कमल पर लेटा हुआ बालक प्राप्त हुआ। इस प्रकार शुभमिति फाल्गुन शुक्ल अष्टमी गुरुवार के दिन विक्रम संवत 1601 में संत शिरोमणि सदगुरु श्री दादू दयाल जी महाराज का अवतार हुआ।

अपनी प्रिय से प्रिय वस्तु परोपकार के लिए तुरंत दे देने के स्वाभाव के कारण उनका नाम "दादू" रखा गया। आप दया दीनता व करुणा के खजाने थे, क्षमा शील और संतोष के कारण आप 'दयाल' अर्थात् "दादू दयाल" कहलाये।

विक्रम सं. 1620 में 12 वर्ष की अवस्था में दादूजी गृह त्याग कर सत्संग के लिए निकल पड़े, केवल प्रभु चिंतन में ही लीन हो गए। अहमदाबाद से प्रस्थान कर भ्रमण करते हुए राजस्थान की आबू पर्वतमाला, तीर्थराज पुष्कर से होते हुए करडाला धाम (जिला जयपुर) पधारे और पूरे 6 वर्षों तक लगातार प्रभु की साधना की कठोर साधना से इन्द्र को आशंका हुई की कहीं इन्द्रासन छीनने के लिए तो वे तपस्या नहीं कर रहे, इसीलिए इंद्र ने उनकी साधना में विघ्न डालने के लिए अप्सरा रूप में माया को भेजा, जिसने साधना में बाधा डालने के लिए अनेक उपाय किये मगर उस महान संत ने माया में व अपने में एकात्म दृष्टि से बहन और भाई का सनातन प्रतिपादित कर उसके प्रेमचक्र को एक पवित्र सूत्र से बाँध कर शांत कर दिया।

संत दादू जी विक्रम सं. 1625 में सांभर पधारे, यहाँ उन्होंने मानव-मानव के भेद को दूर करने वाले, सच्चे मार्ग का उपदेश दिया। तत्पश्चात दादू जी महाराज आमेर पधारे तो वहां की सारी प्रजा और राजा उनके भक्त हो गए।

उसके बाद वे फतेहपुर सीकरी भी गए जहाँ पर बादशाह अकबर ने पूर्ण भक्ति व भावना से दादू जी के दर्शन कर उनके सत्संग व उपदेश ग्रहण करने के इच्छा प्रकट की तथा लगातार 40 दिनों तक दादूजी से सत्संग करते हुए उपदेश ग्रहण किया। दादूजी के सत्संग प्रभावित होकर अकबर ने अपने समस्त साम्राज्य में गौ हत्या बंदी का फरमान लागू कर दिया।

उसके बाद दादूजी महाराज नराणा (जिला जयपुर) पधारे और उन्होंने इस नगर को साधना, विश्राम तथा धाम के लिए चुना और यहाँ एक खेजड़े के वृक्ष के नीचे विराजमान होकर लम्बे समय तक तपस्या की और आज भी खेजड़ा जी के वृक्ष के दर्शन मात्र से तीनों प्रकार के ताप नष्ट होते हैं। यहीं पर उन्होंने ब्रह्मधाम "दादू द्वारा" की स्थापना की जिसके दर्शन मात्र से आज भी सभी मनोकामनाए पूर्ण होती हैं। तत्पश्चात श्री दादूजी ने सभी संत शिष्यों को अपने ब्रह्मलीन होने का समय बताया।

ब्रह्मलीन होने के लिए निर्धारित दिन (जेयष्ट कृष्ण अष्टमी सम्वत 1660) के शुभ समय में श्री दादूजी ने एकांत में ध्यानमग्न होते हुए "सत्यराम" शब्द का उच्चारण कर इस संसार से ब्रहम्लोक को प्रस्थान किया। श्री दादू दयाल जी महाराज के द्वारा स्थापित "दादू पंथ" व "दादू पीठ" आज भी मानव मात्र की सेवा में निर्विघ्न लीन है। वर्तमान में दादूधाम के पीठाधीश्वर के रूप में आचार्य महंत श्री गोपालदास जी महाराज विराजमान हैं।

वर्तमान में भी प्रतिवर्ष फाल्गुन शुक्ल अष्टमी पर नरेना धाम में भव्य मेले का आयोजन होता है तथा इस अवसर पर एक माह के लिए भारत सरकार के आदेश अनुसार वहां से गुजरने वाली प्रत्येक रेलगाड़ी का नराणा स्टेशन पर ठहराव रहता है।

उनके उपदेशों को उनके शिष्य रज्जब जी ने "दादू अनुभव वाणी" के रूप में समाहित किया, जिसमे लगभग 5000 दोहे शामिल हैं। संतप्रवर श्री दादू दयालजी महाराज को निर्गुण संतो जैसे की कबीर व गुरु नानक के समकक्ष माना जाता है तथा उनके उपदेश व दोहे आज भी समाज को सही राह दिखाते आ रहे हैं।

दादूपन्थ

दादूदयाल का उद्देश्य पंथ स्थापना नहीं था, परन्तु वे इतना अवश्य चाहते थे की विभिन्न सम्प्रदायों के बीच सहिष्णुता व समन्वय की भावना पैदा करने वाली बातों का निरूपण किया जाए और सभी के लिए एक उत्कृष्ट

जीवन-पद्धति का निर्माण किया जाए। इस तरह व्यक्तिगत व सामुहिक कल्याण की भावना के परिणामस्वरुप 'दादूपंथ' का उदय हुआ। सुंदरदास ने गुरु सम्प्रदाय नामक अपने ग्रन्थ में इसे 'परब्रह्म सम्प्रदाय' कहा है। परशुराम चतुर्वेदी इस सम्प्रदाय का स्थापना काल 1573 ई. में सांभर में मानते हैं। परब्रह्म सम्प्रदाय का पूर्व नाम ब्रह्म सम्प्रदाय भी है, लेकिन सर्वाधिक लोकप्रिय नाम दादूपंथ ही है।

दादू के अनुसार उनका पंथ तो ऐसा है, जिसमें द्वैत भावना तनिक भी विद्यमान नहीं है। सभी सम्प्रदायों के लिए इस पंथ में आदर की भाावना है।

दादू के गुरु

दादू ने अपनी वाणी में गुरु की महिमा का गान तो बहुत किया है, लेकिन उनका कहीं नाम नहीं लिया है, जिनके ज्ञान के प्रभाव से दादू का व्यक्तित्त्व लौकिक बाधा-बंधनों को काट सका। दादू ने अपनी रचनाओं में गुरु की महिमा का विस्तार से बखान किया है। अत: यह जानना भी हमारे लिए आवश्यक है कि इनके गुरु कौन थे। लेकिन इस तथ्य की प्रमाणिक जानकारी अनुपलब्ध है। जन गोपाल की 'श्री दादू जन्म लीला परची' के अनुसार ग्यारह वर्ष की अवस्था में भगवान ने एक बुद्ध के रूप में दर्शन देकर इनसे एक पैसा माँगा। फिर इनसे प्रसन्न होकर इनके सिर पर हाथ रखा और इनके सारे शरीर का स्पर्श करते हुए इनके मुख में 'सरस पान' भी दिया। दादू पंथियों के अनुसार बुड्ढन नामक एक अज्ञात संत इनके गुरु थे। जन गोपाल के अनुसार बचपन के ग्यारह वर्ष बीत जाने के बाद, इन्हें बुड्ढे के रूप में गुरु के दर्शन हुए।

वे साक्षर थे या नहीं, इसके बारे में अब भी संदेह बना हुआ है। इनके गुरु, जो अब तक अज्ञात हैं, यदि वे थोड़े बहुत साक्षर रहे भी हों तो भी इतना निश्चित है कि इन्होंने धर्म और दर्शन का अध्ययन नहीं किया था। उनकी रचनाओं का वस्तुगत विश्लेषण इसकी पुष्टि नहीं करता कि उन्होंने धर्म का शास्त्रीय अध्ययन किया था। अन्य निर्गुण संतों की तरह इन्हें भी सत्संग से धर्म-आध्यात्म का ज्ञान मिला था। उन्होंने लिखा है–

हरि केवल एक अधारा, सो तारण तिरण हमारा॥
ना मैं पंडित पढ़ि गुनि जानौ, ना कुछ ग्यान विचारा॥
ना मैं आगम जोंतिग जांनौ, ना मुझ रूप सिंगारा॥

यहाँ पढ़-लिखकर पंडित होने का तात्पर्य शास्त्रीय विद्या से लिया जा सकता है। मध्य युग में यह सुविधा सिर्फ सवर्णों को मिली हुई थी। यहाँ एक

तरफ तो उन तथाकथित सवर्णों की स्थिति पर व्यंग्य किया गया है। दूसरी तरफ शास्त्रीय ज्ञान के अभाव की कसक को भी संप्रेषित किया गया है। धर्म-शास्त्रों के शास्त्रज्ञों ने निश्चय ही उनके ज्ञान को चुनौती दी थी और दादू जैसे शांत स्वभाव के संत ने इस कमी को स्वीकार कर लिया–

आगम मो पै जाण्यौ न जाइ, इहै विमासनि जियड़े माहि॥

यह भी एक सर्वस्वीकृत तथ्य है कि अपनी रचनाओं का संग्रह स्वयं दादू दयाल ने नहीं बल्कि उनके शिष्यों ने किया था। इससे भी यह संदेह पुष्ट होता है कि शायद दादू साक्षर नहीं थे। भक्तिकाल के इन निर्गुण संतों की बड़ी विशेषता यह भी थी कि इनमें से अधिकांश संत गृहस्थ थे। वे सांसारिक मोह-माया को त्यागने का उपदेश देते थे। लेकिन संसार के त्याग का नहीं। इसका तात्पर्य यह है कि संसार में रहते हुए भी संसार से ऊपर उठा जाए। संसार का बहिष्कार करने वाले तो कायर होते हैं। उन्हें मुक्ति कैसे मिल सकती है। सांभर से ही दादू दयाल की भक्ति-साधना आरम्भ होती है। यहीं से उन्होंने उपदेश देने शुरू किए थे और यहीं पर उन्होंने 'पर ब्रह्म सम्प्रदाय' की स्थापना की थी। जो दादू की मृत्यु के बाद 'दादू पंथ' कहा जाने लगा। दादू ने अपनी रचनाओं में अपने परिवार और पारिवारिक स्थिति का जिक्र किया है। उन्होंने लिखा है–

दादू रोजी राम है, राजिक रिजक हमार।
दादू उस परसाद सौं, पोष्या सब परिवार॥
दादू साहिब मेरे कपड़े, साहिब मेरा पाण।
साहिब सिर का नाज है, साहिब प्यंड परांण॥
सांई सत संतोष दे, भाव भगति बेसास।
सिदक सबूरी साच दे, माँगै दादू दास॥

ऐसा लगता है कि किसी जिज्ञासु व्यक्ति ने दादू से सीधा सवाल पूछा था कि आपका खाना-पीना कैसे चलता है। आप अपने परिवार का भरण-पोषण कैसे करते हैं अर्थात् आपकी आय के साधन क्या हैं। यहाँ तो चारों तरफ अभाव ही अभाव दिखाई दे रहा है। इस जिज्ञासा को शांत करने के लिए दादू ने कहा कि राम ही मेरा रोजगार है, वही मेरी सम्पत्ति है, उसी राम के प्रसाद से परिवार का पोषण हो रहा है। इन पंक्तियों से यह अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है कि यहाँ पर ऐश्वर्य का बोलबाला नहीं, गरीबी का साम्राज्य है। यह बात यहाँ रेखांकित करने के लायक है कि दादू को अपनी गरीबी से कोई शिकायत नहीं है। इसे सहज जीवन स्थिति मानकर उन्होंने स्वीकार कर लिया है। गरीबी की पीड़ा का

बोध और उससे उत्पन्न आक्रोश दादू की रचनाओं में कहीं भी नहीं मिलता। यहाँ कवि राम पर निर्भर है, क्योंकि लौकिक स्थिति अनिश्चित है जिसे ईश्वर ने माँ के गर्भ में बच्चे के लिए नौ महीने तक भोजन पहुँचा दिया है और जिसने जठराग्नि के बीच उसकी कोमल काया को बचाए रखा है, वह राम न कभी इतना निर्दयी हो सकता है और न इतना अशक्त ही कि वह व्यक्ति को इस संसार में भूख से मार डाले। अत: मनुष्य को खाने-पीने की अभाव की हाय-तौबा नहीं मचानी चाहिये। दादू के अनुसार अपने व्यक्तिगत जीवन की चिन्ता मनुष्य को नहीं करनी चाहिये, स्वयं राम अपने आप मनुष्य की चिनता करता है और करेगा। दादू ने एक साखी में कहा है–

दादू हूंणा था सो होइ रह् या, और न होवै आइ।
लेणा था सो ले रह् या, और न लीया जाइ॥

दादू की इन पंक्तियों में सामाजिक जीवन भी व्यक्त हो गया है। इससे तत्कालीन राज्य व्यवस्था में जनता की अशक्ति प्रकट होती है। वह मानते हैं कि अपनी चिन्ता स्वयं करने से समस्या का समाधान नहीं हो सकता। इसका फल हानिकारक है। अत: दादू कहते हैं कि आदमी को अनुत्पादक चिन्ता नहीं करनी चाहिये। उस युग के भक्तों और संतों ने यह अनुभवपरक निष्कर्ष निकाला था कि आदमी को अपने भोजन-पानी की चिन्ता नहीं करनी चाहिये। वह तो मिल ही जायेगा। इससे अधिक सम्पत्ति संचित करने की इच्छा मनुष्य को निरन्तर कष्ट देती है। वह सम्पत्ति संचय तो नहीं कर पाता, उल्टे अपने भोजन से ही हाथ धो बैठता है। अत: संतोष धारण करके आदमी को राम का नाम लेते रहना चाहिये। अपने समय के समाज का सर्वेक्षण करते हुए दादू ने कहा है–

दादू सब जग नीधना, धनवंता नहीं कोई।
सो धनवंता जाणिय, जाकै राम पदारथ होई॥

इसी सामाजिक स्थिति को ध्यान में रखते हुए संत कवि मूलकदास ने कहा था कि अजगर किसी कि चाकरी नहीं करता और पक्षी कोई भी काम नहीं करते। फिर भी उनको आहार तो मिलता ही है। सब जीवों के दाता राम हैं। अत: मनुष्य को खाने-पीने के लिए अपनी आत्मा को गिरवी नहीं रखना चाहिये।

निर्गुण संत

दादू दयाल ने अपने पूर्ववर्ती निर्गुण संतों का नाम बड़े आदर और सम्मान के साथ लिया है। विशेष रूप से उन्होंने नामदेव, कबीर और रैदास के प्रति

अगाध श्रद्धा प्रकट की है। कबीर तो दादू के आदर्श थे। उन्होंने एक पद में लिखा–

अंमृत रांम रसाइण पीया, ताथैं अमर कबीरा कीया॥
रांम रांम कहि रांम समांनां, जन रैदास मिले भगवाना॥

अर्थात् कबीर ने राम रस का पान किया था, इससे वह अमर हो गये। जन रैदास राम का नाम लेकर राम के समान हो गये। उनके पदों और साखियों का प्रभाव दादू-वाणी पर स्पष्ट देखा जा सकता है। कई साखियाँ तो थोड़ी बहुत हेर-फेर के बाद कबीर और दादू दोनों के नाम से प्रचलित हैं। कबीर की रचनाओं पर भी पूर्ववर्ति नाथों और सिद्धों की रचनाओं का बहुत गहरा असर पड़ा है। अतः इनके साहित्य को देखकर यह निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि इनका कौन-सा पद मौलिक है और कौन-सा नहीं।

दादू के शिष्य

दादू के जीवन काल में ही उनके अनेक शिष्य बन चुके थे। उन्हें एक सूत्र में बाँधने के विचार से एक पृथक् सम्प्रदाय की स्थापना होनी चाहिये, यह विचार स्वयं दादू के मन में आ गया था। और इसलिए उन्होंने सांभर में 'पर ब्रह्म सम्प्रदाय' की स्थापना कर दी थी। दादू की मृत्यु के बाद उनके शिष्यों ने इस सम्प्रदाय को 'दादू पंथ' कहना शुरू कर दिया। आरम्भ में इनके कुल एक सौ बावन शिष्य माने जाते रहे। इनमें से एक सौ शिष्य (बीतरागी) थे और भगवत भजन में ही लगे रहे। बावन शिष्यों ने एकांत भगवत-चिन्तन के साथ लोक में ज्ञान के प्रचार-प्रसार का संगठनात्मक कार्य करना भी आवश्यक समझा। इन बावन शिष्यों के थांभे प्रचलित हुए। इनके थांभे अब भी अधिकतर राजस्थान, पंजाब व हरियाणा में हैं। इस क्षेत्र में अनेक स्थानो पर दादू-द्वारों की स्थापना की गई थी। उनके शिष्यों में गरीबदास, बधना, रज्जब, सुन्दरदास, जनगोपाल आदि प्रसिद्ध हुए। इनमें से अधिकतर संतों ने अपनी मौलिक रचनाएँ भी प्रस्तुत की थीं।

आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने लिखा है–

दादू दयाल जी के देहान्त हो जाने के लगभग सौ वर्षों के अन्दर दादू पंथ के अनुयायियों की विचारधारा, वेष भूषा, रहन-सहन तथा उपासना प्रणाली में क्रमशः न्यूनाधिक परिवर्तन आरम्भ हो गया और यह बात प्रधान केन्द्र तक में दीख पड़ने लगी। नराणा के महन्तों का जैतराम जी (सं. 1750-1789) से अविवाहित रहना आवश्यक हो गया, दादू वाणी को उच्च स्थान पर पधारकर

उसका पूजन आरम्भ हो गया। विधिवत आरती एवं भजनों का गान होने लगा, स्वर्गीय सदगुरु के प्रति परमात्मवाद भाव प्रदर्शित किया जाने लगा तथा साम्प्रदायिकता के भाव में उत्तरोत्तर वृद्धि होती चली गयी। जब तक दादू दयाल जी के रज्जब जी, सुन्दरदास जी, बनवारीदास जी जैसे शिष्य जीवित रहे उनकी मूल बातों की ओर लोगों का ध्यान अधिक अकृष्ट रहा। किन्तु इनके भी मर जाने पर जब पृथक-पृथक् थांभों की प्रतिष्ठा हो चली और उक्त विचार धारा का दूर-दूर तक प्रचार हो चला तो, कुछ स्थानीय विशेषताओं के कारण और कुछ व्यक्तिगत मतभेदों के भी आ जाने से, उपसम्प्रदायों तक की सृष्टि आरम्भ हो गयी। दादू मत का मौलिक सार्वभौमरूप क्रमशः तिरोहित-सा होता चला गया और उसकी जगह एक न्यूनाधिक 'हिन्दू धर्म प्रभावित पंथ' निर्मित हो गया।

दादू दयाल के विरोधी

दादू दयाल के जहाँ इतने शिष्य और समर्थक थे, वहाँ उनके विरोधी और निंदक भी कम नहीं थे। दादू दयाल अपने निंदकों को जानते थे। इसलिए एक पद में उन पर हल्का-सा व्यंग्य किया है। उसमें दादू ने कहा है कि निंदक तो मुझे भाई के समान प्रिय हैं, जो करोड़ों कर्मों के बंधन को काटता है। जो स्वयं भवसागर में डूबकर भी दूसरे को बचा लेता है। वह उनको युगों तक जीवित रहने का आशीर्वाद भी देते हैं–

न्यंदक वावा बीर हमारा, बिन ही कौड़े वहे विचारा॥
करम कोटि के कुसमल काटै, काज सवारे बिनही साटे॥
आपण बूड़ै और कौं तारै, ऐसा प्रीतम पार उतारे॥
जुगि जुगि जीवे निंदक मोरा, रामदेव तुम करौं निहोरा॥
न्यंदक बपुरा पर उपगारी, नादू न्यंद्या करें हमारी॥

दूसरी ओर दादू ने अपने शिष्यों को उपदेश दिया है कि वे परनिंदा न किया करें, क्योंकि निंदा तो वह व्यक्ति करता है, जिनके हृदय में राम का निवास नहीं है। दादू को बड़ा आश्चर्य होता है कि लोग कैसे निस्संकोच रूप से दूसरे की निंदा कर देते हैं।

न्यंदत सब लोग विचारा, हमकौं भावे राम पियारा॥
नरसंसै न्रिदोष रहताजे, तासनि कहत गये रे ये॥
निरवैरी निहकामी साध, तासिरि देत बहुत अपराध॥
लोहा कंचन एक समान, तासनि कहैं करत अभिमान॥

न्यंदा स्तुति एक करि तौले, तासौं कहैं अपवाद हि बोलें॥
दादू निंदा ताकौं भावैं, जाकै हिरदे राम न आवैं॥

दादू की रचनाओं का वस्तुगत अध्ययन करने से पता चलता है कि उनमें वाद-विवाद की प्रवृत्ति कम थी। उन्होंने खण्डन कम और मण्डन अधिक किया है। इससे लगता है कि उनका विरोध या तो उनकी अनुपस्थिति में होता था, जिसकी जानकारी उन्हें बाद में मिलती थी या वह स्वयं इतने शान्त स्वभाव के थे कि किसी विवाद में उलझे ही नहीं। निंदा-स्तुति को उन्होंने समभाव से ग्रहण कर लिया था। जो भी हो, उन्होंने अपने विरोधियों से बहस कम की है और समर्थकों को सलाह ज्यादा दी है।

प्रमुख उपसम्प्रदाय

कालान्तर में दादू पंथ के पाँच प्रमुख उपसम्प्रदाय निर्मित हुए–

- खालसा,
- विरक्त तपस्वी,
- उतराधें या स्थानधारी,
- खाकी,
- नागा।

इनके मानने वाले अलग-अलग स्थानों पर मिलते हैं। इनमें आपस में थोड़ी बहुत मत भिन्नता भी पायी जाती है। लेकिन सब उपसम्प्रदायों में दादू के महत्त्व को स्वीकार किया जाता है। संत दादू दयाल के विभिन्न स्मारकों का उल्लेख करते हुए आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने लिखा है–

संत दादू दयाल के स्मारक रूप विशिष्ट स्थानों में सर्वप्रथम स्थान करडाला व कल्याणपुर प्रसिद्ध है। जहाँ उन्होंने पहली बार काफी समय तक साधना की थी। इस बात का परिचय दिलाने के लिए वहाँ उनकी एक 'भजन शिला, वर्तमान है। वहाँ पर पहाड़ी के नीचे की ओर एक दादू द्वारा भी बना दिया गया है जिसे, उसी कारण महत्त्व दिया जाता है। करडाला के अतिरिक्त सांभर में भी दादू जी की एक छतरी बनी हुई है। जो उनके रहने की पुरानी कुटिया का प्रतिनिधित्व करती है और पीछे वहाँ पर एक विशाल मन्दिर भी बना दिया गया है। सांभर के अनन्तर अधिक समय तक उनके निवास करने का स्थान आमेर समझा जाता है, जहाँ पर एक सुन्दर दादू द्वारा निर्मित है। परन्तु इन सभी से अधिक महत्त्व नराणे को दिया जाता है, जहाँ पर अभी तक वह खेजड़े का वृक्ष

भी दिखलाया जाता है, जहाँ पर वे बैठा करते थे। उसी के समीप एक 'भजनशाला' है, तथा एक विशाल मन्दिर भी बना हुआ है। यहाँ का दादू द्वारा सर्वप्रथम माना जाता है। दादू जी का शव, जहाँ उनका देहान्त हो जाने पर, डाल दिया गया था, वह भराणे का स्थान भी उनके अन्तिम स्मारक के रूप में वर्तमान है। वहाँ पर भी एक चबूतरा बना दिया गया है और पूरा स्थान 'दादू खोल' के नाम से भी अभिहित किया जाता है। कहते हैं कि यहीं कहीं पर उनके कुछ बाल, तूँबा, चोला तथा खड़ाऊँ भी अभी तक सुरक्षित है। कल्याणपुर, सांभर, आमेर, नराणा व भैराणा 'पंचतीर्थ' भी माने जाते हैं।

उनके स्मारक के रूप में दो मेले भी लगा करते हैं। इनमें से एक नराणे में प्रति वर्ष फागुन सुदी पाँच से लेकर एकादशी तक लगा करता है। जिनमें प्रायः सभी स्थानों के दादू पंथी इकट्ठे होते हैं। दूसरा मेला भैराणे में फागुन कृष्ण तीन से फागुन सुदी तीन तक चलता रहता है।

दादू की रचनाएँ

- साखी,
- पद्य,
- हरडेवानी,
- अंगवधू।

दादू ने कई साखी और पद्य लिखे है। दादू की रचनाओं का संग्रह उनके दो शिष्यों संतदास और जगनदास ने 'हरडेवानी' नाम से किया था। कालांतर में रज्जब ने इसका सम्पादन 'अंगवधू' नाम से किया। दादू की कविता जन सामान्य को ध्यान में रखकर लिखी गई है, अतएव सरल एवं सहज है। दादू भी कबीर की तरह अनुभव को ही प्रमाण मानते थे। दादू की रचनाओं में भगवान के प्रति प्रेम और व्याकुलता का भाव है। कबीर की तरह उन्होंने भी निर्गुण निराकार भगवान को वैयक्तिक भावनाओं का विषय बनाया है। उनकी रचनाओं में इस्लामी साधना के शब्दों का बहुत प्रयोग हुआ है। उनकी भाषा पश्चिमी राजस्थानी से प्रभावित हिन्दी है। इसमें अरबी-फारसी के काफी शब्द आए हैं, फिर भी वह सहज और सुगम है।

अंगवधू

दादू दयाल की वाणी अंगवधू सटीक आचार्य चन्द्रिका प्रसाद त्रिपाठी द्वारा सम्पादित है, जो अजमेर से प्रकाशित हुई है। यह कई हस्तलिपियों के अनुकरण

के आधार पर सम्पादित की गई है। इसी क्रम में रज्जब ने इनकी वाणी को क्रमबद्ध तथा अलग-अलग भागों में विभाजित करके अंगवधू के नाम से इनकी वाणियों का संकलन किया। अंगवधू में हरडे वाणी की सभी त्रुटियों को दूर करने का प्रयास परिलक्षित होता है। अंगवधू को 37 भागों में विभाजित करने का प्रयास है। इसी के आधार पर ही अलग-अलग विद्वानों ने दादू वाणी को अपने-अपने ढंग से सम्पादित किया है। 59 दादू वाणी को कई लोगों ने सम्पादित किया है। जिनमें चन्द्रिका प्रसाद, बाबू बालेश्वरी प्रसाद, स्वामी नारायण दास, स्वामी जीवानंद, भारत भिक्षु आदि प्रमुख हैं। सन् 1907 में सुधाकर द्विवेदी ने काशी नागरी प्रचारिणी सभा से इनकी रचनाओं को दादू दयाल की बानी के नाम से प्रकाशित करवाया। इन्होंने इसको दो भागों में विभाजित किया है। पहले खण्ड में दोहे तथा दूसरे में पद है, जिन्हें राग-रागिनियों के सन्दर्भो में वर्गीकृत किया है।

मृत्यु

दादू दयाल की मृत्यु जेठ वदी अष्टमी शनिवार संवत् 1660 (सन् 1603 ई.) को हुई। जन्म स्थान के सम्बन्ध में मतभेद की गुंजाइश हो सकती है। लेकिन यह तय है कि इनकी मृत्यु अजमेर के निकट नराणा नामक गाँव में हुई। वहाँ 'दादू-द्वारा' बना हुआ है। इनके जन्म-दिन और मृत्यु के दिन वहाँ पर हर साल मेला लगता है। नराणा उनकी साधना भूमि भी रही है और समाधि भूमि भी। इस स्थान का पारम्परिक महत्त्व आज भी ज्यों-का-त्यों बना हुआ है। दादू पंथी संतों के लिए यह स्थान तीर्थ के समान है। चूँकि इनके जन्म-स्थान के बारे में विशेष जानकारी नहीं मिलती, अतः दादू-पंथी लोग भी किसी स्थान विशेष की पूजा नहीं करते। अन्त में, ये नराणा (राजस्थान) में रहने लगे, जहाँ उन्होंने अपनी इहलीला समाप्त की। दादू की इच्छानुसार उनके शरीर को भैराना की पहाड़ी पर स्थित एक गुफा में रखा गया, जहाँ इन्हें समाधि दी गयी। इसी पहाड़ी को अब 'दादू खोल' कहा जाता है। जहाँ उनकी स्मृति में अब भी मेला लगा करता है।

23

गोस्वामी तुलसीदास

गोस्वामी तुलसीदास (1511–1623) हिन्दी साहित्य के महान सन्त कवि थे। रामचरितमानस इनका गौरव ग्रन्थ है। इन्हें आदि काव्य रामायण के रचयिता महर्षि वाल्मीकि का अवतार भी माना जाता है।

श्रीरामचरितमानस का कथानक रामायण से लिया गया है। रामचरितमानस लोक ग्रन्थ है और इसे उत्तर भारत में बड़े भक्तिभाव से पढ़ा जाता है। इसके बाद विनय पत्रिका उनका एक अन्य महत्त्वपूर्ण काव्य है। महाकाव्य श्रीरामचरितमानस को विश्व के 100 सर्वश्रेष्ठ लोकप्रिय काव्यों में 46वाँ स्थान दिया गया। तुलसीदास जी रामानंदी के बैरागी साधु थे।

जीवन परिचय

तुलसीदासजी का जन्म संवत 1589 को उत्तर प्रदेश (वर्तमान बाँदा जिला) के राजापुर नामक ग्राम में हुआ था। इनके पिता का नाम आत्माराम दुबे तथा माता का नाम हुलसी था। इनका विवाह दीनबंधु पाठक की पुत्री रत्नावली से हुआ था। अपनी पत्नी रत्नावली से अत्याधिक प्रेम के कारण तुलसी को रत्नावली की फटकार 'लाज न आई आपको दौरे आएहु नाथ' सुननी पड़ी जिससे इनका जीवन ही परिवर्तित हो गया। पत्नी के उपदेश से तुलसी के मन में वैराग्य उत्पन्न हो गया। इनके गुरु बाबा नरहरिदास थे, जिन्होंने इन्हें दीक्षा दी। इनका अधिकाँश जीवन चित्रकूट, काशी तथा अयोध्या में बीता।

तुलसीदास

तुलसी का बचपन बड़े कष्टों में बीता। माता-पिता दोनों चल बसे और इन्हें भीख मांगकर अपना पेट पालना पड़ा था। इसी बीच इनका परिचय राम-भक्त साधुओं से हुआ और इन्हें ज्ञानार्जन का अनुपम अवसर मिल गया। पत्नी के व्यंग्यबाणों से विरक्त होने की लोकप्रचलित कथा को कोई प्रमाण नहीं मिलता। तुलसी भ्रमण करते रहे और इस प्रकार समाज की तत्कालीन स्थिति से इनका सीधा संपर्क हुआ। इसी दीर्घकालीन अनुभव और अध्ययन का परिणाम तुलसी की अमूल्य कृतियां हैं, जो उस समय के भारतीय समाज के लिए तो उन्नायक सिद्ध हुई ही, आज भी जीवन को मर्यादित करने के लिए उतनी ही उपयोगी हैं। तुलसीदास द्वारा रचित ग्रंथों की संख्या 39 बताई जाती है। इनमें रामचरित मानस, कवितावली, विनयपत्रिका, दोहावली, गीतावली, जानकीमंगल, हनुमान चालीसा, बरवै रामायण आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

शिष्य परम्परा

गोस्वामीजी श्रीसम्प्रदाय के आचार्य रामानन्द की शिष्यपरम्परा में थे। इन्होंने समय को देखते हुए लोकभाषा में 'रामायण' लिखा। इसमें ब्याज से वर्णाश्रमधर्म, अवतारवाद, साकार उपासना, सगुणवाद, गो-ब्राह्मण रक्षा, देवादि विविध योनियों का यथोचित सम्मान एवं प्राचीन संस्कृति और वेदमार्ग का मण्डन और साथ ही उस समय के विधर्मी अत्याचारों और सामाजिक दोषों की एवं पन्थवाद की आलोचना की गयी है। गोस्वामीजी पन्थ व सम्प्रदाय चलाने के विरोधी थे। उन्होंने व्याज से भ्रातृप्रेम, स्वराज्य के सिद्धान्त, रामराज्य का आदर्श, अत्याचारों से बचने और शत्रु पर विजयी होने के उपायय सभी राजनीतिक बातें खुले शब्दों में उस कड़ी जासूसी के जमाने में भी बतलायीं, परन्तु उन्हें राज्याश्रय प्राप्त न था। लोगों ने उनको समझा नहीं। रामचरितमानस का राजनीतिक उद्देश्य सिद्ध नहीं हो पाया। इसीलिए उन्होंने झुँझलाकर कहा–

'रामायण अनुहरत सिख, जग भई भारत रीति।
तुलसी काठहि को सुनै, कलि कुचालि पर प्रीति।'

आदर्श सन्त कवि

उनकी यह अद्‌भुत पोथी इतनी लोकप्रिय है कि मूर्ख से लेकर महापण्डित तक के हाथों में आदर से स्थान पाती है। उस समय की सारी शंक्काओं का

रामचरितमानस में उत्तर है। अकेले इस ग्रन्थ को लेकर यदि गोस्वामी तुलसीदास चाहते तो अपना अत्यन्त विशाल और शक्तिशाली सम्प्रदाय चला सकते थे। यह एक सौभाग्य की बात है कि आज यही एक ग्रन्थ है, जो साम्प्रदायिकता की सीमाओं को लाँघकर सारे देश में व्यापक और सभी मत-मतान्तरों को पूर्णतया मान्य है। सबको एक सूत्र में ग्रंथित करने का जो काम पहले शंकराचार्य स्वामी ने किया, वही अपने युग में और उसके पीछे आज भी गोस्वामी तुलसीदास ने किया। रामचरितमानस की कथा का आरम्भ ही उन शंकाओं से होता है, जो कबीरदास की साखी पर पुराने विचार वालों के मन में उठती हैं। तुलसीदासजी स्वामी रामानन्द की शिष्यपरम्परा में थे, जो रामानुजाचार्य के विशिष्टद्वैत सम्प्रदाय के अन्तर्भुक्त है। परन्तु गोस्वामीजी की प्रवृत्ति साम्प्रदायिक न थी। उनके ग्रन्थों में अद्वैत और विशिष्टाद्वैत का सुन्दर समन्वय पाया जाता है। इसी प्रकार वैष्णव, शैव, शाक्त आदि साम्प्रदायिक भावनाओं और पूजापद्धतियों का समन्वय भी उनकी रचनाओं में पाया जाता है। वे आदर्श समुच्चयवादी सन्त कवि थे।

प्रखर बुद्धि के स्वामी

भगवान शंकरजी की प्रेरणा से रामशैल पर रहने वाले श्री अनन्तानन्द जी के प्रिय शिष्य श्रीनरहर्यानन्द जी (नरहरि बाबा) ने इस बालक को ढूँढ़ निकाला और उसका नाम रामबोला रखा। उसे वे अयोध्या ले गये और वहाँ संवत् 1561 माघ शुक्ल पंचमी शुक्रवार को उसका यज्ञोपवीत-संस्कार कराया। बिना सिखाये ही बालक रामबोला ने गायत्री-मन्त्र का उच्चारण किया, जिसे देखकर सब लोग चकित हो गये। इसके बाद नरहरि स्वामी ने वैष्णवों के पाँच संस्कार करके रामबोला को राममन्त्र की दीक्षा दी और अयोध्या ही में रहकर उन्हें विद्याध्ययन कराने लगे। बालक रामबोला की बुद्धि बड़ी प्रखर थी। एक बार गुरुमुख से जो सुन लेते थे, उन्हें वह कंठस्थ हो जाता था। वहाँ से कुछ दिन बाद गुरु-शिष्य दोनों शूकरक्षेत्र (सोरों) पहुँचे। वहाँ श्री नरहरि जी ने तुलसीदास को रामचरित सुनाया। कुछ दिन बाद वह काशी चले आये। काशी में शेषसनातन जी के पास रहकर तुलसीदास ने पन्द्रह वर्ष तक वेद-वेदांग का अध्ययन किया। इधर उनकी लोकवासना कुछ जग्रत् हो उठी और अपने विद्यागुरु से आज्ञा लेकर वे अपनी जन्मभूमि को लौट आये। वहाँ आकर उन्होंने देखा कि उनका परिवार सब नष्ट हो चुका है। उन्होंने विधिपूर्वक अपने पिता आदि का श्राद्ध किया और वहीं रहकर लोगों को भगवान राम की कथा सुनाने लगे।

प्रसिद्धि

इधर पण्डितों ने जब यह बात सुनी तो उनके मन में ईर्ष्या उत्पन्न हुई। वे दल बाँधकर तुलसीदास जी की निन्दा करने लगे और उस पुस्तक को नष्ट कर देने का प्रयत्न करने लगे। उन्होंने पुस्तक चुराने के लिये दो चोर भेजे। चोरों ने जाकर देखा कि तुलसीदास जी की कुटी के आस-पास दो वीर धनुषबाण लिये पहरा दे रहे हैं। वे बड़े ही सुन्दर श्याम और गौर वर्ण के थे। उनके दर्शन से चोरों की बुद्धि शुद्ध हो गयी। उन्होंने उसी समय से चोरी करना छोड़ दिया और भजन में लग गये। तुलसीदास जी ने अपने लिये भगवान को कष्ट हुआ जान कुटी का सारा समान लुटा दिया, पुस्तक अपने मित्र टोडरमल के यहाँ रख दी। इसके बाद उन्होंने एक दूसरी प्रति लिखी। उसी के आधार पर दूसरी प्रतिलिपियाँ तैयार की जाने लगीं। पुस्तक का प्रचार दिनों दिन बढ़ने लगा। इधर पण्डितों ने और कोई उपाय न देख श्रीमधुसूदन सरस्वती जी को उस पुस्तक को देखने की प्रेरणा की। श्रीमधुसूदन सरस्वती जी ने उसे देखकर बड़ी प्रसन्नता प्रकट की और उस पर यह सम्मति लिख दी-

आनन्दकानने ह्यास्मिंजङ्गमस्तुलसीतरुः।
कवितामञ्जरी भाति रामभ्रमरभूषिता।

भगवान श्री राम जी से भेंट

कुछ काल राजापुर रहने के बाद वे पुनः काशी चले गये और वहाँ की जनता को राम-कथा सुनाने लगे। कथा के दौरान उन्हें एक दिन मनुष्य के वेष में एक प्रेत मिला, जिसने उन्हें हनुमान जी का पता बतलाया। हनुमान जी से मिलकर तुलसीदास ने उनसे श्रीरघुनाथजी का दर्शन कराने की प्रार्थना की। हनुमान जी ने कहा- 'तुम्हें चित्रकूट में रघुनाथजी दर्शन होंगें।' इस पर तुलसीदास जी चित्रकूट की ओर चल पड़े।

चित्रकूट पहुँच कर उन्होंने रामघाट पर अपना आसन जमाया। एक दिन वे प्रदक्षिणा करने निकले ही थे कि यकायक मार्ग में उन्हें श्रीराम के दर्शन हुए। उन्होंने देखा कि दो बड़े ही सुन्दर राजकुमार घोड़ों पर सवार होकर धनुष-बाण लिये जा रहे हैं। तुलसीदास उन्हें देखकर आकर्षित तो हुए, परन्तु उन्हें पहचान न सके। तभी पीछे से हनुमान जी ने आकर जब उन्हें सारा भेद बताया तो वे पश्चाताप करने लगे। इस पर हनुमान जी ने उन्हें सात्वना दी और कहा प्रातःकाल फिर दर्शन होंगे।

संवत् 1607 की मौनी अमावस्या को बुधवार के दिन उनके सामने भगवान श्रीराम। भगवान श्री राम जी पुनः प्रकट हुए। उन्होंने बालक रूप में आकर तुलसीदास से कहा-'बाबा! हमें चन्दन चाहिये क्या आप हमें चन्दन दे सकते हैं?' हनुमान जी ने सोचा, कहीं वे इस बार भी धोखा न खा जायें, इसलिये उन्होंने तोते का रूप धारण करके यह दोहा कहा–

चित्रकूट के घाट पर, भइ सन्तन की भीर।
तुलसिदास चन्दन घिसें, तिलक देत रघुबीर।

तुलसीदास भगवान श्री राम जी की उस अद्‌भुत छवि को निहार कर अपने शरीर की सुध-बुध ही भूल गये। अन्ततोगत्वा भगवान ने स्वयं अपने हाथ से चन्दन लेकर अपने तथा तुलसीदास जी के मस्तक पर लगाया और अन्तर्ध्यान हो गये।

गोस्वामी तुलसीदास की प्रमुख रचनाएँ

तुलसीदास की रचनाएँ हैं–

- गीतावली
- कवितावली
- रामायण
- दोहावली या दोहा रामायण
- चौपाई रामायण
- सतसई
- पंचरत्न
- जानकी मंगल
- पार्वती मंगल
- वैराग्य संदीपनी
- रामलला नहछू
- श्री रामाज्ञा
- संकटमोचन
- विनय-पत्रिका
- हनुमानबाहुक
- कृष्णावली

वैराग्य संदीपनी–वैराग्य संदीपनी संवत् 1626–27 (1569–70 ई.) के लगभग की रचना है। इसमें वैराग्य के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है।

रामाज्ञाप्रश्न–इसका अनुमानित रचनाकाल संवत् 1627–28 (1570–71 ई.) है। इसकी भाषा ब्रजभाषा है। इसकी रचना शकुन विचारने के लिए की गई थी। 'रामाज्ञाप्रश्न' में सात सर्गों में राम की कथा कही गई है। इसमें सीता निर्वासन का प्रसंग शामिल किया गया है जिसे 'रामचरितमानस' में छोड़ दिया गया है।

रामलला नहछू–इस कृति का अनुमानित रचनाकाल संवत् 1628–29 (1571–72 ई.) है। 'रामलला नहछू' सोहर शैली में लिखी गई 20 चतुष्पदियों की छोटी-सी रचना है जिसमें मांगलिक अवसर पर नख काटने के रिवाज को व्यक्त किया गया है।

जानकी मंगल–इसका अनुमानित रचनाकाल संवत् 1629–30 (1572–73 ई.) है। अवधी भाषा में लिखी गई 'जानकी मंगल' में राम एवं सीता के विवाह को चित्रित किया गया है।

रामचरितमानस–'रामचरितमानस' संपूर्ण हिंदी वाङ्मय की सर्वश्रेष्ठ कृत्तियों में से एक है। अवधी भाषा में लिखी गई इस प्रबंधात्मक कृति के रचनाकाल का जिक्र तुलसीदास ने स्वयं कर दिया है। तुलसीदास ने इसके लेखन का प्रारंभ संवत् 1631 (1574 ई.) में किया। इसके लेखन का कार्य दो वर्ष, सात महीने तथा छब्बीस दिन में पूरा हुआ। 'रामचरितमानस' में सात कांडों-बालकांड, अयोध्याकांड, अरण्यकांड, किष्किंधाकांड, सुंदरकांड, लंकाकांड तथा उत्तरकांड-में राम की कथा कही गई है।

पार्वती मंगल–यह कृति संवत् 1643 (1586 ई.) में लिखी गई। इसकी भाषा अवधी है तथा इसमें पार्वती एवं शिव के विवाह की कथा कही गई है।

गीतावली–'गीतावली' का रचनाकाल संवत् 1630 से 1670 (1573 ई. से 1613 ई.) के बीच है। इसे 'पदावली रामायण' के रूप में भी जाना जाता है।

कृष्णगीतावली–इसका रचनाकाल संवत् 1643 से 1660 (1586 ई. से 1603 ई.) के बीच है। इसमें कृष्ण के जीवन संबंधी गीतों को संगृहीत किया गया है।

दोहावली–इसमें संगृहीत दोहे तुलसीदास की अन्य रचनाओं से भी लिए गए हैं। इस ग्रंथ के दो दोहे 'वैराग्य संदीपनी' से लिए गए हैं, 35 दोहे 'रामाज्ञाप्रश्न' से तथा 85 दोहे 'रामचरितमानस' से। इस ग्रंथ में कुल 573 दोहे हैं।

बरवैरामायण–बरवैरामायण' की जो प्रतियाँ पाई गई हैं उसमें पाठ-भेद ज्यादा है और एकरूपता नहीं है। इस रचना में बरवै छंद में राम की कथा कही गई है। कथा सात कांड में विभाजित है, पर यह 69 बरवै छंद में लिखे गए मुक्तकों का संकलन है। पुस्तक का रचनाकाल संवत् 1630 से 1680 (1573 से 1623 ई.) के बीच है।

विनय-पत्रिका– इस कृति को बहुधा 'रामगीतावली' के नाम से भी जाना जाता है। इसका रचनाकाल संवत् 1631 से 1679 (1574 से 1622 ई.) के बीच है। 'विनय-पत्रिका' मुक्तकों का संग्रह है, इन मुक्तकों के माध्यम से तुलसीदास ने अपना आत्मनिवेदन प्रभु श्रीराम को अर्पित किया है।

कवितावली–'कवितावली' भी लंबी अवधि की रचना है। इसका रचनाकाल संवत् 1631 से 1680 (1574 ई. से 1623 ई.) के बीच है। इसके कुछ संस्करणों में 'हनुमानबाहुक' भी शामिल है, हालाँकि गीताप्रेस से प्रकाशित 'कवितावली' में 'हनुमानबाहुक' शामिल नहीं है। यह मुक्त कों का संग्रह है। इसकी भाषा ब्रजभाषा है तथा यह सात कांडों में विभाजित है।

रामचरितमानस की रचना

संवत् 1631 का प्रारम्भ हुआ। दैवयोग से उस वर्ष रामनवमी के दिन वैसा ही योग आया जैसा त्रेतायुग में राम-जन्म के दिन था। उस दिन प्रातःकाल तुलसीदास जी ने श्रीरामचरितमानस की रचना प्रारम्भ की। दो वर्ष, सात महीने और छब्बीस दिन में यह अद्‌भुत ग्रन्थ सम्पन्न हुआ। संवत् 1633 के मार्गशीर्ष शुक्लपक्ष में राम-विवाह के दिन सातों काण्ड पूर्ण हो गये।

इसके बाद भगवान की आज्ञा से तुलसीदास जी काशी चले आये। वहाँ उन्होंने भगवान विश्वनाथ और माता अन्नपूर्णा को श्रीरामचरितमानस सुनाया। रात को पुस्तक विश्वनाथ-मन्दिर में रख दी गयी। प्रातःकाल जब मन्दिर के पट खोले गये तो पुस्तक पर लिखा हुआ पाया गया-सत्यं शिवं सुन्दरम् जिसके नीचे भगवान शंकर की सही (पुष्टि) थी। उस समय वहाँ उपस्थित लोगों ने 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' की आवाज भी कानों से सुनी।

इधर काशी के पण्डितों को जब यह बात पता चली तो उनके मन में ईर्ष्या उत्पन्न हुई। वे दल बनाकर तुलसीदास जी की निन्दा और उस पुस्तक को नष्ट करने का प्रयत्न करने लगे। उन्होंने पुस्तक चुराने के लिये दो चोर भी भेजे। चोरों

ने जाकर देखा कि तुलसीदास जी की कुटी के आस-पास दो युवक धनुषबाण लिये पहरा दे रहे हैं। दोनों युवक बड़े ही सुन्दर क्रमशः श्याम और गौर वर्ण के थे। उनके दर्शन करते ही चोरों की बुद्धि शुद्ध हो गयी। उन्होंने उसी समय से चोरी करना छोड़ दिया और भगवान के भजन में लग गये। तुलसीदास जी ने अपने लिये भगवान को कष्ट हुआ जान कुटी का सारा समान लुटा दिया और पुस्तक अपने मित्र टोडरमल (अकबर के नौरत्नों में एक) के यहाँ रखवा दी। इसके बाद उन्होंने अपनी विलक्षण स्मरण शक्ति से एक दूसरी प्रति लिखी। उसी के आधार पर दूसरी प्रतिलिपियाँ तैयार की गयीं और पुस्तक का प्रचार दिनों-दिन बढ़ने लगा।

इधर काशी के पण्डितों ने और कोई उपाय न देख श्री मधुसूदन सरस्वती नाम के महापण्डित को उस पुस्तक को देखकर अपनी सम्मति देने की प्रार्थना की। मधुसूदन सरस्वती जी ने उसे देखकर बड़ी प्रसन्नता प्रकट की और उस पर अपनी ओर से यह टिप्पणी लिख दी-

आनन्दकानने ह्यास्मिंजंगमस्तुलसीतः।
कवितामंजरी भाति रामभ्रमरभूषिता।

इसका हिन्दी में अर्थ इस प्रकार है-'काशी के आनन्द-वन में तुलसीदास साक्षात तुलसी का पौधा है। उसकी काव्य-मंजरी बड़ी ही मनोहर है, जिस पर श्रीराम रूपी भँवरा सदा मँडराता रहता है।'

पण्डितों को उनकी इस टिप्पणी पर भी संतोष नहीं हुआ। तब पुस्तक की परीक्षा का एक अन्य उपाय सोचा गया। काशी के विश्वनाथ-मन्दिर में भगवान विश्वनाथ के सामने सबसे ऊपर वेद, उनके नीचे शास्त्र, शास्त्रों के नीचे पुराण और सबके नीचे रामचरितमानस रख दिया गया। प्रातःकाल जब मन्दिर खोला गया तो लोगों ने देखा कि श्रीरामचरितमानस वेदों के ऊपर रखा हुआ है। अब तो सभी पण्डित बड़े लज्जित हुए। उन्होंने तुलसीदास जी से क्षमा माँगी और भक्ति-भाव से उनका चरणोदक लिया।

गोस्वामी तुलसीदास की भाषा

तुलसी की भाषा अवधि और ब्रज थी। तुलसीदास की कव्य भाषा में उचित शब्द प्रयोग, कथ्य के अनुकूल वाक्य-विन्यास, शब्दों का उपर्युक्त चयन, अर्थ को अधिक प्रेषणीय बनाने के लिये लोकोक्तियों और मुहावरों का समुचित प्रयोग, नाद सौन्दर्य और चित्रात्मकता तुलसी की भाषा की प्रमुख विशेषताएँ हैं।

उनकी सम्पूर्ण रचनाओं में से श्रीकृष्ण गीतावली, कवितावली, विनय पत्रिका, दोहावली, गीतावली तथा वैराग्य संदीवनी ग्रंथ ब्रज भाषा में लिखे गये हैं तथा रामचरितमानस, रामलला नहछू, बरवै रामायण, पार्वती मंगल, जानकी मंगल ओर रामाज्ञा प्रश्न अवधी केशृंगार हैं। तुलसी की इन दोनों भाषाओं के शब्द भण्डार का प्रयोग किया है– संस्कृत शब्दावली, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश शब्दावली, विदेशी, शब्दावली, तत्कालीन प्रांतीय शब्दावली और हिन्दी की अन्य बोलियों की शब्दावली।

गोस्वामी तुलसीदास का भावपक्ष

तुलसी जी के भक्ति भावना सीधी सरल एवं साध्य है। सभी रचनाओं में भावों की विविधता तुलसी की सबसे बड़ी विशेषता है। वे सभी रसों के प्रयोग में सिद्धहस्त थे। अवधी व ब्रजभाषा पर उनका समान अधिकार था।

गोस्वामी तुलसीदास का कलापक्ष

तुलसी दास जी ने अपने युग में प्रचलित सभी काव्य शैलियों का सफलता पूर्वक प्रयोग किया है। जैसे-दोहा, चौपाई, कविता सवैया, छप्पय आदि। अलंकार उनके काव्य में सुन्दर व स्वाभाविक रूप से प्रयुक्त हुए हैं। राम चरित मानस अवधी भाषा का सर्वोत्तम ग्रन्थ है।

गोस्वामी तुलसीदास का साहित्य में स्थान

तुलसीदास जी हिन्दी साहित्य के सर्वश्रेष्ठ कवि थे। हिन्दी साहित्य उनकी काव्य प्रतिभा के अक्षय प्रकाश से सदैव प्रकाशित रहेगा।

गोस्वामी तुलसीदास का केन्द्रीय भाव

संत शिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास ने अपने दोहो के माध्यम से मानव समाज को नीति की राह में चलने का उपदेश दिया है। जीवन को सफल बनाने के क्या तरीके हो सकते हैं? मीठे बचन बोलने से क्या लाभ होता है तथा काम, क्रोध, लोभ और मोह के वशीभूत व्यक्ति को क्या नुकसान होता है आदि उपदेशात्मक नीति वचनों के माध्यम से समाज के विकास में उन्होंने अपूर्व सहयोग प्रदान किया है।

मृत्यु

तुलसीदास जी जब काशी के विख्यात् घाट असीघाट पर रहने लगे तो एक रात कलियुग मूर्त रूप धारण कर उनके पास आया और उन्हें पीड़ा पहुँचाने लगा। तुलसीदास जी ने उसी समय हनुमान जी का ध्यान किया। हनुमान जी ने साक्षात् प्रकट होकर उन्हें प्रार्थना के पद रचने को कहा, इसके पश्चात् उन्होंने अपनी अन्तिम कृति विनय-पत्रिका लिखी और उसे भगवान के चरणों में समर्पित कर दिया। श्रीराम जी ने उस पर स्वयं अपने हस्ताक्षर कर दिये और तुलसीदास जी को निर्भय कर दिया।

संवत् 1680 में श्रावण कृष्ण तृतीया शनिवार को तुलसीदास जी ने 'राम-राम' कहते हुए अपना शरीर परित्याग किया।

24

बाबा बुल्ले शाह

बाबा बुल्ले शाह पंजाबी सूफी काव्य के आसमान पर एक चमकते सितारे की तरह थे। उनकी काव्य रचना उस समय की हर किस्म की धार्मिक कट्टरता और गिरते सामाजिक किरदार पर एक तीखा व्यंग्य है। बाबा बुल्ले शाह ने बहुत बहादुरी के साथ अपने समय के हाकिमों के जुल्मों और धार्मिक कट्टरता विरुद्ध आवाज उठाई। बाबा बुल्ले शाह जी की कविताओं में काफियां, दोहड़े, बारांमाह, अठवारा, गंढां और सीहरफियां शामिल हैं। उनका मूल नाम अब्दुल्ला शाह था। आगे चलकर उनका नाम बुल्ला शाह या बुल्ले शाह हो गया। प्यार से लोग उन्हें साईं बुल्ले शाह या बाबा बुल्ला भी कहते हैं। वह इस्लाम के अंतिम नबी मुहम्मद की पुत्री फातिमा के वंशजों में से थे।

परिचय

बुल्ले शाह का जन्म 1680 ई. गिलानियाँ उच्च, वर्तमान पाकिस्तान में हुआ था। उनके जीवन से सम्बन्धित विद्वानों में मतभेद हैं। बुल्ले शाह के माता-पिता पुश्तैनी रूप से वर्तमान पाकिस्तान में स्थित बहावलपुर राज्य के 'गिलानियाँ उच्च' नामक गाँव से थे, जहाँ से वे किसी कारण से मलकवाल गाँव (जिला मुलतान) गए। मालकवल में पंडोक नामक गाँव के मालिक अपने गाँव की मस्जिद के लिये मौलवी ढूँढते आए। इस कार्य के लिये उन्होंने बुल्ले शाह के पिता शाह मुहम्मद दरवेश को चुना और बुल्ले शाह के माता-पिता पाँडोके (वर्तमान नाम

पाँडोके भट्टीयाँ) चले गए। कुछ इतिहासकारों का मानना है कि बुल्ले शाह का जन्म पाँडोके में हुआ था और कुछ का मानना है कि उनका जन्म उच्च गिलानियाँ में हुआ था और उन्होंने अपने जीवन के पहले छह महीने वहीं बिताए थे। बुल्ले शाह के दादा सैय्यद अब्दुर रज्जाक थे और वे सैय्यद जलाल-उद-दीन बुखघरी के वंशज थे। सैय्यद जलाल-उद-दीन बुखघरी बुल्ले शाह के जन्म से तीन सौ साल पहले सुर्ख बुखारा नामक जगह से आकर मुलतान में बसे थे। बुल्ले शाह हजरत मुहम्मद साहिब की पुत्री फातिमा के वंशजों में से थे। उनके पिता शाह मुहम्मद थे जिन्हें अरबी, फारसी और कुरआन शरीफ का अच्छा ज्ञान था। उनके पिता के नेक जीवन का प्रभाव बुल्ले शाह पर भी पड़ा। उनकी उच्च शिक्षा कसूर में ही हुई। उनके उस्ताद हजरत खख्वाजा गुलाम मुर्तजा सरीखे ख्यातनामा थे। पंजाबी कवि वारिस शाह ने भी खख्वाजा गुलाम मुर्तजा से ही शिक्षा ली थी। अरबी, फारसी के विद्वान् होने के साथ-साथ आपने इस्लामी और सूफी धर्म ग्रंथो का भी गहरा अध्ययन किया।

धार्मिक प्रवत्ति

बुल्ले शाह धार्मिक प्रवत्ति के थे। उन्होंने सूफी धर्म ग्रंथों का भी गहरा अध्ययन किया था। साधना से बुल्ले ने इतनी ताकत हासिल कर ली कि अधपके फलों को पेड़ से बिना छुए गिरा दे। पर बुल्ले को तलाश थी इक ऐसे मुरशद की जो उसे खुदा से मिला दे। उस दिन शाह इनायत अराईं (छोटी मुसलिम जात) के बाग के पास से गुजरते हुए, बुल्ले की नजर उन पर पड़ी। उसे लगा शायद मुरशद की तलाश पूरी हुई। मुरशद को आजमाने के लिए बुल्ले ने अपनी गैबी ताकत से आम गिरा दिए। शाह इनायत ने कहा, नौजवान तुमने चोरी की है। बुल्ले ने चतुराई दिखाई, ना छुआ ना पत्थर मारा कैसी चोरी? शाह इनायत ने इनायत भरी नजरों से देखा, हर सवाल लाजवाब हो गया। बुल्ला पैरों पर नतमस्तक हो गया। झोली फैला खैर मांगी मुरशद मुझे खुदा से मिला दे। मुरशद ने कहा, मुश्किल नहीं है, बस खुद को भुला दे। फिर क्या था बुल्ला मुरशद का मुरीद हो गया। लेकिन अभी इम्तिहान बाकी थे। पहला इम्तिहान तो घर से ही शुरू हुआ। सैय्यदों का बेटा अराईं का मुरीद हो, तो तथाकथित समाज में मौलाना की इज्जत खाक में मिल जाएगी। पर बुल्ला कहां जाति को जानता है। कहां पहनचानता है समाज के मजहबों वाले मुखौटे। परीवारीजनों द्वारा उन्हें समझाने का बहुत यत्न किया परन्तु बुल्ले शाह जी अपने निर्णय से टस से मस न हुए। परिवारीजनों के

साथ हुई तकरार का जिक्र उन्होंने अपनी कविताओं में भी किया है। उनकी बहनें-भाभीयां जब समझाती हैं–

बुल्ले नू समझावण आइयां भैणां ते भरजाइयां
बुल्ले तूं की लीकां लाइयां छड्ड दे पल्ला अराइयां

तो बुल्ला गाता है–

अलफ अल्हा नाल रत्ता दिल मेरा,
मैंनू 'बे' दी खबर न काई
'बे' पड़देयां मैंनू समझ न आवे,
लज्जत अलफ दी आई
ऐन ते गैन नू समझ न जाणां
गल्ल अलफ समझाई
बुल्लेया कौल अलफ दे पूरे
जेहड़े दिल दी करन सफाई

अर्थ- जिसकी अल्फ यानि उस एक की समझ लग गई उसे आगे पढने की जरुरत ही नहीं। अल्फ उर्दू का पहला अक्षर है बुल्ले ने कहा है, जिसने अल्फ से दिल लगा लिया, फिर उसे बाकी अक्षर ऐन-गेन नहीं भाते।

दंत कथाएं

जैसे सभी धार्मिक लोगों के साथ दंत-कथाएँ जुड़ जाती हैं, वैसे ही बुल्ले शाह जी के साथ भी कई ऐसी कथाएं जुड़ी हुई हैं। इन कथाओं का वैज्ञानिक आधार चाहे कुछ भी न हो परन्तु जन-मानस में उनका विशेष स्थान अवश्य रहता है।

बुल्ले शाह और उनके गुरु

1. बुल्ले शाह व उनके गुरु के सम्बन्धों को लेकर बहुत-सी बातें प्रचलित हैं, बुल्ले शाह जब गुरु की तलाश में थे, वह इनायत जी के पास बगीचे में पहुँचे, वे अपने कार्य में व्यस्त थे, जिसके कारण उन्हें बुल्ले शाह जी के आने का पता न लगा, बुल्ले शाह ने अपने आध्यात्मिक अभ्यास की शक्ति से परमात्मा का नाम लेकर आमों की ओर देखा तो पेड़ों से आम गिरने लगे, गुरु जी ने पूछा, 'क्या यह आम अपने तोड़े हैं?' बुल्ले शाह ने कहा "न तो मैं पेड़ पर चढ़ा और न ही पत्थर फैंके, भला मैं कैसे आम तोड़ सकता हूँ," बुल्ले शाह को

गुरु जी ने ऊपर से नीचे तक देखा और कहा, 'अरे तू चोर भी है और चतुर भी,' बुल्ला गुरु जी के चरणों में पड़ गया, बुल्ले ने अपना नाम बताया और कहा मैं रब को पाना चाहता हूँ। साईं जी उस समय पनीरी क्यारी से उखाड़ कर खेत में लगा रहे थे। उन्होंने कहा, 'बुल्लिहआ रब दा की पौणा। एधरों पुटणा ते ओधर लाउणा' इन सीधे-सादे शब्दों में गुरु ने रूहानियत का सार समझा दिया कि मन को संसार की तरफ से हटाकर परमात्मा की ओर मोड़ देने से रब मिल जाता है। बुल्ले शाह ने यह प्रथम दीक्षा गांठ बांध ली।

2. कहते हैं कि एक बार बुल्ले शाह जी की इच्छा हुई कि मदीना शरीफ की जियारत को जाएँ। उन्होंने अपनी इच्छा गुरु जी को बताई। इनायत शाह जी ने वहाँ जाने का कारण पूछा। बुल्ले शाह ने कहा कि 'वहाँ हजरत मुहम्मद का रोजा शरीफ है और स्वयं रसूल अल्ला ने फरमाया है कि जिसने मेरी कब्र की जियारत की, गोया उसने मुझे जीवित देख लिया।' गुरु जी ने कहा कि इसका जवाब मैं तीन दिन बाद दूँगा। बुल्ले शाह ने अपने मदीने की रवानगी स्थगित कर दी। तीसरे दिन बुल्ले शाह ने सपने में हजरत रसूल के दर्शन किए। रसूल अल्ला ने बुल्ले शाह से कहा, 'तेरा मुरशद कहाँ है? उसे बुला लाओ।' रसूल ने इनायत शाह को अपनी दाई ओर बिठा लिया। बुल्ला नजर झुकाकर खड़ा रहा। जब नजर उठी तो बुल्ले को लगा कि रसूल और मुरशद की सूरत बिल्कुल एक जैसी है। वह पहचान ही नहीं पाया कि दोनों में से रसूल कौन है और मुरशद कौन है।

साहित्यिक देन

बुल्ले शाह जी ने पंजाबी मुहावरे में अपने आपको अभिव्यक्त किया। जबकि अन्य हिन्दी और सधुक्कड़ी भाषा में अपना संदेश देते थे। पंजाबी सूफियों ने न केवल ठेठ पंजाबी भाषा की छवि को बनाए रखा बल्कि उन्होंने पंजाबियत व लोक संस्कृति को सुरक्षित रखा। बुल्ले शाह ने अपने विचारों व भावों को काफियों के रूप में व्यक्त किया है। काफी भक्तों के पदों से मिलता जुलता काव्य रूप है। काफिया भक्तों के भावों को गेय रूप में प्रस्तुत करती हैं इसलिए इनमे बहुत-से रागों की बंदिश मिलती है। जन साधारण भी सूफी दरवेशों के तकियों पर जमा होते थे और मिल कर भक्ति में विभोर होकर काफियां गाते थे।

काफियों की भाषा बहुत सादी व आम लोगों के समझने योग्य हैं। बुल्ले शाह लोक दिल पर इस तरह राज कर रहे थे कि उन्होंने बुल्ले शाह की रचनाओं को अपना ही समझ लिया। वह बुल्ले शाह की काफियों को इस तरह गाते थे जैसे वह स्वयं ही इसके रचयिता हों। इनकी काफियों में अरबी, फारसी के शब्द और इस्लामी धर्म ग्रंथो के मुहावरे भी मिलते हैं। लेकिन कुल मिलाकर उसमे स्थानीय भाषा, मुहावरे और सदाचार का रंग ही प्रधान है।

निधन

विद्वानों के द्वारा बुल्ले शाह का निधन 1758 ई. में माना जाता हैं परंतु कुछ विद्वान् इनकी मृत्यु 1759 ई. को भी मानते हैं।

25

सतगुरु रविदास

सतगुरु रविदास जी भारत के उन विशेष महापुरुषों में से एक हैं जिन्होंने अपने आध्यात्मिक वचनों से सारे संसार को एकता, भाईचारा पर जोर दिया। रविदास जी की अनूप महिमा को देख कई राजा और रानियाँ इनकी शरण में आकर भक्ति मार्ग से जुड़े। जीवन भर समाज में फैली कुरीति जैसे जात-पात के अंत (अन्त) के लिए काम किया।

रविदास जी के सेवक इनको 'सतगुरु', 'जगतगुरु' आदि नामों से सत्कार करते हैं। रविदास जी की दया दृष्टि से करोड़ों लोगों का उद्धार किया जैसे: मीरा बाई आदि।

जीवन

गुरू रविदास (रैदास) का जन्म काशी में माघ पूर्णिमा दिन रविवार को संवत 1433 को हुआ था। उनके जन्म के बारे में एक दोहा प्रचलित है।

चौदह से तैंतीस कि माघ सुदी पन्दरास।
दुखियों के कल्याण हित प्रगटे श्री रविदास।

उनके पिता रग्घु तथा माता का नाम घुरविनिया था। उनकी पत्नी का नाम लोना बताया जाता है। रैदास ने साधु-सन्तों की संगति से पर्याप्त व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त किया था। वे जूते बनाने का काम किया करते थे और ये उनका व्यवसाय था और अपना काम पूरी लगन तथा परिश्रम से करते थे और समय से काम को

पूरा करने पर बहुत ध्यान देते थे। संत रामानन्द के शिष्य बनकर उन्होंने आध्यात्मिक ज्ञान अर्जित किया। संत रविदास जी ने स्वामी रामानंद जी को कबीर साहेब जी के कहने पर गुरु बनाया था, जबकि उनके वास्तविक आध्यात्मिक गुरु कबीर साहेब जी ही थे। उनकी समयानुपालन की प्रवृति तथा मधुर व्यवहार के कारण उनके सम्पर्क में आने वाले लोग भी बहुत प्रसन्न रहते थे। प्रारम्भ से ही रविदास जी बहुत परोपकारी तथा दयालु थे और दूसरों की सहायता करना उनका स्वभाव बन गया था। साधु-सन्तों की सहायता करने में उनको विशेष आनन्द मिलता था। वे उन्हें प्राय: मूल्य लिये बिना जूते भेंट कर दिया करते थे। उनके स्वभाव के कारण उनके माता-पिता उनसे अप्रसन्न रहते थे। कुछ समय बाद उन्होंने रविदास तथा उनकी पत्नी को अपने घर से भगा दिया। रविदास पड़ोस में ही अपने लिए एक अलग इमारत बनाकर तत्परता से अपने व्यवसाय का काम करते थे और शेष समय ईश्वर-भजन तथा साधु-सन्तों के सत्संग में व्यतीत करते थे।

स्वभाव

उनके जीवन की छोटी-छोटी घटनाओं से समय तथा वचन के पालन सम्बन्धी उनके गुणों का पता चलता है। एक बार एक पर्व के अवसर पर पड़ोस के लोग गंगा-स्नान के लिए जा रहे थे। रैदास के शिष्यों में से एक ने उनसे भी चलने का आग्रह किया तो वे बोले, गंगा-स्नान के लिए मैं अवश्य चलता किन्तु। गंगा स्नान के लिए जाने पर मन यहाँ लगा रहेगा तो पुण्य कैसे प्राप्त होगा ? मन जो काम करने के लिए अन्त:करण से तैयार हो वही काम करना उचित है। मन सही है तो इसे कठौते के जल में ही गंगास्नान का पुण्य प्राप्त हो सकता है। कहा जाता है कि इस प्रकार के व्यवहार के बाद से ही कहावत प्रचलित हो गयी कि-मन चंगा तो कठौती में गंगा।

रैदास ने ऊँच-नीच की भावना तथा ईश्वर-भक्ति के नाम पर किये जाने वाले विवाद को सारहीन तथा निरर्थक बताया और सबको परस्पर मिलजुल कर प्रेमपूर्वक रहने का उपदेश दिया।

वे स्वयं मधुर तथा भक्तिपूर्ण भजनों की रचना करते थे और उन्हें भाव-विभोर होकर सुनाते थे। उनका विश्वास था कि राम, कृष्ण, करीम, राघव आदि सब एक ही परमेश्वर के विविध नाम हैं। वेद, कुरान, पुराण आदि ग्रन्थों में एक ही परमेश्वर का गुणगान किया गया है।

कृस्न, करीम, राम, हरि, राघव, जब लग एक न पेखा। वेद कतेब कुरान, पुरानन, सहज एक नहिं देखा।।

चारो वेद के करे खंडौती। जन रैदास करे दंडौती।।

उनका विश्वास था कि ईश्वर की भक्ति के लिए सदाचार, परहित-भावना तथा सद्व्यवहार का पालन करना अत्यावश्यक है। अभिमान त्याग कर दूसरों के साथ व्यवहार करने और विनम्रता तथा शिष्टता के गुणों का विकास करने पर उन्होंने बहुत बल दिया। अपने एक भजन में उन्होंने कहा है–

कह रैदास तेरी भगति दूरि है, भाग बड़े सो पावै। तजि अभिमान मेटि आपा पर, पिपिलक हवै चुनि खावै।

उनके विचारों का आशय यही है कि ईश्वर की भक्ति बड़े भाग्य से प्राप्त होती है। अभिमान शून्य रहकर काम करने वाला व्यक्ति जीवन में सफल रहता है जैसे कि विशालकाय हाथी शक्कर के कणों को चुनने में असमर्थ रहता है जबकि लघु शरीर की पिपीलिका (चींटी) इन कणों को सरलतापूर्वक चुन लेती है। इसी प्रकार अभिमान तथा बड़प्पन का भाव त्याग कर विनम्रतापूर्वक आचरण करने वाला मनुष्य ही ईश्वर का भक्त हो सकता है।

रैदास की वाणी भक्ति की सच्ची भावना, समाज के व्यापक हित की कामना तथा मानव प्रेम से ओत-प्रोत होती थी। इसलिए उसका श्रोताओं के मन पर गहरा प्रभाव पड़ता था। उनके भजनों तथा उपदेशों से लोगों को ऐसी शिक्षा मिलती थी जिससे उनकी शंकाओं का सन्तोषजनक समाधान हो जाता था और लोग स्वतः उनके अनुयायी बन जाते थे।

उनकी वाणी का इतना व्यापक प्रभाव पड़ा कि समाज के सभी वर्गों के लोग उनके प्रति श्रद्धालु बन गये। कहा जाता है कि मीराबाई उनकी भक्ति-भावना से बहुत प्रभावित हुई और उनकी शिष्या बन गयी थीं।

वर्णाश्रम अभिमान तजि, पद रज बंदहिजासु की। सन्देह-ग्रन्थि खण्डन-निपन, बानि विमुल रैदास की।।

आज भी सन्त रैदास के उपदेश समाज के कल्याण तथा उत्थान के लिए अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं। उन्होंने अपने आचरण तथा व्यवहार से यह प्रमाणित कर दिया है कि मनुष्य अपने जन्म तथा व्यवसाय के आधार पर महान नहीं होता है। विचारों की श्रेष्ठता, समाज के हित की भावना से प्रेरित कार्य तथा सद्व्यवहार

जैसे गुण ही मनुष्य को महान बनाने में सहायक होते हैं। इन्हीं गुणों के कारण सन्त रैदास को अपने समय के समाज में अत्यधिक सम्मान मिला और इसी कारण आज भी लोग इन्हें श्रद्धापूर्वक स्मरण करते हैं।

रैदास के 40 पद गुरु ग्रन्थ साहब में मिलते हैं जिसका सम्पादन गुरु अर्जुन सिंह देव ने 16 वीं सदी में किया था।

समाज पर प्रभाव

रैदास की वाणी, भक्ति की सच्ची भावना, समाज के व्यापक हित की कामना तथा मानव प्रेम से ओत-प्रोत होती थी। इसलिए उनकी शिक्षाओं का श्रोताओं के मन पर गहरा प्रभाव पड़ता था। उनके भजनों तथा उपदेशों से लोगों को ऐसी शिक्षा मिलती थी जिससे उनकी शंकाओं का सन्तोषजनक समाधान हो जाता था और लोग स्वत: उनके अनुयायी बन जाते थे। उनकी वाणी का इतना व्यापक प्रभाव पड़ा कि समाज के सभी वर्गों के लोग उनके प्रति श्रद्धालु बन गये। कहा जाता है कि मीराबाई उनकी भक्ति-भावना से बहुत प्रभावित हुई और उनकी शिष्या बन गयी थीं।

'वर्णाश्र अभिमान तजि, पद रज बंदहिजासु की।
सन्देह-ग्रन्थि खण्डन-निपन, बानि विमुल रैदास की॥'

रचनाएँ

रैदास अनपढ़ कहे जाते हैं। संत-मत के विभिन्न संग्रहों में उनकी रचनाएँ संकलित मिलती हैं। राजस्थान में हस्तलिखित ग्रंथों में रूप में भी उनकी रचनाएँ मिलती हैं। रैदास की रचनाओं का एक संग्रह 'बेलवेडियर प्रेस', प्रयाग से प्रकाशित हो चुका है। इसके अतिरिक्त इनके बहुत से पद 'गुरु ग्रंथ साहिब' में भी संकलित मिलते हैं। यद्यपि दोनों प्रकार के पदों की भाषा में बहुत अंतर है तथापि प्राचीनता के कारण 'गुरु ग्रंथ साहब' में संग्रहीत पदों को प्रमाणिक मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। रैदास के कुछ पदों पर अरबी और फारसी का प्रभाव भी परिलक्षित होता है। रैदास के अनपढ़ और विदेशी भाषाओं से अनभिज्ञ होने के कारण ऐसे पदों की प्रामाणिकता में सन्देह होने लगता है। अत: रैदास के पदों पर अरबी-फारसी के प्रभाव का अधिक संभाव्य कारण उनका लोकप्रचलित होना ही प्रतीत होता है।

महत्त्व

आज भी सन्त रैदास के उपदेश समाज के कल्याण तथा उत्थान के लिए अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं। उन्होंने अपने आचरण तथा व्यवहार से यह प्रमाणित कर दिया है कि मनुष्य अपने जन्म तथा व्यवसाय के आधार पर महान् नहीं होता है। विचारों की श्रेष्ठता, समाज के हित की भावना से प्रेरित कार्य तथा सदव्यवहार जैसे गुण ही मनुष्य को महान् बनाने में सहायक होते हैं। इन्हीं गुणों के कारण सन्त रैदास को अपने समय के समाज में अत्याधिक सम्मान मिला और इसी कारण आज भी लोग इन्हें श्रद्धापूर्वक स्मरण करते हैं। संत कवि रैदास उन महान् सन्तों में अग्रणी थे, जिन्होंने अपनी रचनाओं के माध्यम से समाज में व्याप्त बुराइयों को दूर करने में महत्त्वपूर्ण योगदान किया। इनकी रचनाओं की विशेषता लोक-वाणी का अद्‌भुत प्रयोग रही हैं जिससे जनमानस पर इनका अमिट प्रभाव पड़ता है।

मधुर एवं सहज संत रैदास की वाणी ज्ञानाश्रयी होते हुए भी ज्ञानाश्रयी एवं प्रेमाश्रयी शाखाओं के मध्य सेतु की तरह है। गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी रैदास उच्च-कोटि के विरक्त संत थे। उन्होंने ज्ञान-भक्ति का ऊंचा पद प्राप्त किया था। उन्होंने समता और सदाचार पर बहुत बल दिया। वे खंडन-मंडन में विश्वास नहीं करते थे। सत्य को शुद्ध रूप में प्रस्तुत करना ही उनका ध्येय था। रैदास का प्रभाव आज भी भारत में दूर-दूर तक फैला हुआ है। इस मत के अनुयायी रैदासी या रविदासी कहलाते हैं।

रैदास की विचारधारा और सिद्धांतों को संत-मत की परम्परा के अनुरूप ही पाते हैं। उनका सत्यपूर्ण ज्ञान में विश्वास था। उन्होंने भक्ति के लिए परम वैराग्य अनिवार्य माना जाता है। परम तत्त्व सत्य है, जो अनिवर्चनीय है–'यह परमतत्त्व एकरस है तथा जड़ और चेतन में समान रूप से अनुस्यूत है। वह अक्षर और अविनश्वर है और जीवात्मा के रूप में प्रत्येक जीव में अवस्थित है। संत रैदास की साधनापद्धति का क्रमिक विवेचन नहीं मिलता है। जहाँ-तहाँ प्रसंगवश संकेतों के रूप में वह प्राप्त होती है।' विवेचकों ने रैदास की साधना में 'अष्टांग' योग आदि को खोज निकाला है। संत रैदास अपने समय के प्रसिद्ध महात्मा थे। कबीर ने संतनि में रविदास संत' कहकर उनका महत्त्व स्वीकार किया इसके अतिरिक्त नाभादास, प्रियादास, मीराबाई आदि ने रैदास का ससम्मान स्मरण किया है। संत रैदास ने एक पंथ भी चलाया, जो रैदासी पंथ के नाम से प्रसिद्ध है। इस मत के अनुयायी पंजाब, गुजरात, उत्तर प्रदेश आदि में मिलते हैं।

26

नामदेव

नामदेव भारत के प्रसिद्ध संत थे। इनके समय में नाथ और महानुभाव पंथों का महाराष्ट्र में प्रचार था।

भक्त नामदेव महाराज का जन्म 26 अकटुबर 1270 (शके 1192) में महाराष्ट्र के सतारा जिले में कृष्णा नदी के किनारे बसे नरसीबामणी नामक गाँव में एक शिंपी जिसे छीपा भी कहते हैं के परिवार में हुआ था। इनके पिता का नाम दामाशेट और माता का नाम गोणाई देवी था। इनका परिवार भगवान विट्ठल का परम भक्त था। नामदेव का विवाह राधाबाई के साथ हुआ था और इनके पुत्र का नाम नारायण था।

संत नामदेव ने विसोबा खेचर को गुरु के रूप में स्वीकार किया था। ये संत ज्ञानेश्वर के समकालीन थे और उम्र में उनसे 5 साल बड़े थे। संत नामदेव, संत ज्ञानेश्वर के साथ पूरे महाराष्ट्र का भ्रमण किए, भक्ति-गीत रचे और जनता जनार्दन को समता और प्रभु-भक्ति का पाठ पढ़ाया। संत ज्ञानेश्वर के परलोकगमन के बाद इन्होंने पूरे भारत का भ्रमण किया। इन्होंने मराठी के साथ-ही-साथ हिन्दी में भी रचनाएँ लिखीं। इन्होंने अठारह वर्षो तक पंजाब में भगवन्नाम का प्रचार किया। अभी भी इनकी कुछ रचनाएँ सिक्खों की धार्मिक पुस्तकों में मिलती हैं। मुखबानी नामक पुस्तक में इनकी रचनाएँ संग्रहित हैं। आज भी इनके रचित गीत पूरे महाराष्ट्र में भक्ति और प्रेम के साथ गाए जाते हैं। ये संवत 1407 में समाधि में लीन हो गए।

सन्त नामदेव के समय में नाथ और महानुभाव पंथों का महाराष्ट्र में प्रचार था। नाथ पंथ 'अलख निरंजन' की योगपरक साधना का समर्थक तथा बाह्याडंबरों का विरोधी था और महानुभाव पंथ वैदिक कर्मकांड तथा बहुदेवोपासना का विरोधी होते हुए भी मूर्तिपूजा को सर्वथा निषिद्ध नहीं मानता था। इनके अतिरिक्त महाराष्ट्र में पंढरपुर के 'विठोबा' की उपासना भी प्रचलित थी। सामान्य जनता प्रतिवर्ष आषाढ़ी और कार्तिकी एकादशी को उनके दर्शनों के लिए पंढरपुर की 'वारी' (यात्रा) किया करती थी (यह प्रथा आज भी प्रचलित है), इस प्रकार की वारी (यात्रा) करनेवाले 'वारकरी' कहलाते हैं। विट्ठलोपासना का यह 'पंथ' 'वारकरी' संप्रदाय कहलाता है। नामदेव इसी संप्रदाय के प्रमुख संत माने जाते हैं।

नामदेव का कालनिर्णय

वारकरी संत नामदेव के समय के संबंध में विद्वानों में मतभेद है। मतभेद का कारण यह है कि महाराष्ट्र में नामदेव नामक पाँच संत हो गए हैं और उन सबने थोड़ी बहुत 'अभंग' और पदरचना की है। आवटे की 'सकल संतगाथा' में नामदेव के नाम पर 2500 अभंग मिलते हैं। लगभग 600 अभंगों में केवल नामदेव या 'नामा' की छाप है और शेष में 'विष्णुदासनामा' की।

कुछ विद्वानों के मत से दोनों 'नामा' एक ही हैं। विष्णु (विठोबा) के दास होने से नामदेव ने ही संभवत: अपने को विष्णुदास 'नामा' कहना प्रारंभ कर दिया हो। इस संबध में महाराष्ट्र के प्रसिद्ध इतिहासकार वि.का. राजवाड़े का कथन है कि 'नाभा' शिंपी (दर्जी) का काल शके 1192 से 1272 तक है। विष्णुदासनामा का समय शके 1517 है। यह एकनाथ के समकालीन थे। प्रो. रानडे ने भी राजवाड़े के मत का समर्थन किया है। श्री राजवाड़े ने विष्णुदास नामा की 'बावन अक्षरी' प्रकाशित की है जिसमें 'नामदेवराय' की वंदना की गई है। इससे भी सिद्ध होता है कि ये दोनों व्यक्ति भिन्न हैं और भिन्न भिन्न समय में हुए हैं। चांदोरकर ने महानुभावी 'नेमदेव' को भी वारकरी नामदेव के साथ जोड़ दिया है। परंतु डॉ. तुलपुले का कथन है कि यह भिन्न व्यक्ति है और कोली जाति का है। इसका वारकरी नामदेव से कोई संबंध नहीं है। नामदेव के समसामयिक एक विष्णुदास नामा कवि का और पता चला है पर यह महानुभाव संप्रदाय के हैं। इन्होने महाभारत पर ओवीबद्ध ग्रंथ लिखा है। इसका वारकरी नामदेव से कोई संबंध नहीं है।

नामदेव विषयक एक और विवाद है। 'गुरु ग्रन्थ साहिब' में नामदेव के 61 पद संगृहीत हैं। महाराष्ट्र के कुछ विवेचकों की धारणा है कि गुरुग्रंथ साहब के 'नामदेव' पंजाबी हैं, महाराष्ट्रीय नहीं। यह हो सकता है, वह महाराष्ट्रीय वारकरी नामदेव का कोई शिष्य रहा हो और उसने अपने गुरु के नाम पर हिन्दी में पद रचना की हो। परंतु महाराष्ट्रीय वारकरी नामदेव ही के हिंदी पद गुरुग्रंथसाहब में संकलित हैं क्योंकि नामदेव के मराठी अभंगों और गुरुग्रंथसाहब के पदों में जीवन घटनाओं तथा भावों, यहाँ तक कि रूपक और उपमाओं की समानता है। अत: मराठी अभंगकार नामदेव और हिंदी पदकार नामदेव एक ही सिद्ध होते हैं।

महाराष्ट्रीय विद्वान् वारकरी नामदेव को ज्ञानेश्वर का समसामयिक मानते हैं और ज्ञानेश्वर का समय उनके ग्रंथ 'ज्ञानेश्वरी' से प्रमाणित हो जाता है। ज्ञानेश्वरी में उसका रचनाकाल '1212 शके' दिया हुआ है। डॉ. मोहनसिंह दीवाना नामदेव के काल को खींचकर 14वीं और 15वीं शताब्दी तक ले जाते हैं। परंतु उन्होंने अपने मतसमर्थन का कोई अकाट्य प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया। नामदेव की एक प्रसिद्ध रचना 'तीर्थावली' है जिसकी प्रामाणिकता निर्विवाद है। उसमें ज्ञानदेव और नामदेव की सहयात्राओं का वर्णन है। अत: ज्ञानदेव और नामदेव का समकालीन होना अंत:साक्ष्य से भी सिद्ध है। नामदेव ज्ञानेश्वर की समाधि के लगभग 55 वर्ष बाद तक और जीवित रहे। इस प्रकार नामदेव का काल शके 1192 से शके 1272 तक माना जाता है।

जीवनचरित्र

नामदेव का जन्म शके 1192 में प्रथम संवत्सर कार्तिक शुक्ल एकादशी को नरसी ब्राह्मणी नामक ग्राम में दामा शेट शिंपी (छीपा) के यहाँ हुआ था। संत शिरोमणि श्री नामदेव जी ने विसोबा खेचर से दीक्षा ली। जो नामदेव पंढरपुर के 'विट्ठल' की प्रतिमा में ही भगवान को देखते थे, वे खेचर के संपर्क में आने के बाद उसे सर्वत्र अनुभव करने लगे। उसकी प्रेमभक्ति में ज्ञान का समावेश हा गया। डॉ. मोहनसिंह नामदेव को रामानंद का शिष्य बतलाते हैं। परन्तु महाराष्ट्र में इनकी बहुमान्य गुरु परंपरा इस प्रकार है –

ज्ञानेश्वर और नामदेव उत्तर भारत की साथ साथ यात्रा की थी। ज्ञानेश्वर मारवाड़ में कोलदर्जी नामक स्थान तक ही नामदेव के साथ गए। वहाँ से लौटकर उन्होंने आलंदी में शके 1218 में समाधि ले ली। ज्ञानेश्वर के वियोग

से नामदेव का मन महाराष्ट्र से उचट गया और ये पंजाब की ओर चले गए। गुरुदासपुर जिले के घोभान नामक स्थान पर आज भी नामदेव जी का मंदिर विद्यमान है। वहाँ सीमित क्षेत्र में इनका 'पंथ' भी चल रहा है। संतों के जीवन के साथ कतिपय चमत्कारी घटनाएँ जुड़ी रहती है। नामदेव के चरित्र में भी सुल्तान की आज्ञा से इनका मृत गाय को जिलाना, पूर्वाभिमुख आवढ्या नागनाथ मंदिर के सामने कीर्तन करने पर पुजारी के आपत्ति उठाने के उपरांत इनके पश्चिम की ओर जाते ही उसके द्वार का पश्चिमाभिमुख हो जाना, विट्ठल की मूर्ति का इनके हाथ दुग्धपान करना, आदि घटनाएँ समाविष्ट हैं। महाराष्ट्र से लेकर पंजाब तक विट्ठल मंदिर के महाद्वार पर शके 1272 में समाधि ले ली। कुछ विद्वान् इनका समाधिस्थान घोमान मानते हैं, परंतु बहुमत पंढरपुर के ही पक्ष में हैं।

नामदेव के मत

बिसोवा खेचर से दीक्षा लेने के पूर्व तक ये सगुणोपासक थे। पंढरपुर के विट्ठल (विठोबा) की उपासना किया करते थे। दीक्षा के उपरांत इनकी विट्ठलभक्ति सर्वव्यापक हो गई। महाराष्ट्रीय संत परंपरा के अनुसार इनकी निर्गुण भक्ति थी, जिसमें सगुण निर्गुण का काई भेदभाव नहीं था। उन्होंने मराठी में कई सौ अभंग और हिंदी में सौ के लगभग पद रचे हैं। इनके पदों में हठयोग की कुंडलिनी-योग-साधना और प्रेमाभक्ति की (अपने 'राम' से मिलने की) 'तालाबेली' (विह्वलभावना) दोनों हैं। निर्गुणी कबीर के समान नामदेव में भी व्रत, तीर्थ आदि बाह्याडंबर के प्रति उपेक्षा तथा भगवन्नाम एवं सतगुरु के प्रति आदर भाव विद्यमान है। कबीर के पदों में यंत्रतंत्र नामदेव की भावछाया दृष्टिगोचर होती है। कबीर के पूर्व नामदेव ने उत्तर भारत में निर्गुण भक्ति का प्रचार किया, जो निर्विवाद है।

परलोक गमन

नामदेव दो बार तीर्थ यात्रा की व साधु-संतो से भ्रम दूर करते रहे। ज्यों-ज्यों इनकी आयु बढ़ती गई, त्यों-त्यों उनकी यश फैलता गया। इन्होंने दक्षिण में बहुत प्रचार किया। इनके गुरु देव ज्ञानेश्वर जी परलोक गमन कर गए तो ये भी कुछ उपराम रहने लग गए। अन्तिम दिनों में ये पंजाब आ गए। अन्त में अस्सी साल की आयु में 1407 विक्रमी को परलोक गमन कर गए।

साहित्यक देन

नामदेव जी ने जो बाणी उच्चारण की वह गुरुग्रंथ साहिब में भी मिलती है। बहुत सारी वाणी दक्षिण व महाराष्ट्र में गाई जाती है। आपकी वाणी पढ़ने से मन को शांति मिलती है व भक्ति की तरफ मन लगता है।

ठाकुर को दूध पिलाना

एक दिन नामदेव जी के पिता किसी काम से बाहर जा रहे थे। उन्होंने नामदेव जी से कहा कि अब उनके स्थान पर वह ठाकुर की सेवा करेंगे जैसे ठाकुर को स्नान कराना, मन्दिर को स्वच्छ रखना व ठाकुर को दूध चढ़ाना। जैसे सारी मर्यादा मैं पूर्ण करता हूँ वैसे तुम भी करना। देखना लापरवाही या आलस्य मत करना नहीं तो ठाकुर जी नाराज हो जाएँगे।

नामदेव जी ने वैसा ही किया जैसे पिताजी समझाकर गए थे। जब उसने दूध का कटोरा भरकर ठाकुर जी के आगे रखा और हाथ जोड़कर बैठा व देखता रहा कि ठाकुर जी किस तरह दूध पीते हैं? ठाकुर ने दूध कहाँ पीना था? वह तो पत्थर की मूर्ति थे। नामदेव को इस बात का पता नहीं था कि ठाकुर को चम्मच भरकर दूध लगाया जाता व शेष दूध पंडित पी जाते थे। उन्होंने बिनती करनी शुरू की हे प्रभु! मैं तो आपका छोटा-सा सेवक हूँ, दूध लेकर आया हूँ कृपा करके इसे ग्रहण कीजिए। भक्त ने अपनी बेचैनी इस प्रकार प्रगट की -

हे प्रभु! यह दूध मैं कपला गाय से दोह कर लाया हूँ। हे मेरे गोबिंद! यदि आप दूध पी लेंगे तो मेरा मन शांत हो जाएगा नहीं तो पिताजी नाराज होंगे। सोने की कटोरी मैंने आपके आगे रखी है। पीए! अवश्य पीए! मैंने कोई पाप नहीं किया। यदि मेरे पिताजी से प्रतिदिन दूध पीते हो तो मुझसे आप क्यों नहीं ले रहे? हे प्रभु! दया करें। पिताजी मुझे पहले ही बुरा व निकम्मा समझते हैं। यदि आज आपने दूध न पिया तो मेरी खैर नहीं। पिताजी मुझे घर से बाहर निकाल देंगे।

जो कार्य नामदेव के पिता सारी उम्र न कर सके वह कार्य नामदेव ने कर दिया। उस मासूम बच्चे को पंडितों की बईमानी का पता नहीं था। वह ठाकुर जी के आगे मिन्नतें करता रहा। अन्त में प्रभु भक्त की भक्ति पर खिंचे हुए आ गए। पत्थर की मूर्ति द्वारा हँसे। नामदेव ने इसका जिक्र इस प्रकार किया है -

ऐकु भगतु मेरे हिरदे बसै।
नामे देखि नराइनु हसै।

एक भक्त प्रभु के हृदय में बस गया। नामदेव को देखकर प्रभु हँस पड़े। हँस कर उन्होंने दोनों हाथ आगे बढ़ाएं और दूध पी लिया। दूध पीकर मूर्ति फिर वैसी ही हो गई।

दूधु पीआई भगतु घरि गइआ।
नामे हरि का दरसनु भइआ।

दूध पिलाकर नामदेव जी घर चले गए। इस प्रकार प्रभु ने उनको साक्षात् दर्शन दिए। यह नामदेव की भक्ति मार्ग पर प्रथम जीत थी।

शुद्ध हृदय से की हुई प्रर्थना से उनके पास शक्तियाँ आ गई। वह भक्ति भव वाले हो गए और जो वचन मुँह निकलते वही सत्य होते। जब इनके पिताजी को यह ज्ञान हुआ कि नामदेव में जान डाल दी व दूध पिलाया तो वह बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने समझा उनकी कुल सफल हो गई है।

नामदेव जी के कुछ हिन्दी अभंग

हरि नांव हीरा हरि नांव हीरा। हरि नांव लेत मिटै सब पीरा।टेक।
हरि नांव जाती हरि नांव पांती। हरि नांव सकल जीवन मैं क्रांती।1।
हरि नांव सकल सुषन की रासी। हरि नांव काटै जम की पासी।2।
हरि नांव सकल भुवन ततसारा। हरि नांव नामदेव उतरे पारा।3।
रांम नांम षेती रांम नांम बारी। हमारै धन बाबा बनवारी। टेक।
या धन की देषहु अधिकाई। तसकर हरै न लागै काई ।1।
दहदिसि राम रह्या भरपूरि। संतनि नीयरै साकत दूरि ।2।
नामदेव कहै मेरे क्रिसन सोई। कूंत मसाहति करै न कोई ।3।
रांमसो धन ताको कहा अब थोरौ। अठ सिधि नव निधि करत निहोरौ। टेक।
हरिन कसिब बधकरि अधपति देई। इंद्रकौ विभौ प्रहलाद न लेई ।1।
देव दानवं जाहि संपदा करि मानै। गोविंद सेवग ताहि आपदा करि जानै ।2।
अर्थ धरम काम की कहा मोषि मांगै। दास नांमदेव प्रेम भगति अंतरि जो जागै ।3।